UNIVERSAL LIBRARY
OU_182495
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

No. H 81.09 B57H Accession No. P.G.H. 2815

or भटनागर रामरतन

हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ

This book should be returned on or before the date
marked below.

हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि

[हिन्दी कविता के विकास-क्रम का ऐतिहासिक अध्ययन]

लेखक

डा० रामरतन भटनागर एम्० ए०, डी० फ़िल

हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, सागर

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
प्रयाग

प्रथम संस्करण : १९५१

मुद्रक—महादेव प्रसाद
आज़ाद प्रेस,

हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि

निवेदन

काव्य भारतीय साहित्य की सबसे सुन्दर, सबसे प्रौढ़ और कदाचित् सबसे अधिक लोकप्रिय प्रवृत्ति है। ऋग्वेद की उषा-संबंधी ऋचाओं से लेकर आधुनिक युग के गीतों और मुक्तक छन्दों तक में हम एक ही प्रकार की मेधा का चमत्कार देखते हैं। फलतः हम अपने संपूर्ण काव्य-साहित्य की कल्पना एक अविच्छिन्न रसप्रवाह के रूप में कर सकते हैं। उसमें साधना, आनन्द और विचार के जितने स्रोत उन्मुक्त हुए हैं उतने संसार की किसी भाषा के काव्य-साहित्य में नहीं।

हिन्दी का काव्य-साहित्य अपने देश और अपनी संस्कृति की इस महत्तम प्रवृत्ति को अंतिम शृंखला है। पीछे की ओर यह शृंखला अपभ्रंश काव्य से जुड़ी हुई है। अपभ्रंश का काव्य ५०० ई० के लगभग मिलने लगता है, और लगभग १४०० ई० तक उसकी परम्परा चलती है। हिन्दी कविता का प्रारंभिक युग इसी काल के अंतर्गत पड़ता है। प्रारंभिक रचनाओं के लिए यह कहना कठिन हो जाता है कि वह हिन्दी में हैं, या अपभ्रंश में। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी के प्राचीन रूप हमें मगही अपभ्रंश की उन रचनाओं में मिलते हैं जो पूर्वी हिन्दी प्रदेश के बौद्ध सिद्ध-साधकों (७५० ई०—१२०० ई०) के द्वारा उपस्थित हुई हैं। सिद्धों की चर्चागीतियाँ हिन्दी काव्य की योग और निर्गुण धाराओं का आदि-स्रोत हैं। इसी युग में जैनाचार्यों के काव्य

के रूप में पश्चिमी हिन्दी प्रदेश की एक बलवती साहित्यधारा से भी हमारा परिचय होता है। इस धारा की जो रचनायें १००० ई० के बाद मिलती हैं उनमें लोकभाषा का रूप स्पष्टतः खिलने लगता है। इस धारा के सभी प्रमुख काव्यरूप परवर्ती मध्ययुगीन काव्य में विकसित हुए हैं।

१२०० ई० के बाद अपभ्रंश का स्थान निश्चित रूप से हिन्दी ले लेती है और उसके कई प्रादेशिक रूपों का विकास होने लगता है। १५०० ई० के लगभग हमें ब्रजभाषा, अवधी, डिंगल (राजस्थानी), मैथिली, हिंदवी (प्राचीन खड़ी बोली) भाषाओं के काव्य-साहित्य के रूप में विशाल साहित्य-सम्पत्ति मिलने लगती है। विशिष्ट धार्मिक आन्दोलनों के कारण ब्रजभाषा और अवधी को कुछ अधिक व्यापकता प्राप्त हुई परन्तु इन सभी काव्यभाषाओं में रचना की अविच्छिन्न परम्परा अब तक चली आती है। राधाकृष्ण-काव्य की लोकप्रियता और राजाश्रय के कारण ब्रजभाषा दूसरे भाषा-क्षेत्रों में भी पहुँच गई और व्यापक एवं सार्वभौम काव्यभाषा के रूप में उसका प्रयोग हुआ परन्तु प्रादेशिक बोलियों का कंठ-स्वर फिर भी कुंठित न हो सका।

१७वीं शताब्दी के अंत में कुरु-पांचाल प्रदेश की खड़ीबोली, गद्य की व्यापक भाषा के रूप में, सामने आने लगी। भारतेन्दु हरिश्चंद्र (१८५०-१८८५) के जन्म तक उसमें काफ़ी गद्य लिखा जा चुका था। काव्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा चल रही थी। इस प्रकार गद्य और पद्य के क्षेत्र में दो विभिन्न भाषाओं के प्रयोग के कारण भाषा-रूपों में अराजकता के चिह्न दिखाई देने लगे। नये युग में जिन नवीन गद्यात्मक

भावों का प्रवर्तन हुआ, वह संभवतः ब्रजभाषा के नितांत कोमल संस्कारों के साथ विक्षेप-जैसे लगते। फलतः पद्य में भी खड़ीबोली का प्रयोग होने लगा। १८८५ ई० से १६०३ ई० तक काव्यभाषा के संबंध में आन्दोलन होते रहे। इसके बाद आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रयत्नों से काव्य-भाषा का प्रतिनिधित्व खड़ीबोली को ही मिल गया। आज भी राजस्थानी, ब्रज, भोजपुरी, अवधी और मैथिली जनपदीय काव्य की रचना हो रही है, परन्तु काव्य की सर्वमान्य भाषा खड़ीबोली ही है। वही नवीन विचारों और नवीनतम भावनाओं का माध्यम है। अभी उसके काव्य-विकास को १०० वर्ष का समय भी नहीं मिल सका है, परन्तु फिर भी उसमें बहुत कुछ ऐसा आ गया है जो हिन्दी के प्राचीन साहित्य और अन्य प्रांतीय भाषाओं के काव्य के सम्मुख गर्व के साथ रखा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दीकविता की लगभग १२०० वर्षों की विराट् साधना आज हमारे पास है। उसमें मध्ययुगीन साधकों, सिद्धों, योगियों, संतों और भक्तों की वह महत्त्वपूर्ण निधि भी है जो सचमुच अपूर्व है और जिसमें प्रागैतिहासिक काल से चली आती साधनाओं, भावनाओं और विचारसरणियों का अकुंठित सुर बज रहा है, जिसमें जीवन-निर्माण के श्रेष्ठतम तत्त्व सुरक्षित हैं और जो भारतीय साहित्य और साधना का शीर्षमणि है। भारतवर्ष की युग-पुराचीन आध्यात्मिक संत-संस्कृति दोहा-चौपाइयों और लक्ष-लक्ष गेय पदों में मुखरित हो उठी है और काव्य का रस जीवन का अमृत बन गया है। पश्चिम के साहित्य में इस श्रेणी की कोई भी चीज़ हमें नहीं मिलेगी।

इस साहित्य की मूल प्रेरणा अंतस्साधना है परन्तु साथ ही वह संस्कृत साहित्य और साहित्यशास्त्र की अन्यतम भंगिमाओं से पुष्ट है। वह लोकगीतों के रस से भी पुष्ट हुई है और इसी से आज वह भारतीय जनता की प्राणों की वंशी बन गई है। परन्तु अध्यात्मचिंता और परलोकसाधना के दिनों में भी हिन्दी ने लोकभावना को नहीं भुलाया है। इस दिशा में वह अपभ्रंश के साहित्य से प्रभावित हुई है और उसने वीरता, शृंगार, विलास और नीति को भी काव्य का शृंगार बनाया है। यह लौकिक काव्यसाहित्य अपने युग के प्रति पूर्णतः जागरूक रहा है। आज के काव्य को हम इसी लोकधारा के अंतर्गत रख सकते हैं। उसमें जनता की पीड़ा, उसकी आशाकांक्षाओं और उसके सपनों के स्वर अनेक प्रकार से फूटे हैं।

हिमालय से विंध्याचल-नर्मदा-गौतमी और शतद्रु-सिंधु से भागलपुर तक फैले हुए विशाल जनसमूह की सांस्कृतिक, साधनात्मक और लौकिक चेष्टाओं को हमारा काव्य समेट कर चला है और पिछले १२०० वर्षों में उसने इस समाज के मानस का अंकन ही नहीं किया, इसने उसके निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। इतने विशाल प्रदेश में एक ही समय पर कई काव्यभाषाओं का चलना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी इस महान् सांस्कृतिक निधि के महत्त्व को समझें। हमारे यहाँ काव्यानन्द ब्रह्मानन्द माना गया है, परन्तु जहाँ ब्रह्म ही एक-मात्र साधना और चिंता का विषय है, वहाँ काव्य के रस की पूर्णता जिस अलौकिक रामरस में होती है, उसका कहना ही क्या ! प्रस्तुत ग्रंथ में हिन्दी कविता

में प्रकाशित होनेवाली साधना-धाराओं और विचार-सरणियों की पृष्ठभूमि की खोज की गई है और इस प्रकार इस रस को और भी गाढ़ा करने का प्रयत्न किया गया है। अभी इस पृष्ठभूमि की सभी रूपरेखाएँ पूर्णतयाः उभर नहीं पाई हैं। फिर भी यह एक प्रयत्न तो है ही। देश की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भूमि सदैव उर्वरा रही है, हमारा काव्यसाहित्य उसी से धनी है। आशा है, यह पुस्तक इस उर्वरा भूमि की झाँकी प्रस्तुत करने में सफल होगी।

हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय
२० नवम्बर, १९५१

रामरतन भटनागर

सूचनिका

	विषय		पृष्ठ
१.	प्रवेशिका	...	१
२.	निर्गुण उपासना और निर्गुण भक्ति	...	५६
३.	राजपूत एवं हिंदू राजाओं का साहित्य	...	११४
४.	सगुण भक्ति	...	१५३
५.	सूफ़ी काव्य और सूफ़ी साधना	...	२३२
६.	प्रेम और विलास की कविता	...	२९८
७.	पांडित्य और काव्यकला	...	३२०
८.	हिंदू काव्य और हिंदू धर्म	...	३३०
९.	नवीन काव्य	...	३५४
१०.	नवीन काव्य का विश्लेषण	...	३९५
११.	उपसंहार	...	४३३

१

प्रवेशिका

[१]

हिन्दी साहित्य में जो सबसे बड़ी और सबसे महान् चीज़ है वह उसकी कविता है। अभी १५० वर्ष पहले तक हमारे साहित्य में कविता ही सब कुछ थी। अलंकार-शास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक के ग्रंथ, कोष सब कुछ कविता में ही था। 'कविता' तो उसे कहना ठीक भी न होगा। यह कहना ठीक होगा कि सब कुछ छंदबद्ध था। बातचीत में, पत्र-व्यवहार में, धर्म-प्रचार में, राजकीय पत्रों और सनदों में गद्य का प्रयोग हो रहा था, परन्तु साहित्य जैसी कोई स्थायी चीज़ गद्य में नहीं लिखी गई। हमारा गद्य-साहित्य १८०० ई० से प्रारंभ होता है। इससे पहले जो कुछ है, वह इतना कम है कि एक छोटी-सी पुस्तक में उस सब का समावेश हो सकता है।

१५० वर्ष पूर्व कविता की व्यापकता ही सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है। सच तो यह है कि इस कविता में इतना कुछ श्रेष्ठ है, इतना कुछ महान् है कि आज हम उसी को लेकर अन्य

प्रांतीय भाषाओं और संसार की अन्य भाषाओं के सामने उपस्थित होते हैं। संसार के किसी भी देश में कविता ने लाखों-लाखों मनुष्यों के जीवन-निर्माण में इतना महत्त्वपूर्ण भाग नहीं लिया। संस्कृत की बात हम छोड़ देते हैं। वेद, उपनिषद्, गीता, पुराण और भागवत निःसन्देह उच्च श्रेणी के काव्य हैं। उनमें धर्म, दर्शन और जीवन-निर्माण की ऊँची-से-ऊँची व्यवस्था है। आज भी लाखों-लाखों मनुष्य अपने आध्यात्मिक और धार्मिक जीवन की व्यवस्था इन ग्रंथों में पाते हैं। परन्तु संस्कृत कभी भी जनता की भाषा नहीं बनी। करोड़ों-करोड़ों लोगों तक पहुँचने की संभावना उसके विषय में कभी नहीं रही। इसी से हिंदी का काव्य-साहित्य अपूर्व रहा है। आज भी यह साहित्य २०—२२ करोड़ लोगों को अध्यात्म और धर्म की व्यवस्था दे रहा है। कबीर, दादू, सूर, तुलसी और नानक के पद हिन्दी प्रदेश की जनता के जीवन में इतने घुल-मिल गये हैं कि वह कविता रह ही नहीं गये। ५,००० वर्षों की अपने देश की संत-संस्कृति मध्ययुग में इन्हीं महाप्राणों की वाणी से फूटी थी। आज यह अमृतवाणी हिंदी के प्राणों की वाणी है। वह जन-जीवन से अभिन्न बन गई है।

परन्तु हिंदी प्रदेश के जन-जीवन का पूर्णतयः प्रकाशन हिंदी काव्य में हुआ है, यह कहना कुछ अतिशयोक्ति होगी। जनता का अपना लोक-साहित्य बराबर रहा है। लोक-कथाएँ और लोक-गीत इसके प्रमाण हैं। इस जन-साहित्य ने हमारे

काव्य-साहित्य को बराबर प्रभावित किया है, परंतु दोनों की दो अलग-अलग धाराएँ स्पष्ट ही दिखलाई पड़ती हैं। प्राचीन युग का जन-साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका है, इसलिए इन दोनों धाराओं के पारस्परिक प्रभाव के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहना कठिन है। वस्तुतः हमारा अधिकांश साहित्य नागरिक है। उसमें धरती के पुत्रों की वाणी का समावेश नहीं हुआ है। विशेष वर्गों की ही काव्य-चेतना उसमें सुरक्षित है। चारणकाव्य और रीतिकाव्य में सामंती वर्ग, उनके आश्रित मंत्री वर्ग, श्रेणियों और आश्रित कवियों की ही चेतना प्रस्फुटित हुई है। (वीरता, विलासिता, नीति और प्रशस्ति सामंती काव्य के प्रमुख विषय हैं।) इस सम्बन्ध में कोई मतभेद संभव नहीं है। इस साहित्य में संस्कृत-काव्यों की कवि-परंपराओं, रूढ़ियों और भाव-भंगिमाओं को अपनाया गया है। संस्कृत-साहित्य और संस्कृत काव्य-शास्त्र का ऋण ही उनका बल है। सिद्धों, गोरखपंथियों, निरंजनियों, संतों और भक्तों की वाणी जनता की वाणी कही जा सकती है। न जाने जनता के कितने संस्कार हमारे धार्मिक साहित्य में छिपे पड़े हैं। इस साहित्य की शैली, मूर्तिमत्ता, उपमा-उत्प्रेक्षा—सब पर संस्कृत-साहित्य की छाप है। भाषा का अत्यन्त सुधरा रूप यहाँ मिलता है। परन्तु उसकी शैली जन-प्रचलित लोक-गीतों की ही शैली है। इस तरह हम अपने प्राचीन काव्य-साहित्य की दो श्रेणियाँ कर सकते हैं। इन दोनों श्रेणियों की रचनाएँ बराबर साथ-साथ चलती रही हैं। पहली

श्रेणी के पास साहित्य और परंपरा का बल है तो दूसरी श्रेणी के पास अपनी तीव्र अनुभूति का। इससे यह तात्पर्य नहीं कि एक श्रेणी की कविता में अनुभूति का एकांततः अभाव है और दूसरी में साहित्यिकता की मात्रा कुछ भी नहीं है। किसकी मात्रा अपेक्षाकृत अधिक है, यह विचारणीय है।

[२]

हिन्दी के प्रारंभिक काव्य के विषय में अनेक मतभेद हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि यह काव्य काव्य-श्रेणी में आता ही नहीं। इसमें सैद्धांतिक बातें हैं या धार्मिक प्रचार का उत्साह भरा है। यह प्रारंभिक साहित्य मुख्यतः सिद्धों, नाथों और जैनियों द्वारा हमारे सामने आया है और इन्हीं का धार्मिक मान्यताओं को लेकर चलता है। रस, गुण, ध्वनि, अलंकार—ये सब साहित्यिक उपकरण बहुत कम मात्रा में हैं। कहीं-कहीं बिल्कुल मिलते ही नहीं। फल यह है कि काव्य के लिए जो सहृदय पाठक अपेक्षित है उसे यहाँ कुछ भी नहीं मिलता या इतना कम मिलता है जो 'कुछ नहीं' के बराबर है। एक दूसरी विषम परिस्थिति भाषा के संबन्ध में है। इस प्रारंभिक काव्य की भाषा हिंदी से दूर पड़ती है अपभ्रंश से निकट है। सिद्ध काव्य मगही में है जो मागधी अपभ्रंश का विकसित रूप है। नाथ-काव्य की भाषा कबीर की भाषा की तरह पँचमेली है, परन्तु उसका जो रूप आज प्राप्त है वह प्रारंभिक रूप से अधिक विकसित है। नाथ-काव्य कबीर के

समय के आस-पास ही लिपिबद्ध हुआ है, अतः उसमें भाषा का वह पुराना रूप इतना नहीं जो गोरखनाथ के समय होगा। यही परिस्थिति जैनकाव्य के संबन्ध में है। उसमें शौरसेनी अपभ्रंश के रूप ही अधिक मिलते है। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने उसे 'पुरानी हिन्दी' कहा है और अब हिन्दी के इतिहासकार उसे इतिहासों में स्थान भी दे रहे हैं, परन्तु भाषा समय से दूर ही पड़ती है।

सिद्धकाव्य और नाथकाव्य को इसलिए समझना अवश्यक है कि उनकी कितनी ही बातें कबीर ने अपना ली हैं और वे संतकाव्य के द्वारा हिन्दी में प्रतिष्ठित हुईं। ये बातें भाषा और शैली दोनों से सम्बन्ध रखती हैं। सिद्ध सरहपाद कहते हैं—

जहि बन पवन न सञ्चरइ
रवि-ससि नाह पवेस,
तहि वट चित्त विसाम करु
सरहे कहिअ उवेश॥

कबीर भी कहते हैं—

चाँद नहीं सूरज नहीं, हता ते वो ओंकार।
तहाँ कबीरा राम जन, को जाने संसार॥

और दादू ने कहा है—

सहज सुन्नि एक ठौर है
सब घट सब ही माँहि,

वहाँ निरंजन रमि रहा
कोइ गुण व्यापै नाँहि ॥

सिद्ध बाह्याडंबर का, छूत-अछूत का विरोध करते हैं। कबीर भी उसी प्रकार कहते हैं—

अंतरि मैल जे तीरथ न्हावै, तिसु वैकुण्ठ न जाना।
लोक पतीणे कछू न होवै नाहिं राम अयाना ॥
जल के मज्जन जे गति होवै नित-नित मैंडुक न्हावहिं।
जैसे मेंडुक तैसे ओइ नर फिर-फिर जोनी आवहिं ॥

इसके अतिरिक्त कबीर की उलटबाँसियों के बीज भी सिद्ध काव्य में मिल जाते हैं। कबीर ने कहा है—

एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ॥टेक॥
पहले पूत पीछे भई माई, चेला के गुरु लागै पाई ॥
जल की मछली तरवर व्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै पाई ॥
बैलहिं डारि गूंमि घरि आई, कुत्ता कूँ लै गई बिलाई ॥

सिद्ध भी कहते हैं—

बेग संसार बाड़हिल जाअ।
दुहिल दूध कि बेटे समाअ ॥
बलद बिआएल गविआ बाँझे।
पिय दुहिए एतिका साँझे ॥

वास्तव में प्रतीकों के प्रयोग, रहस्यवाद, उलटबाँसी आदि कितनी ही बातों में कबीर का काव्य सिद्धकाव्य की ही परंपरा में आता है।

परन्तु संतकाव्य और नाथकाव्य में अत्यंत निकट का सम्बन्ध है। कबीर ने 'गोरख' को अच्छे शब्दों में याद किया है। "निरंजन" और "अखिल निरंजन", "सुन्न", "इला-पिंगला", "षटचक्र", "कुंडलिनी" आदि कितने ही शब्द संतकाव्य ने नाथकाव्य से उधार लिये हैं। गोरख कहते हैं—

आओ माई धरि-धरि जाओ ॥
गोरख बाला भरि-भरि खाओ ॥
झरै न पारा बाजै नाद ।
ससिहर सूर न बाद विवाद ॥
पवन गोटिका रहनि अकास ॥
महियल अंतरि गगन कविलास ॥
पयाल की डीबी सुन्नि चढ़ाई ।
कथत गोरखनाथ महीन्द्र बताई ॥

कबीर भी कहते हैं—

अवधू, जोगी जग थैं न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति कर सींगी नाद न षंडै धारा ॥ टेक ॥
बसै गगन मैं दुनी न देखै, चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसण नहिं छाजै, पीवै महारस मीठा ॥
ब्रह्म अगिनि मैं काया जारै त्रिकुटी संगम जागै ।
कहै कबीर सोई जोगेश्वर सहज सुन्नि ल्यौ लागै ॥

इसी तरह सिद्धकाव्य के ये पद भी संतकाव्य के सामने रखे जा सकते हैं—

१—मारिवा तौ मन मीर मारिबा, लूटिबा पवन भँडार।
साधवा तौ पंच तत साधिवा, सेइवा तौ निरजंन निराकार ॥

२—आछै आछै महिरे मंडलि कोई सूरा।
मार्‍या मनवा नै समभावै रे लो ॥
मनवा नै दाणावा मोणे मनवै व्याह्या
मनवा ने कोई ल्यावे रे लो
जोति देखि देखी पड़े रे पंतगा
नादै लीन कुरंगा रे लो

३—अनत न भरमो सिधा काइयाँ मधे सार। रहाउ।
बोलते का खोज करना। जीवते ही उलटि करना। सहिज ही आकाश चरना। काई जम का डंड भरना उतर करना पार ॥ १ ॥
महल की जब खबरि पाई , सोध लीने प्रान बाई,
भइया परचा मिटी धाई , बिना मूरति द्रसिटि आई ॥
अलख अगम अपार ॥ २ ॥
सिखा भीतर नाद बाजै , जरा मिटत उपाधि भाजै ।
सुनि सो धुनि डोरी लागै , ततु शब्द भुणकार ॥
बिखै दीन जगत बासी , अगम गढु बासिउ सनिआसी ॥
भणे गोरख सुनहु उदासी , चेतिआ निरंकारि ॥

संतों के कुछ प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द हैं : सतगुरु, निरति, सुरति, दुबिधा, अनहद आदि। इनका प्रयोग गोरखनाथ के

साहित्य में भी हुआ है। इन शब्दों के अर्थों में कुछ थोड़ा भेद अवश्य हो गया है—संतों ने नाथों की साधना को अधिक सहज कर दिया है, परन्तु स्वयम् सिद्ध भी हठयोग के साथ साथ सहज साधना का प्रचार करते थे। मत्स्येन्द्रनाथ ने 'गोरखबोध में गोरख को उपदेश किया है—

संतोष आसण विचार सु ज्ञान।
काया तजि करि धरिये ध्यान॥
गुरुमुखि अवगति का सुख लहै।
ऐसा विचार मछंद्र कहै॥

यह स्पष्ट है कि सिद्ध और नाथ-काव्य में काव्य-गुण इतना भी नहीं जितना कबीर के काव्य में। उन्हें हम जब कविता कहते हैं तो उनके काव्यगुणों की विशेष चर्चा नहीं करते।

सिद्धों और नाथों का सम्बन्ध हिन्दी के पूर्वी भाग से है। आजकल का बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश उनके प्रचार के केन्द्र थे। इनमें सिद्धों का समय नाथों से पूर्व आता है। मोटे ढंग से सिद्धों का समय ७००-८०० ई० से १०००-११०० ई० तक है। मगध, नैपाल की तराई, बंगाल, पूर्वी हिन्दी प्रदेश इनके केन्द्र थे। ८४ सिद्ध प्रसिद्ध हैं। नालंदा और विक्रमशिला के शिक्षा-केन्द्रों से इनका सम्बन्ध है। सिद्ध वज्रसत्व के उपासक थे। उनके मतवाद का नाम वज्रयान है। ये ईश्वर को नहीं मानते थे। 'शून्य' (सुन्न) को मानते थे। इस 'शून्य'-भाव की प्राप्ति संभव है। साधन है बहुत कुछ विकृत योग—पतंजलि

का योग नहीं। ये सिद्ध पंच मकारों का सेवन करते हैं और स्त्री सहवास से निब्बाण के 'महासुह' (महासुख) का अनुभव करना भी ठीक समझते हैं। वास्तव में इन्होंने अनेक गुह्य साधनाओं का आविष्कार कर लिया था जिनमें नीच श्रेणी की स्त्रियों, डोमनियों, परकीयाओं आदि को लेकर मांस-मदिरा के साथ वज्रसत्त्व का ध्यान किया जाता है। यह एक प्रकार का वाममार्ग ही है। बहुत से पारिभाषिक शब्द योग के हैं जैसे अनहद, परन्तु उनकी प्राप्ति हठयोग से इतनी नहीं कही गई है जितनी विकृत वासना से। यह साधना गुह्य थी। साधारण जनता से इसे छिपाया जाता था। इसलिये उलटबाँसियों (संध्या भाषा) का प्रयोग हुआ। प्रतीकों को विस्तार मिला। आत्मा-परमात्मा की निर्गुण रूप की साधना में प्रतीकों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। उपनिषदों में इस प्रकार के प्रतीक हैं। साधना की चरमावस्था और दिव्यमिलन-सुख का वर्णन करने के लिए एवं निर्गुण के निरूपण के लिए साधारण भाषा काम नहीं देती। इस प्रकार रहस्य-अर्थों की प्रतिष्ठा होती है और प्रतीकों का सहारा लिया जाता है। जैसा 'वज्र' शब्द से बोध होता है, वज्रयानी कठिन-कृच्छ्र साधना को लेकर नहीं चलते। वज्रसत्त्व के उपासक होने के कारण ही वे वज्रयानी कहलाये।

नाथ भी ८४ हैं—कितने ही सिद्ध नाथ नाम से चल रहे हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जनता में इन दोनों में अधिक

भेद नहीं रहा। नाथपंथ का समय १००० या ११०० ई० से १४०० ई० तक है। गोरखनाथ इस पंथ के आदि प्रवर्तक थे, यद्यपि 'गोरखबोध' में मत्स्येन्द्र ने गोरख को उपदेश दिया है। गोरखनाथ मत्स्येन्द्र के शिष्य बताये जाते हैं। संभव है दोनों पहले वज्रयानी सिद्ध रहे हों, बाद को गोरख ने नया मतवाद चलाया और मत्स्येन्द्र भी इसमें दीक्षित हो गये हों। यह हिंदू धर्म की बौद्ध धर्म पर विजय थी। इस समय हिंदू शैव, शक्ति और तंत्रवाद बौद्ध धर्म को धीरे-धीरे आत्मसात कर रहे थे। गोरखनाथ ने शैवमत ग्रहण कर लिया और वाममार्ग की सब बातों के प्रति घृणा प्रगट की। उन्होंने उपनिषदों और पतंजलि के आधार पर नये रूप से हठयोग का संस्थापन किया। नाथपंथ में गृहस्थ भी दीक्षित हो सकते थे। फल यह हुआ कि इसका प्रचार बढ़ा। मुसलमान लेखकों के अनुसार नाथ बलख़-बुखारा तक पहुँचते थे। वह युग चमत्कारों का युग था – इसलिये चमत्कार-दर्शन भी उनके मतवाद को दृढ़ करने में सहायक हुआ। इनकी अमोघ शक्तियों के कारण इसका व्यापक प्रचार हुआ, हिंदी का पूर्वी प्रदेश तो इसका केन्द्र ही था—महाराष्ट्र, पंजाब और राजस्थान ये तीन नये केन्द्र हो गये। इनमें पंजाब में बाद को सूफ़ियों ने प्रभुत्व प्राप्त कर लिया और राजस्थान और महाराष्ट्र में संतमत ने। महाराष्ट्र में संतमत अधिक नहीं पनपा परन्तु राजस्थान आदि सारे हिन्दी प्रदेश एवं पंजाब पर तीन शताब्दियों

तक इसका प्रभाव रहा। बंगाल में सिद्धमत देर तक चलता रहा और उससे सहजिया संप्रदाय, निर्गुणियों और बोलों का रूप ग्रहण कर लिया। कालांतर में हिंदी प्रदेश की यह योगधारा संतधारा में विलीन हो गई यद्यपि गोरखपंथियों के अखाड़े भी चलते रहे। साधारण जनता का ध्यान योगियों से हटकर संतों की ओर गया।

पश्चिमी प्रदेश में सिद्धों के समय की रचनायें कम मिलती हैं। १०वीं शताब्दी से जैन साहित्य की रचनाएँ मिलने लगती हैं। १४वीं शताब्दी तक इस काव्य की भाषा में अपभ्रंश का पुट ही अधिक है, परन्तु इसके बाद उसने बहुत कुछ पुरानी हिंदी का रूप धारण कर लिया है जो डिंगल से बहुत भिन्न नहीं है। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में 'रासाओं' से जो उदाहरण दिये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि १२वीं शताब्दी के अपभ्रंश और रासो की भाषा में बहुत भेद नहीं है—

ढोला भइं तुहं वारिया मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तड़ी दडवड होइ विहाणु॥
भल्ला हुआ जु मारिआं बहिणि महारा कन्तु।
लैज्जज्जंतु वयंसि अरु जइ भग्गा घरु एन्तु॥

रासो की भाषा भी इसी प्रकार की है—

झरै झरनि झोरं सु आघात सोरं।
जिने सद्द या सद्द ता अंग मोरं॥

हमं तज्जि राज चलै हत्थ डोरं।
इथं इक्क पच्छौ वियं जंन जोरं॥
बजै सद्द-सदं परच्छंद उट्टै।
क्रनं सोर सोरं सुधीरज्ज छुट्टे॥
इकं होइ राज पथं सन्त रूँधै।
दिये हत्थ तारी तिनं को न बूधै॥

(हिमालय-वर्णन)

जैन काव्य बहुत वृहद् है। उसमें विषय की भी विविधता है। व्याकरण, चरित्र, आचार, दर्शन, आख्यान, जन-गीत (दोहा), पुराण—अनेक विषय हैं। कहीं कहीं काव्य का भी सुंदर पुट है। शृंगार को भी प्रसंगवश स्थान दिया गया है। एक जैन कवि शार्ङ्गधर (१३०० ई० के बाद) ने अन्य ग्रंथों के साथ 'हम्मीर रासो' की भी रचना की है। ग्रंथ उपलब्ध नहीं, परन्तु 'प्राकृत पिंगल सूत्र' में छंदों के उदाहरण-स्वरूप 'हम्मीर रासो' के कुछ पद्य मिले हैं।

एक बात यह ध्यान देने योग्य है कि चरित्र-काव्य को जैन-साहित्य में 'रासा' कहा गया है और ऐसे कितने ही 'रासा' हैं। चारण-काव्य का 'रासो' भी वीररसपूर्ण चरित्र-काव्य ही है। अतः 'रासा' और 'रासो' मूलतः एक ही हैं। परिस्थितिवश विषय में थोड़ा-सा अन्तर हो गया है। 'रासा' में भी शृंगार और वीर रस मिलेंगे, परन्तु एक तो ये ग्रंथ धर्माचार्यों की रचना हैं जो राजसभा से दूर थे, स्वयम् धर्म-नीति से ही अधिक परिचालित

थे। दूसरे उनके प्रदेश में उस समय तक युद्ध के ववंडर नहीं उठे थे। अतः बाद के 'रासो'-ग्रंथ जिस तरह वीर-काव्य हैं, उस तरह ये नहीं, परन्तु प्रकृति में ये दोनों भिन्न नहीं हैं।

भाषा की दृष्टि से जैन-साहित्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें शौरसेनी अपभ्रंश और प्राचीन ब्रज, राजस्थानी और गुजराती के बीच की परिस्थिति मिलती है। यह साहित्य उपर्युक्त तीनों प्रदेशों को छूता है और एक बड़े काल तक उनकी भाषा का प्रतिनिधित्व करता है। यह भाषा 'डिंगल' से बहुत भिन्न नहीं है। राजपूतों के उत्थान के साथ जैन धर्म धीरे-धीरे इन प्रदेशों से हटकर दक्षिण की ओर बढ़ने लगा और भाषा तथा साहित्य में नई शक्तियाँ विकसित हुईं। गुजरात में गुजराती के पूर्वरूप का जन्म हुआ, ब्रज प्रदेश में ब्रज-भाषा बनी। राजस्थान में जन-साधारण में राजस्थानी भाषा का जन्म हुआ, परन्तु साहित्य में अपभ्रंश-मिश्रित जन-भाषा (राजस्थानी, डिंगल) का ही प्रयोग होता रहा। हम देख चुके हैं कि रासो की भाषा में और हेमचंद के समय के जैन पद्य में भेद नहीं है। साहित्य-कारों में मौखिक और लिखित रूप से इस भाषा की प्रतिष्ठा रही जो जन-भाषा से कुछ भिन्न थी। बाद में इसकी शैली भी चल पड़ी—यहाँ तक कि ब्रज प्रदेश के कवियों ने भी वीर रस पूर्ण पद्य लिखते समय डिंगल भाषा के शब्द-कोष और छंदों का प्रयोग किया।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि हिन्दी के आदि काव्य

के संबन्ध में हम पूर्णतय: निश्चित नहीं हैं। अपभ्रंश की कविता कहाँ समाप्त होती है और हिन्दी की कविता कहाँ से शुरू होती है, यह कहना एक बड़ी कठिन समस्या है और इसका सुलझाना सरल नहीं है। काल-प्रवाह को कहीं से पकड़ कर कोई यह नहीं कह सकता कि यह यहाँ से शुरू हुआ। मुख्य समस्या भाषा की है। ७५० ई० से १४०० ई० तक सिद्धों, चारणों और नाथों ने जिस काव्य-साहित्य की रचना की, उसकी भाषा के सम्बन्ध में अभी तक हम निश्चित नहीं हैं। कहीं कोई रचना प्राचीन हिन्दी से मिलती-जुलती है। कभी उसे निश्चित रूप से अपभ्रंश कहा जा सकता है। कभी उसका रूप मिश्रित है। कबीर (१३६६-१५१८ ई०) की रचना निश्चित रूप से हिन्दी है। उसकी भाषा को प्राचीन कविता की भाषा मिलने से यह निश्चित हो जाता है कि अपभ्रंश का साहित्य कहाँ समाप्त होता है और कहाँ हिन्दी साहित्य का आरंभ होता है। कबीर की रचना से जो अपभ्रंश की रचना सबसे समीप पड़ती है, वह गोरखनाथ और अन्य नाथपंथी साधकों की रचना है। आज वह भी अपने शुद्ध रूप में प्राप्त नहीं है, परन्तु उसमें प्राचीनता के चिह्न विद्यमान हैं जिससे यह कहा जा सकता है कि संभवत: ये रचनाएँ ११वीं शताब्दी से संबन्धित हैं। यह एक प्रसिद्ध शोधकर्ता का मत भी है। यदि यह ठीक है तो विक्रम की ११वीं शताब्दी को हम हिन्दी की पहली शताब्दी मान सकते हैं। इससे पहले का काव्य (७५० ई०-१००० ई०) निश्चय

रूप से अपभ्रंश का काव्य होगा। तब हिन्दी के प्राचीन काव्य के अंतर्गत गोरखनाथ और अन्य नाथों की कविताएँ, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो और विद्यापति पदावली की ही गणना की जायगी। यह निश्चय है कि इन कवियों और उनके काव्यों में अपभ्रंश के रूप भी सुरक्षित मिलेंगे।

[३]

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, हिन्दी कविता कहाँ से शुरू होती है—यह एक बड़ी समस्या है और इसका सुलझाना सरल नहीं है। काल-प्रवाह को कहीं से पकड़ कर कोई यह नहीं कह सकता कि यह यहाँ से शुरू हुआ। नदी का स्रोत हिम-प्रदेश के कुहासे में खोया रहता है। कहाँ सूर्य की प्रकाश-रश्मियों से तप कर वह हिम-गलित जलधारा बना, यह ठीक-ठीक जाना नहीं जाता। मुख्य समस्या भाषा की है। ७५० ई० से १४०० ई० तक सिद्धों, चारणों और नाथों ने जिस काव्य-साहित्य की रचना की, उसकी भाषा के सम्बन्ध में अभी तक हम निश्चित नहीं हैं। उसमें भाषा के अनेक रूप मिलते हैं। मागधी अपभ्रंश (मगही), डिंगल (राजस्थानी अपभ्रंश), प्राचीन मैथिली, देशी बोली (देशिल बयना'—विद्यापति) और हिन्दी एवं जैन अपभ्रंश। कहीं-कहीं कोई रचना प्राकृताभास का इतना अधिक पुट दे देती है कि अर्वाचीन होते हुए भी बहुत पुरानी जान पड़ती है। कबीर की रचना को हम निश्चय रूप से हिन्दी की रचना कह सकते हैं [कबीर से पहले सन्त-परंपरा में गोरखनाथ और

अन्य नाथों का काव्य आता है। आज इनकी रचना शुद्ध रूप में प्राप्त प्राप्त नहीं है; परन्तु वह कबीर की रचना से बहुत भिन्न भी नहीं है, ऐसा अनुमान होता है] 'गोरखवाणी' में डॉ० पीताम्बरदत्त बडत्थ्वाल ने लिखा है—'मैं अधिक संभव यह समझता हूँ कि गोरखनाथ विक्रम की ग्यारहवीं शती में हुए। ये रचनाएँ जैसे हमें उपलब्ध हो रही हैं, ठीक वैसी ही उस समय की हैं, यह नहीं जा सकता। परन्तु इसमें प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे यह कहा जा सकता है कि संभवतः इनका मूलोद्भव ग्यारहवा शती में ही हुआ हो।' हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गोरखनाथ और अन्य योगियों की वाणियों में अपभ्रंश का काफ़ी अंश रहा होगा। उनकी रचनाएँ मुख्यतः मौखिक चलती रहीं और धीरे-धीरे उनकी भाषा का प्राचीन रूप खो गया। जो हो, यह निश्चित है कि गोरखनाथ और उनके शिष्य-प्रशिष्यों की रचनायें हिन्दी की ही ओर झुकती हैं। उनसे हमारे संत-काव्य की परंपरा का श्रीगणेश होता है। यह परम्परा अभी १५०-२०० वर्ष पहले तक चलती रही है।

परन्तु ७५० ई० से १००० ई० तक के अपभ्रंश के काव्य को हिन्दी कविता की परम्परा से एकदम अलग नहीं किया जा सकता। चाहे हिन्दी भाषा के विकास की दृष्टि से देखिये या हिन्दी साहित्य की विचार भूमि की दृष्टि से। वास्तव में हमारी हिन्दी उस प्रक्रिया का अन्तिम रूप है जो ईसा की छठी-सातवीं शती की संधि के लगभग शुरू होती है। वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत और

प्राकृत तीनों एक ही भाषा की क्रमशः विकसित परंपराएँ हैं। तीनों संश्लेषणात्मक हैं। इसके बाद अपभ्रंश भाषा शुरू होती है। रूढ़ अपभ्रंश भाषा ७ वीं शताब्दी के आसपास ही आरंभ होती है। ८ वीं शताब्दी में सरह और स्वयंभू आदि कवियों ने इसी भाषा का अत्यन्त ऊंचा प्रयोग किया। अब भाषा का रूप विश्लेषणात्मक हो जाता है। सातवीं सदी के आरंभ में अपभ्रंश का एक सामान्य-सा रूप गुजरात, कन्नौज और पटना में बराबर बोला-समझा जाता था यद्यपि राजदरबार में संस्कृत का ही सम्मान अधिक था। राजपत्रों और ताम्रलेखों में संस्कृत का ही प्रयोग किया गया है। संस्कृत कवि ही ताम्बूल और आसन के अधिकारी हैं। "ताम्बूल द्वय मासनञ्च लभते। सरह, स्वयंभू, पुष्पदंत और हरिब्रह्म अपभ्रंश के सबसे बड़े कवि हैं। वह हमारे जन-कवियों और लोक-गायकों की परंपरा को साहित्य में आगे बढ़ाते हैं। हिंदी काव्य की अनेक प्रवृत्तियों की छान-बीन के लिए हमें इन्हीं के काव्य तक जाना होगा। विषय भाव और अभिव्यंजना में वे संस्कृत-प्राकृत की अपेक्षा हिंदी के अधिक निकट हैं।

इन २५० वर्षों अपभ्रंश काव्य (या संधिकाव्य ?) में क्या-क्या है, यह कहना कठिन है। न तो सारी सामग्री सामने आई है, न उसका सम्यक् अध्ययन हुआ है। एक जगह पर इस विषय की सबसे अधिक सामग्री राहुल सांकृत्यायन की 'हिंदी काव्य-धारा' में मिलेगी। इस संग्रह में सिद्धों, पौराणिक कवियों,

सामंती राजश्रय में रहनेवाले कवियों, जैन लेखकों, गोरख नाथ और गोरखपंथियों और वीर चारणों की रचनायें हैं। इन विचित्र रचनाओं में युग की साहित्यिक विभिन्नताओं और अनेक बहुमुखी चेष्टाओं का इतिहास छिपा हुआ है। इन विभिन्नताओं और बहुमुखी चेष्टाओं को समझे बिना हम बाद की प्रवृत्तियों को भी पूरा-पूरा नहीं समझ सकते।

पहले हम इन २५० वर्षों की राजनतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि की बात लेंगे। किसी भी काव्य को उसी समय पूर्णतयः समझा जाता है जब हम उस वातावरण से परिचित हों जिस वातावरण में उस काव्य का निर्माण हुआ। अपभ्रंश काव्य इस नियम का अपवाद क्यों होगा? राजनैतिक दृष्टि से इन २५० वर्षों में हिंदी प्रदेश स्वतंत्र था। ७११ ई० में मुहमदबीन कासिम ने बिलोचिस्तान पार कर सिंधुप्रांत पर आक्रमण किया। आलोर और अहमदाबाद नष्टभ्रष्ट कर दिये गये। लगभग तीन शताब्दियों तक सिंध प्रांत पर मुसलमानों का राज्य रहा। राजकाज की सुबिधा के लिये खलीफ़ा ने हिंदी साम्राज्य के दो भाग कर दिये थे। एक की राजधानी मुलतान थी, दूसरे की मंसूरा। ७११ ई०—७६० ई० तक इस प्रदेश में राजनीतिक धर्म-परिवर्तन होता रहा। परन्तु उत्तर-पश्चिम से पहला आक्रमण महमूद गजनवी ने १००१ई० में किया। हिंदी प्रदेश सिंध प्रांत से मिला हुआ है। परन्तु उसके केन्द्रीय भागों में इस उथल-पुथल के समाचार

भी नहीं पहुँचे। इसका कारण यह था कि ये केन्द्रीय भाग बहुत दूर थे और उस समय आवागमन के साधन सुलभ नहीं थे, न राजनैतिक एकसूत्रता ही थी। अब्दुर्रहमान नाम के एक मुसलमान कवि की अपभ्रंश रचना इस दृष्टि से विशेष आकर्षक है। इस कवि का समय १०१० ई० के लगभग है। देश है मुलतान। कुल जुलाहा। यह अपने को मीरसेन (मीरहसन?) का पुत्र बतलाता है। यह शृंगारी कवि है। 'संनेह रासय' (संदेश रासक) इसकी कृति का नाम है।

इस समय राजनैतिक क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण बात राजपूतों का अभ्युदय था। आठवीं शताब्दी के मध्य से छोटे-छोटे राजपूत राज्यों का उल्लेख मिलता है। कई ऐसे राजपूत राज्य थे, परन्तु कोई केन्द्रीय सशक्त सत्ता नहीं थी। कन्नौज, कालिंजर, मालवा, थानेश्वर, लाहौर, दिल्ली और अजमेर इन राजपूत शक्तियों से शासित प्रदेश थे। इनमें सबसे शक्तिशाली कन्नौज था। लाहौर, दिल्ली और कन्नौज में पाल राजा राज्य करते थे। बाद में दक्षिण के राष्ट्रकूटों ने कन्नौज को विजय कर लिया और राठौर नाम से प्रसिद्ध हुए। परंतु यह १००० ई० से बाद की बात है। नवीं शताब्दी के मध्य में ग्वालियर से लेकर कालिंजर तक चंदेल राजपूतों का शासन हो गया। इसी समय के लगभग अचलगढ़ (आबू पर्वत के निकट एक प्रसिद्ध गढ़) के परमार उपेन्द्र ने मालवा को हस्तांतर्गत करके प्रसिद्ध धारा नगरी को अपनी राजधानी

बनाया। इस पीढ़ी का छठा राजा मुंज (९५०-९९३) था। कल्याण के चालोक्य-राज तैलप ने इसे परास्त कर ९९३ ई० में मरवा डाला। मुंज के भाई सिंधुराज के बाद भोज धारा-धीश बने। यह कदाचित् १००६ ई० की बात है। दिल्ली में ७३६ ई० के लगभग तोमर वंश का राज्य स्थापित हुआ। अनंगपाल इस वंश का पहला राजा था। सातवीं शताब्दी में मगध पर गुप्त वंश का राज था। इस समय कन्नौज पर मोखरी वंश राज करता था। पारस्परिक भीषण संघर्ष के फलस्वरूप इस शताब्दी का अंत होते-होते दोनों वंश नष्ट हो गये। नवीं शताब्दी में मगध पर पाल वंश का शासन हो गया। यह वंश बौद्ध था। इसके समय में मगध के नालंदा और विक्रमशिला विद्यालय बौद्ध संस्कृति और बौद्ध दर्शन के महान् केन्द्र बन गये। इसी समय में तिब्बत और चीन में महायान का प्रचार हुआ। १०६६ ई० में भिक्षु दीपंकर श्रीज्ञान की सत्तर वर्ष की अवस्था में हिमालय पार तिब्बत की यात्रा महायान की शक्ति को सूचित करती है। इन पाल राजाओं के राज्य का विस्तार कामरूप से दिल्ली तक था।

इस राजनैतिक भूमिका से इस समय के साहित्य के संबंध में बहुत-सी बातें निश्चित हो जाती हैं। पाल वंश के क्षेत्र में महामान बौद्धमत के सामयिक रूप को लेकर कविता लिखी गई। सिद्धों का संबन्ध इसी क्षेत्र से है। इस वंश के राजाओं और उस समय के कवियों की तालिका इस प्रकार है :—

सरहपा (७६० ई०)

धर्मपाल (७७०—८०६)—शवरपा, भूसुकपा (शान्तिदेव)

देवपाल (८०६—४६)—लुईपा, विरूपा, दारिकपा,
गुंडरीपा, कुक्कुरीपा, कमरिपा,
कण्हपा, टेंटणपा

विग्रहपाल (८४६—५४)—महीपा

नारायणपाल (८५४—६०८)—भादेपा, धामपा

राज्यपाल—गोपाल द्वि०

विग्रहपाल द्वि० (६०८—८८६)—तिलोपा

महीपाल (६६०—१०३८)—शांतिपा

धर्मपाल ने कामरूप तक राज्यविस्तार किया और देवपाल की विजय-कीर्ति दिल्ली तक फैली थी। उत्तरी बंगाल (गौड़) भी इस वंश के शासन में था। इससे इस वंश के राजा गौड़ेश्वर भी कहलाते थे। इन्होंने जनहित के अनेक कार्य किये। इनके समय के खुदे बड़े-बड़े तालाब आज भी हमारे आश्चर्य का विषय हैं। मिथिला, बिहार, बङ्गाल और कामरूप इन दिनों बौद्ध विहारों से भर गये थे। विक्रम-शिला के बिहार की कीर्ति तो समुद्र पार के देशों (बालि, यव, सुमात्रा) तक फैली हुई थी। ये राजा बौद्ध-मतावलंबी थे, परन्तु इनके लिए ब्राह्मण भी सम्मान के पात्र थे। इनके प्रधान मंत्री बराबर एक विशेष ब्राह्मण-वंश से संबंधित रहे। यह पाल वंश बख्तियार खिलजी

के आक्रमण (११९७) तक शासक बना रहा। इस वंश के साथ ही भारत में बौद्धधर्म का अन्त हो गया।

इस समय मालवा, राजस्थान और गुजरात जैनधर्म के केन्द्र थे। इन केन्द्रों से हमें जैन साधुओं की रचनायें प्राप्त होती हैं। इनमें देवसेन (धारा नगरी, ९३३ ई०), जोइंदु (योगीन्द्र, राजस्थान, १००० ई०), रामसिंह (राजस्थान, १००० ई०) और धनपाल (गुजरात, १००० ई०) महत्वपूर्ण हैं। अपभ्रंश के जैन-काव्य की यह परम्परा अगली दो शताब्दियों में बड़ी शक्ति से चलती रही। इसकी तालिका इस प्रकार रहेगी :—

ग्यारहवीं शताब्दी

कनकामर भुमि १०६० ई० ? — करकंड चरिउ

जिनदत्त सूरि (गुजरात) १०७५—११५४ — चाचरि, उपदेश रसायन, कालस्वरूप-कुलक

बारहवीं शताब्दी

हेमचंद्र सूरि (गुजरात) १०८८ — ११७९ ई० प्राकृत व्याकरण, छन्दोनुशासन, देशी नाममाला (कोष)

हरिभद्र सूरि (गुजरात) ११५९ ई० — णेमिणाह चरिउ (नेमिनाथ चरित्र)

शालिभद्र सूरि (गुजरात) ११८४ ई० — बाहुबलि रास

सोमप्रभ (गुजरात) ११८५ ई० — कुमारपाल — प्रतिबोध

जिन पद्मसूरि (गुजरात) १२०० ई० – थूलिभद्द-फाग

विनयचन्द्र सूरि (गुजरात) १२०० – नेमिनाथ चतुष्पादिका

तेरहवीं शताब्दी

लक्खड़ (ब्रज) १२५७ ई० – अणुवयरण पईव अनुव्रत रत्नदीप)

अंबदेव सूरि (गुजरात) १३१४ ई०—समर रास

राजशेखर सूरि („) १३१४ ई० (? – नेमिनाथ-फाग

ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट है कि अधिकांश जैन-कवियों का सम्बन्ध गुजरात (अन्हलवाड़) से था। इनमें से कई का निवास-स्थान पाटण था। इस समय लगभग १० वीं शताब्दी के मध्य में) सोलंकी वंश के मूलराज प्रथम ने गुजरात में अपना स्वतंत्र राज स्थापित किया और अन्हलवाड़ को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश के प्रसिद्ध राजा हैं कर्ण (१०७४-६१), जयसिंह सिद्धराज (१०६३-११४२), कुमार पाल (११४२-७३), अजयपाल (११७२-७४), मूलराज द्वितीय (११७६-७८) और भीमदेव भोला (११७८-१२२४)। यह सब जैन-धर्म के भक्त और जैन-विद्वानों के आश्रयदाता थे। इस वंश का अन्तिम राजा कर्णदेव द्वितीय था जिसे अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति ने १२९७ ई० में पराजित किया। १००० ई० के बाद अपभ्रंश भाषाओं ने जन-भाषाओं (आधुनिक भाषाओं) का रूप ग्रहण किया, परन्तु परम्परा-बद्ध होने के

कारण जैन-काव्य पुरानी अपभ्रंश से ही लिपटा रहा। इन कवियों की कविताएँ 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' (गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज़, बड़ोदा १६७२) में संगृहीत हैं।

यह सारा काल एक तरह से सामंत काल कहा जा सकता है। छोटे-छोटे सामंतों में सारा देश बट गया था। इन सामंतों के कीर्ति-गायक चारण और कवि इनके दरबार से संबन्धित होते और शृंगार, वीर और प्रशस्ति के काव्य की रचना करते थे। राजदरबारों और सामंतों से सम्बन्धित ऐसे सैकड़ों कवि रहे होंगे, परन्तु इनमें केवल कुछ की कविताएँ ही हम तक पहुँच सकी हैं। नीचे की तालिका से इन सामंती कवियों के सम्बन्ध में सूचना मिलेगी :—

आठवीं शताब्दी

स्वयंभू ७६० ई० (ध्रुव धारावर्ष ७८०-६४)–हरिवंश पुराण, रामायण (पउम चरिउ), स्वयंभू छंद

दसवीं शताब्दी

पुष्पदंत ६५६-७२ (राठौर कृष्ण खोटिग्गती, ६३६-६८-७२) } महापुराण आदि पुराण और उत्तर पुराण, यशोधर चरित, नागकुमार चरित

ग्यारहवीं शताब्दी

बब्बर १०५० ई० (कर्णकलचुरी, १०४०-७०)

बारहवीं शताब्दी

आम भट्ट (जयसिंह कुमारपाल १०६३-११४२-७३)

विद्याधर ११८० ई० (जयचंद ११७०-६४)

चंद बरदाई १२०० ई०—(पृथिवीराज रासो)

तेरहवीं शताब्दी

जज्जल १२६० ई० (हम्मीर १२६२-६६)

हरिब्रह्म (मिथिला-नेपाल के राजा हरिसिंह के मन्त्री चंडेश्वर के आश्रित)

लगभग ये सभी कवि हिन्दी प्रदेश से सम्बन्धित हैं। स्वयंभू और पुष्पदंत ब्रज और यौधेय प्रदेश के निवासी थे। बब्बर त्रिपुरी (मध्य देश) का, चंद बरदाई दिल्ली-अजमेर का और विद्याधर कन्नौज का। इन सभी कवियों की कविता में अपभ्रंश का लगभग समान रूप मिलता है और इनके काव्य में राजाश्रय में बननेवाले काव्य के सारे गुण-अवगुण मिल जाते हैं। भाषा की दृष्टि से सिद्ध कवियों का काव्य प्राचीन मैथिली का पूर्व रूप है। सामंत कवियों के काव्य में उत्तर काल की ब्रज भाषा और अवधी का पूर्व रूप मिलता है। कहीं-कहीं खड़ी बोली या हिन्दी का पुट भी मिल जाता है, विशेषतः दिल्ली-अजमेर के सामंत काव्य में, परन्तु यह पुट बहुत कम है।

मुलतान के मुसलमान कवि अब्दुर्रहमान की कविता भी अपभ्रंश में है। उसमें फ़ारसी-अरबी शब्दावली बिलकुल नहीं है। जैन कवियों की अपभ्रंश साहित्यिक अपभ्रंश की परम्परा निभाती चलती है। वीसलदेव रासो (नरपति नल्ह), पृथ्वीराज रासो (चंद और जल्हन), आल्हाखंड (जगनिक), खुमान रासो (दलपति विजय), हम्मीर रासो (शारंगधर) और विजय पाल रासो (नल्लसिंह भट्ट) इस युग के प्रसिद्ध सामन्ती काव्य हैं। इन्हें वीर काव्य या चारण काव्य का नाम देकर हिन्दी के विद्वान हिन्दी काव्य साहित्य के अन्तर्गत मानते हैं। बहुत दिनों तक ये ग्रंथ मौलिक रूप से चलते रहे हैं और इनमें भाषा का प्राचीन रूप बहुत कुछ लोप हो गया है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि ये ग्रंथ जिस रूप में आज प्राप्त हैं, उस रूप में वे केवल हिन्दी की ही सम्पत्ति हो सकते हैं।

[४]

काल-क्रम से सिद्धों की कविता सबसे पहले आती है। सरहपा (७६० ई०) हमारे सबसे पहले सिद्ध कवि हैं। इनके अनेक ग्रंथ मिले हैं। इन ग्रंथों से उनकी प्रगतिशीलता और उनके विचारों का परिचय मिलता है। सिद्ध कवि वर्ण-भेद और ब्राह्मणों की सर्वोपरिता नहीं मानते। वह क्षपणकों (सन्यासियों) की निंदा करते हैं। धर्म के सारे बाह्याचार उन्हें पसंद नहीं। मन्त्र और देवता इनके लिए बेकार हैं। ब्राह्मणों के विरुद्ध सरहपा कहते हैं—'ब्राह्मण भी उसका भेद

नहीं जानते। चारों वेद उन्होंने व्यर्थ पढ़े। माटी-पानी-कुश लेकर मन्त्र पढ़ते हैं। घर में बैठे अग्नि होमा करते हैं। व्यर्थ ही यह अग्नि-होम है। कडुवे धुयें में आंख डुबाना व्यर्थ है। हंस (गुरु) उपदेश के बिना वेष-मात्र एकदंडी, त्रिदंडी-भगुवा हुआ तो क्या ? ये जग में वाह्य मिथ्याचारों में भूल जाते हैं। धर्म-अधम इनके लिए सब समान। इनका आचरण यह कि बराबर क्षार लपेटे रहते हैं। सिर पर जटा-भार। घर के एक कोने में दीप जला कर घंटा बजाते हैं। आँख बन्द कर आसन लगा कान में फुस-फुस-सी कुछ मंद-मंद कहते हैं।[1] नंगे होने से मुक्ति होती है तो कुत्ते सियार मुक्त क्यों नहीं हो जाते ? पिच्छि (चोटी) धारण करने से मोक्ष हो तो मोर के भी तो चामर है।[2]

---

१ बम्हणहि म जाणन्त हि भेउ। एँवइ पढ़िअइ ए चउबेउ॥
मट्टि पाणि कुस लई पढ़न्त। घरहीं बइसी अग्नि हुणन्त॥
कज्जे विरहइ हुअवह होमें। अक्खि डहाविअ कडुएँ धूयेँ॥
एँकदण्डि त्रिदण्डी भअवाँ वेसें। विणुआ होंइअइ हंस उएसें।
मिच्छेहाँ जग वाहिअ भुल्ले। धम्माधम्म ण जाणिअ तुल्ले॥
अइरिएहिं उद्दूलिअ छाद्दें। सीस सु बहिअ ए जड़भारे॥
घरही वइसी दीवा जाली। कोणहिं वइसी घण्डा चाली॥
अक्खि णिवेसी आसण बन्धी। कण्णेहिँ खुस-खुसाइ जण धन्धी॥

२ यदि नंगाये होइ मुक्ति, तो शुनक- शृगालहिँ......
पिच्छि गहे देखेहु जो मोक्ष, तो मोरहु चमरहुँ

तत्त्व-रहित काया को तपाना उन्हें पसंद नहीं। चरम सत्ता की प्राप्ति जिसका लक्ष्य है, उसे ध्यान-धारणा से क्या, दीप-नैवेद्य, मंत्र-तंत्र उसके लिए व्यर्थ हैं। तपोवन जाकर या तीर्थ-स्थान से उसे क्या लाभ होगा ?[3] फिर साधक क्या करे ? सिद्धों का संदेश क्या है ?

सिद्धों की साधना सहज मार्ग की साधना है. ध्यान-धारणा मुद्रा, मंत्र-तंत्र सब व्यर्थ हैं। 'वह तो ध्यान-रहित है, फिर ध्यान किसका ? जो अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन कौन करेगा ? भवमुद्राओं में तो सारा जगत बह गया।[4] अपने स्वभाव। (अंतर्वृत्ति) की साधना किसी ने न की। न मंत्र से कुछ आता जाता है, न तंत्र से, न ध्यान-धारणा से। रे मूढ़, यह सब विभ्रम के कारण हैं। निर्मल चित्त को ध्यान में मत खेंचो।'[5]

---

३ जो ज़सु जेंण होइ संतुट्ठो। मोक्ख कि लब्भइ झाण पविट्ठो ॥
किन्तह दीवँ किँ तह णेवेज्जे। किन्तह किज्जइ मंतह सेब्बे ॥
किन्तह तित्थ तपोवण जाई। मोक्ख कि लब्नइ पाणी न्हाई ॥

४ झाण-रहिअ की कीअइ झाणें। जो अवाअ तहि काह वरदाणें।
भव-मुद्दे सअलहि जग बाहउ। णिअ सहाव णउ [illegible] ॥

५ मंत ण तंत ण धेअ ण धारण। सब्ब वि रे बढ़ ! [illegible] ॥
असमल चित म झाणें खरउह। सुह अच्छन्त म अंप्पणु झगड़ह ॥

सिद्धों का साधन तो सहज है। खाते-पीते, सुख-बिहार में, नित्य कर्त्तव्यों के बीच उसकी साधना हो सकती है।[६]

जब मनपूर्ण रूप से निर्मल हो जाय, उसके सारे विकास शून्य हो जायें,तन के मोह के सारे बन्धन टूट जायें, सब कुछ समरस हो जाये, न कोई शुद्र है, न ब्राह्मण जब ऐसी अनुभूति हो, तब सिद्ध-धर्म की प्राप्ति हो।[७]

जान पड़ता है, सरहपा आदि सिद्धों ने योग आदि कठिन तप- साधना का विरोध किया। हीनयान का कायाकष्ट उन्हें अप्रिय था। चित्त को अपने मौलिक स्वभाव (राग) से हटाना ही उनका लक्ष्य था।[८] और सब साधन उनके लिए टेढ़े थे। उन्होंने सहज साधना का ऋजुमार्ग पकड़ा। यह मन को वीत-राग बनाकर स्थितप्रज्ञता प्राप्त करने का मार्ग था। उपनिषद् के सिद्धों की तरह उन्होंने कहा—

---

६ खाअन्त पिअन्ते सुहहिं रमन्ते। णित पुण्णु चक्कावि भिरन्ते ॥
अइस धँम्म सिज्झइ परलोअह। णाह पाए दलीउ भअलोअह ॥

७ सरह भणइ बढ़! जाणहु चंगे। चित्त-रूअ संसारह भंगे ॥
पिअ मण सब्बे सोहिअ जब्बे। गुरु-गुण हिअए पइसइ तब्बे ॥
एवं मणे मुणि सरहे गाहिउ। तंत मंत णउ एक्क' वि चाहिउ ॥

८ नाद न विन्दु न रवि शशि मंडल। चिता राग स्वभावे मुंचल ॥
ऋजु रे ऋजु छांड़ि ना लेहु बंक। नियरे बोधि न जाहु रे लंक ॥

हथेइ कंकरा ना लेहु दर्पण, अपणे आपा बूझहु निअ मरण
(हथेइ कंकरा ना लेहु दर्पण। अपने आपा बूझहु निज मन)
इस मन की साधना का सरहपा ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—'काया नाव है, मन खेनेवाला। सद्गुरु का उपदेश पतवार। हे नाविक, चित्त को स्थिर कर। और किसी उपाय से पार नहीं जाया जा सकता। हे नाविक, गुणों से इस नौका को खेंचऔर सहज से मिला जहाँ पहुँचकर न आना है, न जाना। मार्ग में बड़ा भय है। संसार-समुद्र के थपेड़ों से सब कम्पायमान है। सोते में बहाकर इस नाव को कूल पर ले जा। सरहपा कहते हैं, यह नाव अंत में गगन में समा जाती है।[१] काया में मन की अवस्थिति के कारण सरहपा देह को बाधा नहीं मानते हैं—यहीं (देह में) गंगा-जमुना है, यहीं गंगा-सागर, यहीं प्रयाग-बाराणसी, यहीं सूर्य-चंद। क्षेत्रों में घूमा, पीठ-उपपीठ में घूमा, परन्तु देह-सदृश तीर्थ मैंने कहीं नहीं देखा। काया-तीर्थ में कुल-वर्ण कुछ नहीं रह जाता। ब्रह्मा विष्णु और

---

१ काया-नवड़ी मन केडुवाल। सतगुरे वचने धरु पतवार ॥
चिन्तै थिर करु धरु रे नाई। अन्य उपाये पार न जाई ॥
नौवहि नौका टानअ गुणे। निर्मलि सहजे जाहु न आणे ॥
बारत भअ खान्य, बी बलआ। भवदउल्लोले सब्ब वि'बलिआ।
कूल लई खरे मोन्ते उजाअ। सरहा भणइ गणऐ समाअ ॥

त्रलोक इसी क्षेत्र में समाये हैं।[१०] जैसे सब बाहर है, वैसे सब अंतर में भी है। चौदह भुवनों का स्थान भीतर भी रहता है। शरीर में जो अशरीरी छिपा हुआ है, उसे जानकर बन्धन से छूटा जाता है।[११]

सरहपा, भव-निर्माण, कर्म-अकर्म इत्यादि दार्शनिक वाद-विवादों में नहीं पड़ना चाहते। वह रसायनवादी नहीं हैं। जो जन्म-मरण को मानता है, वह स्वर्ण-रसायन की आकांक्षा करे। जन्म से कर्म है, या कर्म से जन्म है, यह सब उनके लिए अचिंत्य विषय है। इस संसार को वे तुलसी की तरह अद्भुत मानते हैं। जिस प्रकार जल का प्रतिबिम्ब जल से भिन्न नहीं है, उस प्रकार यह जग शून्य से अभिन्न है। इस प्रकार अद्वैतवाद उन्होंने मान्य जाना पड़ता है। शंकर ने शून्य के स्थान पर ब्रह्म-मात्र रख दिया है। सरहपा इस शून्य को बुद्ध भी कहते हैं।

१०—एत्थु से सुरसरि जमुणा, एत्थु से गंगा साअरु।
एत्थु पाअग बणारसि। एत्थु से चन्द दिवाअरु॥
खेत्तु-पीठ-उपपीठ, एत्थु मइँ भमइ परिट्ठओ।
देहा सरिसइ तित्थ, मइँ सुह अण्ण ण दिट्ठओ॥

११—जिमि बाहर तिमि अयभ्यंतर। चौदह भुवने कितउ निरंतर॥
असरिर काहे सरीरहि लुक्को। जो तहि जाणइ सो तहि मुक्को॥

सरहपा ने इस शून्य की अनुभूति को निर्वाण-प्राप्ति कहा है। वास्तव में यह निस्तरंग, निर्गुण, निष्कलंक की अनुभूति है। इसे पाना सहल नहीं है। यह अनुभूति

१—स्वयं संवेद्य या स्वक् संवित्ती है

२—अद्वय-स्थिति है (नोन जिमी पानिहीं विलिज्जइ)

३—इससे जिस अनन्द की प्राप्ति होती है, वह कहने की चीज़ नहीं है। न गुरु उसे बता सकता है, न शिष्य उसे पूछ सकता है।

४—इस देह में ही उसकी अनुभूति प्राप्त हो सकती है। (दे हरि बुद्ध बबत नानै)

५—इस अनुभूति के प्राप्त होने पर आवागमन जाता रहता है।

६—इसके बाद मन विषयों की ओर नहीं जाता। केवल शून्य में विचरता रहता है, जैसे जहाज़ का पंछी। संसार के सारे रहस्यवादियों ने इस प्रकार की चरम सत्ता की रहस्यात्मक अनुभूति के वर्णन किये हैं।

शून्य की यह साधना लगभग उसी तरह रहस्यवादी साधना थी, जिस तरह कबीर की साधना। साधारण लोक जीवन से इस साधना का मेल होना कठिन था। इसीसे इसमें अनेक प्रकार की विचित्रता थी। सिद्ध विचित्र भेष-भूषा बनाये रहते। उनके खान-पान भी अद्भुत रहते। प्रत्येक सिद्ध ने अपनी साधना के लिए किसी प्रतीक को चुन लिया था।

कालांतर में यह प्रतीक निरर्थक वस्तु-मान रह गया। प्रयाग के संग्रहालय में ८४ सिद्धों के चित्र अंकित हैं। इससे इनकी विचित्र 'रहनि' पर प्रकाश पड़ता है। वह युग चमत्कारों का युग था। इसीलिए प्रत्येक सिद्ध का अनेक चमत्कारों से सबंध हो गया। आज हम इन सिद्ध साधकों का ठीक-ठीक महत्व नहीं जानते। परन्तु शंकराचार्य और उनके मायावाद को पृष्ठभूमि में रखने से उनकी महत्ता प्रकट होती है। वास्तव में शंकराचार्य ने वही कहा जो इन सिद्धों ने कहा। बुद्ध शंकर के ब्रह्म बन गये। शून्यवाद ब्रह्मवाद हो गया। अंतर केवल इतना रहा। यह स्पष्ट है कि सिद्धों की भावना औपनिषदिक भावना से मिलती-जुलती है। मध्ययुग के निर्गुण काव्य में जिस रहस्यवाद के दर्शन होते हैं, उसका मूल स्रोत सिद्धों का काव्य ही जान पड़ता है।

सिद्धों के प्रति साधारण धारणा यह है कि उन्होंने व्यभिचार का प्रचार किया और पंच मकारों को प्रमुखता देकर वाम मार्ग को प्रश्रय दिया। जहाँ तक पंच-मकारों का सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि उनका प्रयोग प्रतीक के रूप में हुआ है। शवरपा का एक चर्यापद है—

ऊँचा-ऊँचा पर्वत, तह बसै शबरी बाली।
मोर-पिच्छ पहिरले शवरी, ग्रीव-गुंजा-माली॥
उन्मन शबरो पागल शबरो न करु गुली- गुहाड़ा।
तोहार निज घरनी नामे सहज-सुन्दरी॥

नाना तरुवर मौरिल रे गगन ते लागल डारी ।
एकली शवरी यहि बन हीडै कर्ण-कुँडल वज्रधारी ॥
त्रिधातु खाटे पड़त शबरो महासुखे सेज छाइल ।
शवर भुजंग निरात्मा दारी पेरवत राति बिताइल ॥
चित तांबूला महासुखे कपूर खाई ।
शून्य निरात्मा कंठे लेई महासुख राति बिताई ॥
गुरु-वाक-पुंज धनुष निज-मन बाणे ॥
एक शर सन्धाने विंधहु परम निर्वाणे ॥
उम्मत शवरी गुरुआ रोषे गिरवर शिखरे साँधी ।
पइठत शबरहिं लौटाइब कैसे ॥

'ऊँचा-ऊँचा पर्वत है। वहाँ सिद्ध शवरी का निवास है। वह मोर पुच्छ धारण करता है, गले में गुंजा-माला। हे उन्मत्त शवरी, पागल शवरी, शार न करो। 'सहज' नाम की सुन्दरी तेरी गृहिणी है। अनेक तरुवर हैं। शून्य गगन में उनकी डालें हैं। इस भयानक शून्य-बन में कर्ण-कुण्डल और वज्र धारण कर शवरी हुंकार भरता घूमता है। त्रिधातु-खाट पर महासुख की सेज बिछाकर शवरी विश्राम करता है कामातुर शवरी अनात्म-रूपी अपनी प्रेयसी को देखता हुआ रात बिता देता है। चित्त-रूपी तांबूल है। महासुख का कपूर उसने खाया है। शून्य अनात्म को कंठ लगाकर उसने रात बिताई। गुरु की वाणी धनुष है, अपना मन संधान अर्थात् लक्ष्य है। एक शर से ही परम निर्वाण को बींधा जा सकता है। गुरु उन्मत्त शवरी को

रोकता है, परन्तु उसने तो गिरिश्रृंग को अपना लक्ष्य ही बना लिया है।' धीरे-धीरे सिद्ध साधना में प्रतीकों की बाढ़ आ गई। सिद्धों की एक अपनी ही भाषा बन गई। इसे 'संध्या भाषा' कहा गया है। गोरखनाथ और कबीर में जिन उलट बाँसियों के गोरख-धंधे हम सुलझाते हैं उनका श्रीगणेश इन्हीं सिद्धों के काव्य से होता है। भुसुकपा (शांतिदेव, ८०० ई०) कहते हैं:—

यदि तुम भूसुक अहेरे जइबा, मरिहो पाँच जना ॥
नलिनी बन पइठन्ते , होइहा एक मना ॥
जीवत न हनिहा मरल न अनिहा ।
न बिनु मांस भूसुक पदुम बन पइठिहा ॥
मायाजाल पसारी बेंधिहा माया-हरिनी ।
सद्‌गुरु बोधे बुझि रे कासु (एहू) कहनी ॥

हे भुसुक, यदि तुम अहेर करना चाहते हो तो पांचों [पंचेंद्रियों] का वध करो। एकमत होकर अभ्यांतरिक साधना के कमल-बन में प्रवेश करो। भूसुक ने न जीते पशु का शिकार किया, न मृत का, न उसने कमल-बन में मांस के बिना प्रवेश किया, उसने माया-जाल फैलाने वाली माया-हिरनी का आखेट किया।' गंगा यमुना के मध्य (सुषुम्ना के बीच) चलने का भी आग्रह दिखाई पड़ता है—

गंगा—जमुना माँझे चले नाई ।
तहँ बूड़ल मातंगी पुतिया लीलैं पार करेई ॥
(डोम्बिपा, ८४० ई०)

डोम्बी (सुरति—चित्त-एकाग्रता) के गीत गाये जाते हैं—

नगर—बाहिरे डोम्बी तोहर कुटिका ।
छुइ-छुइ जाइ सो बाभन लड़िका ॥
अरे डोम्बी तोरे साथ करब न संग ।
निघृ`ण कारह कपाल-जोगि नंग ॥
एकड़ पदुम चौंसठ पाँखुरी ।
तहँ चढ़ि नाचै डोम्बि बापुरी ॥

(कराहपा, ८४० ई०)

कालांतर में सिद्धों में वाममार्ग का प्रवेश हो गया। प्रतीक भुला दिये गये। निम्न जाति की स्त्रियों को लेकर काम-साधना को धार्मिक रूप दिया गया। १००० ई० तक आते-आते सिद्ध मत पर्याप्त मात्रा में विकृत हो चुका था। धर्म में जहाँ गुह्य (गोपन) की भावना आई, वहाँ अन्त में यही होता है।

परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि मूल रूप से सिद्ध मत वामाचार से भिन्न था। सच तो यह है कि सिद्धों ने महायान को अत्यन्त सहज, अत्यन्त स्वाभाविक बना दिया था। यह मंत्र-तन्त्र-वाद से भिन्न, केवल-मात्र आत्म शुद्धि पर निर्भर उस समय का लोकमत था। देह में बुद्ध (निब्बाण-शून्य) की प्राप्ति के लिए कुंडलिनी की साधना भी इन सिद्धों क स्वीकृत थी। पर उनके बुद्ध निर्गुण ब्रह्म से कम-अधिक कुछ भी नहीं हैं। इन सिद्धों ने शंकर के मायावाद के लिए भूमि तैयार की। आज कई शताब्दियों बाद भी मायावाद पर साधा-

रण जनता की आस्था है—यह सिद्धों के कारण ही है। वही इस मायावाद के आदि प्रवर्तक थे। उन्होंने जिन उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग किया, वह शंकर जैसे प्रकांड विद्वानों द्वारा प्रयुक्त हुई। भूसुकपा का एक चर्यागीत है जिसका सहज रूपांतर इस प्रकार है—

आदिहिं अजन्मते जग ई भाँति सों प्रतिभाइ।
रज्जु सर्प देखि चमकेउँ साँचै जिमि लोग खाइ॥
अहह जोगिया ! न कर हाय लोना। सेरु स्वभाव यदि
बूझसि टुटइ वासना तोरा॥
मरु-मरीचि गंधर्व-नगरी दर्पण-प्रतिबिम्ब-जैसा।
वातावर्त्त सो दृढ़ होई, पानिहिं पाथर जैसा॥
बाँझ-सुता जिमि केली करै, खेलै बहुविधि खेला॥
बालू-तेले शश शृंगे आकाश फुलेला॥
राउतु भनै मूढ़े भूसुक भनै मूढ़ सकल ऐस स्वभावा।
यदि तै मूढ़ा हवै भ्रांत पूछइ सदगुरु पावा॥

आचार्यों ने बार-बार इस कथन की पुनरुक्ति की है। यह निश्चित है कि अद्वैतवाद के पीछे सहज के उपासक सिद्धों के चिंतन की कई शताब्दियाँ हैं। नागार्जुन से लेकर सरहवाद (७६० ई०) तक यह विचारधारा बराबर विकसित होती गई। अगले ढाई सौ वर्षों में इसका प्रकाशन अपभ्रंश के माध्यम से हुआ। बौद्धों के बाद इस विचार-धारा को गोरखपंथियों और निर्गुणियों ने अपना लिया। यदि

और कुछ नहीं तो गोरखपंथियों और निर्गुणियों के अध्ययन के लिए ही सिद्ध-साहित्य महत्वपूर्ण है। अगली कई शताब्दियों तक इसने भारत की धर्म-भावना को प्रभावित किया है।

[५]

जैन अपभ्रंश का साहित्य भी प्रचुर मात्रा में है। अकेले स्वयंभू और पुष्पदंत का साहित्य इतना बड़ा है कि उस पर कई सौ पृष्ठों की पुस्तक लिखी जा सकती है। भाषा और छंदों के विकास की दृष्टि से तो यह साहित्य और भी महत्व-पूर्ण है। स्वयंभूदेव का समय ७६० ई० के लगभग है और पुष्पदंत का समय ६५६—७३ ई०। सच तो यह है कि ७५०—१००० ई० के समय में अपभ्रंश के सारे कवियों में यही सर्व-श्रेष्ठ है और इनकी रचनाओं में साहित्य-रस भी यथेष्ट मात्रा में मिलता है। जैनियों के अधिकांश काव्य गद्यात्मक हैं, परन्तु इन काव्यों में कला और प्रतिभा के साथ धर्म-भाव का भी बड़ा सुन्दर गठबंधन हो गया है। आज अपभ्रंश भाषा हमसे दूर जा पड़ी है; परन्तु थोड़े परिश्रम के बाद अपभ्रंश-साहित्य के इन ग्रन्थों से हम सहज ही रस ग्रहण कर सकते हैं।

स्वयंभू देव के संबन्ध में हम अधिक नहीं जानते। वह रयड़ा के धनंजय के आश्रित थे और फिर उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू बंदह (बंदक) के आश्रित। इतिहास के उल्लेखों से पता चलता है कि रयड़ा राष्ट्रकूट ध्रुव (७८०—६४ ई०) के

अमात्य थे। ध्रुव महान विजेता था। वह सेना के साथ कन्नौज आया था। स्वयंभू कन्नौज के ही रहनेवाले थे। अमात्य रयड़ा के साथ ही वह दक्षिण गये। उनके पिता का नाम मारुतदेव और माता का नाम पद्मिनी था। पिता भी कवि थे। 'स्वयंभू छंद' में स्वयंभू ने उसकी रचना का भी एक उदाहरण दिया है। यह गृहस्थ थे, साधु या मुनि नहीं। 'पउम चरिउ' में उनकी दो पत्नियों के नाम भी मिल जाते हैं। स्वयंभू देव के अनेक पुत्र थे, परन्तु इनमें त्रिभुवन स्वयंभू ही इतिहास-विदित हैं। स्वयंभू ने हरिवंश पुराण और रामायण (पउम चरिउ) की रचनाएँ अधूरी छोड़ी थीं। स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन ने ही शेष अंशों की पूर्त्ति की। ऐतिहासिक दृष्टि से ये रचनाएँ महत्त्व-पूर्ण हैं। इनसे पता चलता है कि दोहे-चौपाइयों के कथात्मक काव्यों की परम्परा अपभ्रंश के समय से चली आ रही थी और हिन्दी के सूफ़ी कवियों और गोस्वामी तुलसीदास ने इसी परम्परा को ग्रहण किया। इन अपभ्रंश काव्यों में सर्ग की जगह प्रायः 'संधि' का व्यवहार किया जाता है। प्रत्येक संधि में अनेक कड़वक होते हैं और एक कड़वक आठ यमकों का तथा एक यमक दो-दो पदों का होता है एक पद में यदि वह पद्धरियाबद्ध हो तो १६ मात्राएँ होती हैं। आचार्य हेमचंद्र के अनुसार चार पद्धरियों अर्थात् आठ पंक्तियों का कड़वक होता है। प्रत्येक कड़वक के अंत में एक धत्ता या ध्रुवक होता है। तुलसीदास को रामायण में भी दोहा-चौपाइयों का यही

कम है। वास्तव में स्वयंभू के ये दोनों ग्रन्थ अपभ्रंश की रामकथा और कृष्णकथा के सबसे पहले ग्रंथ हैं। हरिवंश पुराण में जैन मुनि जसकित्ति (१५११ ई० के लगभग) के भी कुछ अंश प्रक्षिप्त रूप से मिला दिये गये हैं। जो हो, यह निश्चित है कि सामंती काव्य और कथा-काव्य की दृष्टि से इन ग्रंथों का बड़ा महत्व है। इनमें पौराणिक राम और कृष्ण की जैन-दृष्टिकोण की कथा तो है ही, तत्कालीन समाज का भी पूरा-पूरा चित्रण इसमें हो जाता है। अपनी अपभ्रंश भाषा को स्यंमभू ने देशी भाषा ही कहा है—

अक्खर वास जलोह मनोहर। सुभलंकार छंद मच्छोदर॥
दोह-समास पवाहा कंकिय। सक्क्य पायय पुलिणालंकिय॥
देसी भासा उभयतु उज्जवल। कवि घक्कर घणरुद्ध सिलायल॥
अत्थ बहुल कल्लोला णिट्ठिय। आसा समसभ ऊह परिट्ठिय।
राम कथा सरि एह सोहंती × × ×
अत्तर वास जलोघ मनोहर। सु-अलंकार छंद मत्स्योदर॥
दीर्घ समास प्रवाहहिं बंकित। संस्कृत-प्राकृत पुलिनाअंकृत॥
देशी भाषा दोउतट उज्जवल। कवि दुष्कर घन शब्द शिलातल॥
अर्थ बहुत कल्लोलहिं मज्जित। आशा शतसम ओघ समर्पित॥
राम कथा सरि एहु सोंहती! × × ×

(रामायण, १)

इससे स्पष्ट है कि यह अपभ्रंश हिन्दी से विभिन्न कोई नई और स्वतंत्र भाषा थी ही नहीं। प्राकृत और हिन्दी के बीच की

जनभाषा को ही अपभ्रंश कह दिया गया है। स्वयंभू और त्रिभुवन की कविता में कल्पना, कला और प्रतिभा का वह सब विलास मिलेगा, जो सामंती काव्य से संबंधित है। तुलसी ने 'प्राकृत' कवियों का उल्लेख किया है। संभव है, वह स्वयंभू की कृतियों से परिचित हों। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि स्वयंभू के काव्य के अनेक प्रसंग रामचरित मानस के प्रसंगों से मिल जाते हैं।

पुष्पदंत ने राम-कृष्ण की कथा को नहीं लिखा। उन्होंने जैन महापुरुषों, यशोधर और नागकुमार के चरित्रों को अपना विषय बनाया। महापुराण में प्रसंगवश राम और कृष्ण की कथायें अवश्य आ गई हैं। उत्तरपुराण की कृष्ण-लीला इसलिए महत्वपूर्ण है कि यहाँ हमें बाल-कृष्ण की गोपी-लीलाओं का पहला विस्तृत वर्णन मिलता है। विद्वानों की खोज ने यह सिद्ध कर दिया है कि इस पुराण का रचनाकाल ६५६-६६७ ई० है। यह स्पष्ट है कि ईसा की नवीं-दसवीं शताब्दी में कृष्ण-कथा का इतना विकास हो गया था कि १००-१५० वर्ष बाद जयदेव के 'गीति गोविंदम्' की रचना हो सकी। इस प्रकार से जैन ग्रंथ हमारे साहित्यिक परंपराओं को अपभ्रंश की परंपराओं से शृंखलित कर लेते हैं। उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ साम्प्रदायिक है, फिर भी समसामयिक लोक-कथा और भाषा उनमें सुरक्षित है। इस नाते उनका ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं है। स्वयंभू की तरह पुष्पदंत का संबंध भी राष्ट्रकूटों से था।

पुष्पदंत ने दो आश्रयदाताओं का उल्लेख किया है। एक भरत का और दूसरे नन्क का। ये दोनों पिता-पुत्र थे और महाराजाधिराज कृष्णराज (तृतीय) के महामात्य। कृष्ण राष्ट्रकूट वंश का अपने समय का सबसे पराक्रमी, दिग्विजयी और अंतिम सम्राट था। इस वश ने लगभग २०० वर्ष तक दक्षिणापथ पर राज्य किया। ११ वीं शताब्दी में कन्नौज उनके आधिपत्य में आ गया, जहाँ यह राठौर नाम से प्रसिद्ध हुए। राष्ट्रकूट शिव और विष्णु के उपासक थे। अलोरा की गुफाएँ उनकी धर्म-कीर्त्ति की ध्वजा हैं।

हम पहले कह आये हैं कि गुजरात, राजस्थान और मालवा जैनमत के केन्द्र थे। परन्तु फिर भी जैनानुयायियों की संख्या अधिक नहीं थी। अत. वे अपने चारों ओर के प्रचलित लोकधर्मों से प्रभावित होते रहे। जैन साधकों पर निरंजन पंथ और नाथ पंथ (योगी पंथ) का प्रभाव स्पष्ट है। योगीन्दु, रामसिंह और धनपाल की १००० ई० के लगभग की जो रचनाएँ 'हिंदी काव्य-धारा' में संगृहीत हैं उनसे इस सम्बन्ध में कोई अन्य निष्कर्ष ही नहीं निकल सकता। योगीन्दु और रामसिंह की रचनाओं में यह समन्वय की भावना अधिक तीव्र है। धनपाल की कथा (भविसयत्त कथा) भविष्य-दत्त नाम के वणिकपुत्र की कथा है। इस ग्रंथ में सामंती और

वाणिज्यजीवी संप्रदाय का बहुत सुन्दर वर्णन धनपाल ने किया है। लेखक कुरु-प्रदेश का रहनेवाला जान पड़ता है और उसने हस्तिनापुर के ऐश्वर्य का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। मुसलमानों के आक्रमण से कुछ पहले की भारतीय सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिए इस ग्रंथ का अध्ययन अनिवार्य है। इस तरह १००० ई० तक स्वयभू और पुष्यदंत की रचनाओं को छोड़कर जैन काव्य हमें अधिक मात्रा में प्राप्त नहीं हुआ। इसके बाद की शताब्दियों में हमें क्रमशः कनकामर मुनि (१०६० ई०), जिनदत्त सूरि (१०७५-११५४), हेमचंद्र सूरि (११७६ ई०), हरिभद्र सूरि (११५६ ई०), बीसलदेव (११-५२-६४), शालिभद्र सूरि (११८४ ई०), सोमप्रभ (११६५ ई०) जिनपद्म सूरि (१२०० ई०), विनयचंद्र सूरि (१२०० ई०), लक्खण (१२५७ ई०), अंबदेव सूरि (१३१४ ई०) और राजशेखर सूरि (१३१४ ई०) के दर्शन होते हैं। इन कवियों के ग्रंथों में जैन धर्म, जैन दर्शन, जैन ऐतिहासिक पुरुषों और जैन-इतिहास को कविता का विषय बनाया गया है। अधिकांश कवियों में साहित्य की मात्रा अधिक नहीं है। परन्तु प्राचीन साहित्य हमें इतना कम मिलता है कि जो मिलता है उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। ये सब कवि गुजरात (अन्हलवाड़ा-पाटन) से सम्बन्धित हैं। इस समय अन्हलवाड़ा सोलंकी (चालुक्य) वंश की राजधानी थी।

इस समय की अपभ्रंश के सबसे सुन्दर उदाहरण हेमचंद्र

सूरि के 'प्राकृत व्याकरण' में मिल जाते हैं। हेमचंद्र का समय १०८८—११६६ ई० है। इसका एक संस्करण डाक्टर पी० एल० वैद्य द्वारा संपादित और मोतीलाल लाधा जी (पूना) द्वारा प्रकाशित (१६२८ ई०) है। इसमें उदाहरण के लिए अन्य कवियों की रचनाएँ ली गई हैं। आज इनकी बड़ी ऐतिहासिक महत्ता है। इस संग्रह की रचनाओं की भाषा अपभ्रंश ही है। इसे ही हेमचंद्र ने 'प्राकृत' कहा है। जान पड़ता है इस समय तक देशी (प्रादेशिक) बोलिया भी यथेष्ट विकसित हो चुकी थीं। इसीलिए हेमचंद्र ने 'देशी नाममाला' (कोष) की रचना की। संग्रह के कई छंद प्राचीन हिन्दी से अभिन्न हैं, जैसे

भल्ला हुआ जो मारिआ, बहिणि। महारा कंतु।
लज्जेज्जंतु वयंसियहु, जह भग्गा घरु एंतु॥
अम्उ थोवा रिहे बहुअ, कायर एव भणंति।
मद्धि निहालहि गयण-फलु, कह जण जोएह करन्ति॥
पुत्तें जाएँ कवण गुणु, अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भूँहडी, चपिज्जइ, अवरेण॥

इस तरह के सैकड़ों घत्ता इकट्ठे किये जा सके हैं। अभी अपभ्रंश की छाप अधिक है, परन्तु भाषा का रूप दिन प्रतिदिन खुल रहा है, इसमें संदेह नहीं। बन घत्ता छंदों को भाषा से चंद की ये पंक्तियाँ मिलाइए—

सकल भूमि को भेद राज जानै ए भग्गै।
अति सुविकट बन जूह चढै संग्राम न होई॥

अश्वदाय गजपाय चढ़न किहिं ठौर न कोई ॥
बनबिकटजूह परवत गुहा बरबहेर बंकम विषम ।
दारु भयानक अति सरल बर प्रात्तार जल नहि सुषम ॥

यह 'रासो' का वर्तमान रूप है जो कदाचित् १६वीं सदी से पहले का नहीं है। १०वीं ११वीं शताब्दी में रूप थोड़ा बदला होगा, परन्तु फिर भी इन उद्धरणों में हम साहित्य के क्षेत्र में पूर्णतः उतर आते हैं। मूल रासो की भाषा हेमचंद्र के 'प्राकृत व्याकरण' की उद्धृत भाषा से बहुत भिन्न नहीं होगी। भाषा के क्षेत्र में परम्पराएँ इतनी दृढ़ होती हैं कि कभी-कभी रचना-विशेष का कालक्रम बताना कठिन होता है। फिर भी यह निश्चित है कि इस जैनकाव्य में अपभ्रंश के नाते हिन्दी का बहुत कुछ है और जो है उसे सहज ही भुलाया नहीं जा सकता। परवर्ती कथा-काव्यों पर तो इनका प्रभाव निश्चित है ही।

[६]

स्वयंभूदेव और पुष्पदंत के काव्य सामंत-काव्य की श्रेणी में भी आते हैं। उनमें धर्म-भावना थोड़ी है और आश्रय-दाता की प्रशंसा अधिक। ये दोनों कवि जैन कवि हैं। इससे इनके काव्य के जैन धर्म में सिद्धांत भी मिलते हैं। दोनों ने जैन दृष्टिकोण से रामायण और महाभारत की कथाएँ लिखी हैं। इन कथाओं के विस्तार में उन्होंने अपने युग के ऐश्वर्य, विलास और वातावरण का ही चित्रण किया है। इसीसे उनका

काव्य जैनकाव्य और पौराणिक काव्य न होकर सामंती काव्य ही अधिक है। प्राकृत में इस प्रकार की रचनाएँ हमें नहीं मिलतीं। उसमें मुक्तक काव्य ही अधिक उपलब्ध है और हाल की 'गाथासप्तशती' इसी श्रेणी में आती है। प्राकृत की अन्य रचनाएँ काल-कलवित हो गई होंगी। वह हम तक नहीं पहुँच पाईं। परन्तु अपभ्रंश काव्य के कई रूप और उसकी कई परंपराएँ आज हमारे सामने हैं। सिद्धों के चर्यागीत, मुंज के प्रेम, नीति और वीरता के दोहे, चारणों की प्राकृताभास रचनायँ और जैन कवियों के चरित्र काव्य, पुराण और रोमांस हिन्दी साहित्य की प्रारंभिक परम्पराओं से इतने संबद्ध हैं कि उन्हें छोड़कर हिन्दी साहित्य का अध्ययन हो ही नहीं सकता।

हिन्दी अवधी काव्य में दोहा-चौपाई में चरित्र काव्य, पुराण और रोमांस लिखने की एक परंपरा १४वीं शताब्दी के आरंभ से चली आती है। १३१८ ई० की मुल्ला दाऊद की नूरक और चंदा का प्रेमकथा का उल्लेख हमें मिलता है। १५०१ ई० की सूफ़ी रचना 'मृगावती' (कुतबन) और १५६१ ई० की प्रसिद्ध कृति पद्मावत' (जायसी) दोहा-चौपाइयों की शैली को ही आगे बढ़ाती है। इसके बाद हिन्दी के सबसे सुन्दर चरित्र काव्य रामचरितमानस (तुलसीदास, १५७४ ई०) का नाम आता है। रामचरितमानस ने इस शैली को भक्त-कवियों में विशेष लोकप्रिय बना दिया और वर्णनात्मक एवं

कथात्मक काव्य के लिए व्यापक रूप से इसका प्रयोग हुआ। १६वीं शताब्दी के आरम्भ तक कथा-काव्यों और चरित्र-काव्यों के लिए यही शैली चलती रही। ब्रजभाषा और अवधी दोनों में सफलतापूर्वक इस शैली का प्रयोग हुआ। परन्तु अपभ्रंश काव्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह परम्परा लगभग १००० वर्ष पुरानी है। किस अपभ्रंश कवि ने इस शैली का प्रारम्भ किया यह कहना कठिन है, परन्तु रिट्ठणेमि चरिउ (हरिवंस पुराणु) में स्वयंभू ने इस संबन्ध में चउमुह (चतुर्मुख) का नाम लिया है। चतुर्मुख, स्वयंभू और पुष्यदंत्त अपभ्रंश के सर्वश्रेष्ठ कवि कहे गये हैं। हरिषेण ने अपने अपभ्रंश काव्य धम्म-परिक्खा (९८३ ई०) में इन तीनों कवियों की स्तुति की है। स्वयंभू ने लिखा है— पिंगल ने छन्द-प्रस्तार, भामह और दंडी ने अलंकार, बाण ने अक्षराडम्बर, श्री हरि ने निपुणत्त्व और चतुर्मुख ने छर्दनिका, द्विपदी और ध्रुवकों से जटित पद्धड़िया दिया—"छन्दणिय-दुवइ-धुवएहिं जडिय, चउमुहेण समधिय पद्धड़िय।" चतुर्मुख की इस नवीन शैली में लिखी (गो-ग्रह-कथा) का उल्लेख बार-बार आता है। कदाचित् चतुर्मुख ने कोई हरिवंश पुराण लिखा हो और गोग्रह-कथा उसका अंश हो। अपभ्रंश कवि धवल ने अपने हरिवंश पुराण में चतुर्मुख की 'हरिपाण्डवांनां' कथा का उल्लेख किया है। परन्तु अभाग्यवश हम चतुर्मुख के समय के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कह

सकते। महाकवि स्वयंभू का समय ६७७ ई० से ७८३ ई० तक माना जाता है, अतः चतुर्मुख का समय ६ वीं-७ वीं शताब्दी रहा होगा। दोहा-चौपाइयों की यह परम्परा ८वीं शताब्दी में व्यापक रूप से मिलती है। सिद्ध सरहपाद और कृष्णाचार्य दो-दो चार-चार चौपाइयों (अर्धालियों) के बाद दोहा लिखते पाये जाते है। दोनों छन्दों का अलग-अलग प्रयोग भी व्यापक रूप से होता है। परन्तु कथाकाव्य के लिए इन दोनों छन्दों या ऐसे छन्दों को लेकर एक नई शैली की योजना कदाचित् चतुर्मुख ने ही की हो। इसके बाद तो अपभ्रंश काव्यों में दस-दस, बारह-बारह चौपाइयों (अर्धालियों) के बाद घत्ता, उल्लाला आदि लिखकर अनेक प्रबन्धों की रचना की गई। अपभ्रंश में चौपाई जैसी चीज़ को प्रज्झटिका और अलिल्लह कहते हैं। इन दोनों में भी अधिक अन्तर नहीं है। दोनों में १६ मात्राएँ होती हैं, परन्तु प्रज्झटिका (चौपाई) के अन्त में दो गुरु हो सकते हैं, अलिल्लाह के अन्त में लघु होने चाहिए। दस-बारह प्रज्झटिका या अलिल्लह के बाद घत्ता (विश्राम) या कब्ब या उल्लाला। इन्हें छेदात्मक छन्द भी कह सकते हैं। इनके बीच की प्रज्झटिकाओं एवं अलिल्लह को सामूहिक रूप से कडवक कहते हैं। सूफ़ी कवियों से पहले जैन और इतर कवियों ने कथा-काव्यों में इस शैली का प्रयोग प्रचुर मात्रा से किया था। कबीर (१३६८-१५१८) की रमैनियों में भी हम दोहा-चौपाइयों का क्रम पाते हैं यद्यपि उन्हें किसी निश्चित ढंग से नहीं रखा गया है।

ऊपर हमने जो कहा है उससे यह स्पष्ट है कि हिन्द के कथाकाव्यों की शैली, विषय-पुष्टि और भावनाओं के आदान-प्रदान के लिए अपभ्रंश कथाकाव्यों का अध्ययन कितना महत्त्व पूर्ण है। स्वयंभू और पुष्पदंत अपभ्रंश के महाकवि हैं। रचना सौष्ठव और कला की दृष्टि से वह किसी भी महाकवि से छोटे नहीं पड़ते। हिन्दी कथा-काव्य, सूफी प्रेमाख्यानक काव्य और पुराण एवं चरित्र काव्य इन कवियों की रचनाओं से प्रभावित हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

स्वयंभू और पुष्पदंत के काव्य को हमने सामंत काव्य इसलिए कहा है कि उसमें सामंती जीवन और सामंती समाज के ऐश्वर्य-विलास का संपूर्ण चित्र मिल जाता है। दोनों कवि दरबारी कवि थे और पूर्व मध्ययुग के संपन्न ऐश्वर्य से उनका निकट का परिचय था। वे कालिदास और बाण की परंपरा को ही आगे बढ़ाते हैं। भाषाशैली, कल्पना और संगीत का जो ऐश्वर्य कालिदास और बाण की रचनाओं में है, वह यहाँ भी मिलेगा। सीता के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए स्वयंभू कहते हैं—

हरि पहरंतु पसंसिउ जावेहिं। जाणइ-णयण कडक्खिय तावेहिँ ॥
सुकइ सुकव्व-सुसंधि सु-संधिय। सुपय-सुवयण-सुसद्द-सुविद्धय ॥
थिर कलहंस-गयण गइ मंथर। किस-मज्झारे णियंवे सुवित्थर॥
रोमावलि मयरहरुत्तिण्णी। णं पिपंलि-रिंछोलि विलिण्णी ॥
अहिणव-हुडूपिंड-परिणत्थण। णं मयगल-उर-खंभिणि-सुंभण ॥

रेहइ वयण-कमलु अकलंकउ । णं माणस-सर विअसिउ पंकउ ॥
सुललिय-लोयणु ललिय पसण्णहँ । णं वरइत्त मिलिय वर कँण्णह ॥
धोलइ पुट्ठिहि वेणि महाइणि । चंदण-लयहिँ ललइ णं णायणि ॥
घत्ता किं वहु ज'पिएण तिहिँ भुयणिहि जं जं चंगउ ।
तं तं मेलवेवि णं, दइवें णिम्मिउ अंगउ ॥

—स्वयंभू रामायण । ३८, ३

मंदोदरि के सौन्दर्य और लंका एवं अयोध्या के रनिवास के वर्णनों में भी कवि शास्त्रज्ञान, सौन्दर्य-बोध और अपने रसिक हृदय का इसी तरह का परिचय देता है । विद्यापति (१३७५-१४५०) के काव्य में जिन उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं की भरमार है, वह इन कवियों के काव्य में पद-पद पर जड़ित हैं । वस्तुतः विद्यापति का काव्य अपभ्रंश के इन कवियों के काव्य के बहुत निकट पड़ता है । अंतर केवल इतना है कि विद्यापति के काव्य में तत्समता की मात्रा अधिक है । 'कीर्तिलता' में विद्यापति ने अवहट्ट (अपभ्रंश) लिखा है और इस रचना में जहाँ उन्होंने जौनपुर की वेश्याओं का वर्णन किया है वहाँ वे इन अपभ्रंश कवियों की परंपरा को ही निभा रहे हैं । यह स्पष्ट है कि छठी-७वीं शताब्दी से आरंभ होकर अपभ्रंश की धारा ११वीं-१२वीं शताब्दी तक बराबर चलती रही । १४वीं-१५वीं शताब्दी की कबीर और विद्यापति की रचनाएँ अपभ्रंश और हिंदी के बीच की कड़ी हैं । वह हिंदी अधिक हैं, अपभ्रंश कम । जान पड़ता है, कवियों के एक वर्ग ने अपने काव्य में

संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में करना आरंभ किया। उन्होंने संस्कृत पुराणों, गीतों और काव्यों से सीधे प्रेरणा ग्रहण की। फलतः जो काव्य हमें प्राप्त होता है, उसका मुख जनता और जन-भावनाओं की ओर नहीं, पंडितों और शास्त्रों की ओर है। यह शोक का विषय है कि हिंदी कवियों ने अपभ्रंश की ओर कम देखा, संस्कृत की ओर अधिक देखा। इससे उनके काव्य में नागरिकता और सुसंस्कृति का समावेश तो हो गया, परन्तु जनकाव्य और जनगीतों की संस्कृति से वह बहुत दूर हट गया। हिंदी के वैष्णव-आन्दोलनों की प्रेरणा पुराण थे और उनमें संस्कृत साहित्य-शास्त्र की सारी मान्यताएँ आत्मसात कर ली गई थीं, मुख्यतः गोपियों और कृष्ण-सम्बन्धी प्रसंगों में। अतः वैष्णव काव्य अपभ्रंश की परंपरा से अलग हटकर पुराणों और शास्त्रों की ओर मुड़ा। रीति काव्य के कुछ कवियों ने प्राकृत और अपभ्रंश की इस काव्य-परंपरा से भी सहारा लिया परन्तु जनजीवन की गंगा-धारा से अलग होने के कारण यह काव्य भी अपभ्रंश के काव्य का स्थान नहीं ले सका। केवल सूफ़ी कवियों ने भाषा और विचारधारा एवं शैली की दृष्टि से अपभ्रंश की परंपरा को आगे बढ़ाया। उनके संस्कार पंडितवर्ग और शास्त्र से प्रभावित नहीं हुए। पिछले २००-२५० वर्षों में तो हमने संस्कृत की नागरिकता, तत्समता और परिपाटी-बद्धता को ही विकसित किया है। पुष्पदंत, स्वयंभू और सरहपा की कविताओं में

भारतीय जनता के जो सैकड़ों-हज़ारों मूल संस्कार बंधे हैं, उनको एकदम भुला दिया गया। परन्तु फिर भी ज्ञात-अज्ञात रूप से अपभ्रंश की कविता और अपभ्रंश के महाकवि हिंदी कवि को प्रभावित नहीं करते रहे हैं, ऐसा कहना आज बड़े साहस का काम होगा। केवल इन अपभ्रंश कवियों और परवर्ती हिंदी कवियों के बीच की कड़ी खो गई है। उसे फिर जोड़ना है। तभी हम अपभ्रंश के ऋण को ठीक-ठीक समझ सकेंगे।

[७]

ऊपर हमने हिंदी के प्रारंभिक काव्य (७५० ई०—१४०० ई०) की परिस्थिति का निर्देश किया है और उसकी कुछ समस्याओं को सामने रखा है। हिंदी का यह प्रारंभिक काव्य संस्कृत की परंपरा से सीधा नहीं जुड़ता, प्राकृत और अपभ्रंश के माध्यम से ही हम संस्कृत से उसका सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। खेद का विषय है कि प्राकृत की अधिक रचनाएँ उपलब्ध नहीं है और अपभ्रंश के सारे उपलब्ध साहित्य का अभी सम्यक् अध्ययन नहीं हो पाया है। आधुनिक लोक-भाषाओं के आविर्भाव से पहले सारे उत्तर-भारत में और गुजरात-महाराष्ट्र में साहित्य-रचना के लिए ५००-६०० वर्षों तक अत्यंत व्यापक रूप से अपभ्रंश का प्रयोग होता रहा। यह अपभ्रंश भी अलग अलग प्रदेशों में थोड़ी बदली मिलती है। पश्चिमी भारत की पैशाची अपभ्रंश का उल्लेख है, परन्तु उसका कोई भी उदाहरण

प्राप्त नहीं हैं। मध्य देश में नागर, उपनागर और मागध अपभ्रंश का राज था। पश्चिमी प्रदेश में नागर और पूर्वी प्रदेश में मागध। उपनागर किस प्रदेश की अपभ्रंश है, यह कहना कठिन है। कदाचित् नागर अपभ्रंश से यह अधिक भिन्न भी न हो। ब्राचड़ के दो रूप थे—एक गुजराती, दूसरा महाराष्ट्री। इस प्रकार अपभ्रंश के अनेक भेद-प्रभेद विद्वानों ने बताये हैं और इस विषय में बड़ा मतभेद है। परन्तु निश्चित रूप से नागर, महाराष्ट्री और मागध अपभ्रंश का ही नाम लिया जा सकता है। जैन कवियों की रचनाएँ नागर अपभ्रंश और सिद्धों की रचनाएँ मागध अपभ्रंश के अंतर्गत रक्खी जा सकती हैं। परवर्ती हिंदी काव्य की भाषा के अध्ययन के लिए इन अपभ्रंशों का अध्ययन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

चारणों, नाथों और पूर्ववर्ती संतों की रचनाओं में अपभ्रंश के शब्दों और भाषा-प्रयोगों का रूप बराबर मिलता है। जायसी के 'पद्मावत' (१५४० ई०) में अपभ्रंश शब्दों का इतना बाहुल्य है कि आज उसका समझना कठिन है। इसी समय सूर-सागर (१५२० ई०-१५४० ई०) और रामचरितमानस (१५७४) के द्वारा तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ा और अपभ्रंश के शब्द और प्रयोग धीरे-धीरे भुला दिये गये। उनके उद्धार कर लेने पर ही हम मध्ययुग की जनता के जीवन और संस्कृति की झाँकी पा सकते हैं। चारणों की पिंगल, नाथों की पश्चिमी खड़ी और पूर्ववर्ती संतों की अवधी और ब्रज अपभ्रंश की प्रादेशिक

परंपराओं का ही मध्ययुगीन विकास हैं। वस्तुतः ईसा की आठवीं-नवीं-दसवीं शताब्दियों का बहुत कम इतिहास हमें उपलब्ध है। यही समय राजपूतों के आविर्भाव और प्रारंभिक विकास का समय है। इतिहास से यह भी पता चलता है कि संस्कृत के स्थान पर आभीरों, जाटों और राजपूतों ने ही पहले-पहल लोकभाषा अपभ्रंश को अपनाया। हो सकता है, अपभ्रंश की कुछ नई रचनाएँ हमें मिल जायें और इस अंधकारयुगीन भारत के मुख पर से भ्रम की कालिमा हट जाये, हम उस समय के लोक-जीवन से परिचित हों और उन बातों को खोज निकालें जिन्होंने बहुत थोड़े समय में देश को इतना विश्रृंखल कर दिया कि पश्चिम के मार्ग से आकर कुछ थोड़े से ईरानी-तूरानी-पठान सात सौ-आठ सौ वर्ष तक इस देश पर राज कर गये। सतों, जैन साधुओं, योगिओं और सूफियों की साधनाएँ बहुत-सी अपभ्रंश रचनाओं के साथ लुप्त हो गई होंगी, परन्तु बाद के हिन्दी काव्य में उनके अनेक सूत्र बिखरे दिखलाई पड़ते हैं। जो हो, यह निश्चित है कि हिन्दी का प्रारंभिक काव्य पूर्ववर्ती भाषा, साहित्य और साधना से अनेक सूत्रों से सम्बद्ध है और परवर्ती काव्य की भाषा, साहित्य और साधना में उसी की स्फूर्ति, उसी का चिंतन, उसी का सौकुमार्य विकसित हुआ है और आगे बढ़ने पर हमें पग-पग पर पीछे मुड़ कर देखना होगा।

२

निर्गुण उपासना और निर्गुण भक्ति

हिन्दी कविता की एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रवृत्ति निर्गुण उपासना और निर्गुण भक्ति है। उपनिषदों (१२३० पू० ई०—६०० पू० ई०) में हमें पहली बार निर्गुण उपासना के दर्शन होते हैं और तब से अनेक रूपों में यह भावना हमारे इतिहास और साहित्य की संपत्ति रही है। उपनिषदों के समय में अर्थ-शून्य कर्मकांड की प्रधानता थी। उपनिषदों के ऋषियों को नई विद्या की आवश्यकता पड़ी—ऐसी विद्या जो मनुष्यों को अन्त-र्मुख और आत्ममुख कर सके। जीवन की महत्ता भुला दी गई थी। कर्मकांड क्यों किये जायें? कर्मों का अन्त कहाँ है? परन्तु कर्मकांडी इन प्रश्नों पर विचार नहीं करते थे। उपनिषदों के द्रष्टाओं ने चितसत्ता के विषय में अपनी अनुभूति के सहारे एक नये दृष्टिकोण का विकास किया। कर्मकांड की दलदल में फँसे पक्षी को अनन्त आकाश की उड़ान के लिए उन्होंने पंख दिये। उन्होंने कहा—इंद्रियाँ जड़ हैं और तमस-प्रधान हैं, अतएव उनसे जड़ वस्तुओं के बाह्य गुणों को ही जाना

जा सकता है। गुणों से परे जो हैं, उसे हमारी जड़ और तामस इंद्रियाँ ग्रहण ही नहीं कर सकतीं (केन० १-३, कठ० ६-६; मुं० ३-१।४)। प्रत्यक्ष से चलकर व्याप्ति के सहारे ही हम अनुमान तक पहुँचते है। परन्तु चितसत्ता का ज्ञान अनुमान द्वारा प्राप्त हो ही नहीं सकता। अपरोक्ष का परोक्ष के साथ कोई सीधा सम्बन्ध ही नहीं है। चितसत्ता अप्रमेय है (बृ० ४), अनुमान से उसे जाना ही नहीं जा सकता। अब एक ही साधन रह गया— शब्द। शब्द का अर्थ है आप्तवचन अर्थात् उन ऋषियों और द्रष्टाओं की उक्तियाँ जिन्होंने सत्य को आत्मसात् किया है। परन्तु आत्मवचन उस ज्ञान की आवश्यकता की ओर इंगित ही कर सकते हैं, साधना से ही यह ज्ञान प्राप्त होगा।

यह साधना क्या है? हमारी इंद्रियाँ बहिर्मुख हैं। इसीलिए मनुष्य बाहर संसार भर को देखता है परन्तु अपने को देख ही नहीं पाता। अमरत्व का इच्छुक अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी बना लेता है। बाहर से हटकर वह अपने भीतर आ जाता है। कछुए की तरह वह अपने अंग समेट कर ऐसा हो जाता है जैसे बाहर उसके लिए कुछ है ही नहीं। श्वेताश्वेतर उपनिषद् कहता है - नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः', २, ४, १; इसीलिए साधक को साधना-द्वारा बाहर की संवेदनाओं को अग्राह्य बना लेना चाहिए। इससे पाप क्षमा होंगे; नम्रता, शांति, सत्य, अन्तर्दृष्टि और सत्य की खोज की शक्ति का प्रादुर्भाव होगा।

तात्पर्य यह है कि उपनिषदों के ऋषियों-द्वारा बताया हुआ ज्ञान बाहर से नहीं आता—वह आत्मा के भीतर से ही विकसित होता है। आप्तवचन और सदाचार उसके विकास में सहायक हैं।

तपस्-द्वारा जब साधक आत्मशुद्धि कर ले और उसकी आत्मा सद्ज्ञान के लिए उपयुक्त पात्र बन जाय तो उसे सद्गुरु की खोज करनी चाहिए। उपनिषद् ग्रंथों में गुरु की बड़ी महत्ता है। 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ ही (उप+नि+षद्) 'पास बैठना' या गुरु के चरणों में बैठकर प्राप्त किया हुआ ज्ञान है। उपनिषद् बार-बार इस ज्ञान को रहस्यविद्या के नाम से पुकारते हैं। यह पवित्र विद्या है। यह गुरु का आशीर्वाद है। गुरु की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ही उपनिषद् कहते हैं—उत्तिष्ठित जाग्रत् वरान्निबोधत क्षुरस्य धारा दुरात्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति। कठ० १, ३, १४। छांदोग्य के छठे अध्याय के १४वें खंड में ऐसे पुरुष का दृष्टांत है जिसकी आँखें बँधी हुई हैं और जो गांधार देश से लाकर जनशून्य स्थान में छोड़ दिया गया है। वह चिल्लाता है—"मुझे आँखें बाँधकर लाया गया है और आँखें बाँध कर ही छोड़ दिया गया है।" तब उस पुरुष के बंधन को खोलकर कोई कहे कि गांधार देश इस दिशा में है, सीधा चला जा, तो वह एक ग्राम से दूसरे ग्राम पूछता हुआ गांधार में ही पहुँच जायगा। यह आँखों का बन्धन गुरु ही खोलेगा, वही स्थान की ओर निर्दिष्ट करेगा।

गुरु-शिक्षा (श्रवण) के पश्चात् मनन आता है। इसकी चार सीढ़ियाँ हैं—(१) मनन तपस् के रूप में, (२) मनन ध्यान और जप के रूप में, (३) 'ॐ' पर ध्यान, (४) प्रतीकोपासना अर्थात् प्रतीकों पर मनन। शिष्य को क्रमशः मनन की इन साधनावस्थाओं को याद करना होता है। इन साधनाओं का अन्त योग में होता है। योग 'युज्' धातु से बना है जिसका अर्थ है जोड़ना। जीवात्मा परमात्मा से संबंध जोड़ता है। रहस्यवादियों का विश्वास है कि इस तरह का असीम से ससीम से संबंध संभव है। कई उपनिषदों में योग की परिस्थितियों का वर्णन है, परन्तु श्वेताश्वेतर में इसका विशेष विवरण दिखाई पड़ता है। इस उपनिषद् के दूसरे अध्याय में योग की क्रियाओं और उनके प्रभाव का विशद वर्णन है।

योग का अंत ईश्वरदर्शन अथवा सत्यदर्शन में है। योगी ईश्वर या सत्य का साक्षात्कार कैसे करता है? इंद्रियों से कि मन से, अथवा अतीन्द्रिय, अतिबौद्धिक, अनुभूतिशून्य ज्ञान से। कठोपनिषद् के अनुसार चरम सत्ता इंद्रिय-ग्राह्य है ही नहीं। "न सदृशं तिष्ठति ससमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदां मनीषा मनसाभि क्लृप्तो च एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ते। २, ६, ६। उस धरम सत्ता को कोई देख नहीं सका है, न यह ही संभव है कि उसे हृदय, कल्पना अथवा मन से जाना जा सके। जो इस परम सत्य को जानते हैं वही अमरतत्त्व के अधिकारी होते हैं।

उपनिषद् आचार के दृष्टिकोण से ईश्वरानुभूति पर विचार करते हैं—"तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातु प्रासादान्महिमान आत्मनः" (क० १, २, २०)। जब आत्मा पापमुक्त होकर वीतराग हो जाता है, तब उसे परमात्मा की महत्ता का अनुभव होता है। आत्मा के अन्दर ही परमात्मा का साक्षात् होता है।

इसीलिए रहस्यवादी योगी आत्मशुद्धि से प्रारम्भ करता है। अपने भीतर अपनी आत्मा में ही वह उस अनन्त सत्य, अनन्त ज्ञान और अनन्त सौन्दर्य की खोज करता है। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर योगी की आध्यात्मिक यात्रा का वर्णन है—उसके अनुभव और उसके स्वप्न व्यक्त हैं। वह ध्यान की अवस्था में रूप, रंग नाद और अलौकिक प्रकाश का अनुभव करता है।

नीहारधूमार्कानलाना
खद्योत विद्युत्स्फटिक शशिनाम्।
एतानि रूपाणि पुरः सराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्ति करमाण योगी ॥ (श्वे० २)

"कुहरे और धुएँ जैसे, धूप, अग्नि और पवन जैसे स्फटिक और चंद्रमा जैसे रूपों में योगी रमता है।" वृहदारण्यक में भी एक स्थान पर लिखा है कि आत्मखोज में बढ़ते हुए योगी को केसरिया रंग के कपड़े, रक्त वर्ण तितलियाँ, अग्नि-शिखाएं, विकच कमल और आकाश में कौंधती हुई बिजलियाँ दिखलाई

देती हैं। बृहद् और मैत्री उपनिषदों में अनहद्नाद् का भी उल्लेख है। छांदोग्य उपनिषद् में लिखा है—तदस्मिन् शरीरे संस्पर्शे नोष्ठिायानं मिजानाति। तस्मैणां श्रुति :। यत्र केएर्यवपि गृह्य निवद मिवं, वह पुंरिव, अग्ने दिवज्वलत उपश्वणोति (३, १३, ८)"। "कान बन्द कर हम अन्दर के परम तत्त्व के अस्तित्व का अनुभव कर सकते हैं। तब विचित्र प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं—जैसे मेघगर्जन ध्वनि और विस्फोट ध्वनि।" जहाँ रंग-रूप के अनुभव की बात आती है, वहाँ उपनिषद के ऋषि अधिक मुखर हो जाते हैं—'हिरण्ये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलं। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तयदूगलविदोविदः (मु० २, २, ६)। 'हिरण्यमय कोश पर विरज और निष्कल ब्रह्म विराजमान है। वह समस्त ज्योतियों की ज्योति है जिसको आत्मविद् ही देख सकते हैं।"

परन्तु साधना से ऊपर है ब्रह्मानुग्रह (पुष्टि)। यमेवेष वृणते ते नवलभ्यः तस्मैस आत्मा विवृणुते तनूंस्वाम् (मु० ३, २, ३)। 'आत्मा जिसे चाहती है, उसे ही केवल आत्मा की अनुभूति होती है।' परन्तु साधना से जो आत्मशुद्धि होती है वह तो वांछनीय है ही। आईना जब स्वच्छ होता है तो उसमें प्रत्येक प्रकार का उज्ज्वल प्रतिबिंब दिखलाई दे सकता है। इसी प्रकार योगी को अपनी चरम साधना पर पहुँच जाने के बाद आत्मदर्शन हो जाता है। वह अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है। 'जैसे दीपक के सहारे मनुष्य वस्तु को ठीक-ठीक देख सकना

है, उसी तरह वह अपनी आत्मा के सहारे उस विराटात्मन् का दर्शन कर पाता है जो परम तत्त्व है जो अस्तित्व और नाश के परे है। (श्वे० २, १४, १५)।

निर्गुण संप्रदाय में जिस परिभाषा में ब्रह्म का वर्णन किया गया है, उसी परिभाषा में ईशोपनिषद् आत्मा के लिए कहता है—"वह चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और निकट है। वह सब वस्तुओं के भीतर है और बाहर है।" यह कहने से क्या तात्पर्य होता है, यह तो योगी ही जान सकता है। हम जो बाहर से देखते हैं, जो रहस्य के अन्त पुर में प्रवेश नहीं कर पाते, कैसे जान पायें कि आत्मा (ब्रह्म) की महत्ता और अनेकरूपता में ये समस्त विरोधी स्वभाव संश्लिष्ट हो जाते हैं। योगनिष्ठ पुरुष अपनी साधना की इस उच्चावस्था में ब्रह्म की सत्ता को अपनी सत्ता में एकाकार देखता है। 'अहमस्मि' और 'तत्वमसि' का उसे अनुभव होता है। इससे उसकी समस्त इच्छाएँ शांत हो जाती हैं। कर्म में उसकी रति नहीं रहती। शंकाओं का समाधान हो जाता है और संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। वह सत्य (ब्रह्म) को आत्मसात् कर लेता है। उसे परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। वृहदारण्यक और छांदोग्य उपनिषद इस अद्वैतावस्था का वर्णन उपनिषद् इस प्रकार करते हैं—'सपाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति गुह्यमानः। गुष्ट यदा पश्यति अन्यत्री शमस्य महियान भिति वीतशोकः।' 'जीव परुष के साथ एक ही वृक्ष

पर समासीन था परन्तु अपनी अकर्मण्यता के कारण शोक में मग्न था। जब परम शक्तिवान् सत्ता से उसकी भेंट हो जाती है तो उसमें अलौकिक शक्तियाँ आ जाती हैं और समस्त शोकों का नाश हो जाता है (मु० ३. १-२)।" 'जब मनुष्य पत्नी का आलिंगन करता है तो वह और कुछ भी नहीं जान पाता; जो भीतर हो रहा, जो बाहर हो रहा है, वह सब उसके लिए जैसे नहीं हो रहा। इसी प्रकार ब्रह्म जिसे मिल जाता है उसे बाहर-भीतर कुछ भी नहीं रह जाता—न माता, न संसार, न ईश्वर, न दस्यु, न हत्यारा, न चांडाल। तब द्वैत नहीं रहता। ब्रह्म के अनंतर किसी भी वस्तु के अस्तित्व की चेतना नहीं रहती (बृहद० ४, ३, २१-२२)। "जसे बहती हुई नदियाँ समुद्र में लोप हो जाती हैं उसी प्रकार नाम-रूप खोकर विद्वान् (योगी) ब्रह्म में अन्तर्धान (लीन) हो जाता है (मु० ३०२, ६-८)।" इस दृश्य में कर्ता और कर्म एक हो जाते हैं, ध्याता और ध्येय में कोई अन्तर नहीं रहता और जानना होना हो जाता है। नाम-रूप से उत्पन्न द्वैत मिट जाता है। परन्तु साधक के व्यक्तित्व की भावना या उसके अहम् का एकदम ही नाश नहीं हो जाता धीरे-धीरे ही ऐसा होता है। पहले तो एकता और विभिन्नता की भावनाएँ मिली होती हैं। परन्तु धीरे-धीरे एकत्व की भावना को प्रधानता मिलती है और द्वैत लुप्त हो जाता है। साधक ब्रह्म में मिल जाता है, उसमें डूबकर एकाकार हो जाता है। उसे इंद्रियातीत आनन्द की प्राप्ति होती है। आनन्द से भय का नाश

हो जाता है। भयहीन सत्ता में जिसकी स्थिति है, उसे भय कैसा ? (आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन। तैत्तिरीय० २, ४)। उपनिषदों की यह निर्गुण रहस्यवादी विचार-धारा कबीर के साहित्य में संपूर्ण रूप से मिल जाती है। यह कहना कठिन है कि यह भावधारा कबीर में किस प्रकार आ गई। गोरखनाथ, रामानंद और नामदेव—इन तीन प्रतिभा-शाली महापुरुषों से इस प्रश्न का गहरा संबंध जान पड़ता है। कदाचित् बौद्धों की अनात्ममूलक वज्रयानी रहस्यवादी विचार-धारा के सम्मुख गोरखनाथ ने उपनिषदों की आत्ममूलक निर्गुणी रहस्यवादी धारा को प्रतिष्ठित किया। सिद्धों के आत्मानुभूति-परक अनेक शब्द उन्होंने अपना लिये, परन्तु जहाँ सिद्ध गुह्य, वामाचार और पंचमकार में फँसे हुए थे, वहाँ गोरखनाथ ने तप, इंद्रिय-दमन, आत्मशुद्धि और योग को श्रेय दिया। वास्तव में गोरक्ष कभी सिद्ध रहे होंगे—सिद्धों में मीनपा और गोरक्षपा के रूप में मछेन्द्रनाथ और गोरखनाथ प्रतिष्ठा पा ही रहे हैं—परंतु सिद्धों के वामाचार से ऊबकर गोरख ने उससे अलग हो एक नया ही पंथ खड़ा कर लिया। उन्होंने उपनिषदों के आत्मवाद और रहस्यवाद को अपना लिया, पतंजलि के योग से बहुत कुछ लिया, हठयोग की अनेक बातें लीं, और 'शिव' को 'आदिनाथ' मानकर अनात्मवादी सिद्धमत को आत्मवाद शैवमत का रूप दे दिया। उनके समय में शिव और शक्ति की उपासना पूर्वी क्षेत्र में प्रधानता पा रही थी—सारे भारत में ही शिवशक्ति

पूज्य थे—इसीलिए गोरख ने 'नाथपंथ' के रूप में नये शैवमत का प्रवर्तन किया। परवर्ती काल में नाथपंथ आनन्दवादी शैवतांत्रिक मत और साधारण शैव-शक्ति मत से अलग एक स्वतंत्र धारा के रूप में चलता रहा। रामानन्द प्रसिद्ध योगी थे। अतः नाथों की औपनैषदिक विचारधारा उनके द्वारा कबीर में पहुँच जाना असंभव नहीं है। नामदेव का महाराष्ट्र भी योगियों का केन्द्र था। अतः नामदेव और रामानन्द की विचारावली में बहुत कुछ साम्य है। नामदेव और रामानन्द के समय में दक्षिण में वैष्णव भक्ति की धारा बलवती रूप में चल रही थी। अतः योग और वैष्णव मतवाद का समन्वय इनके द्वारा हिन्दी को प्राप्त हुआ। रामानन्द ही वैष्णव भक्ति को उत्तर में लाये। 'आदिग्रंथ' में रामानन्द के दो पद हैं, उनसे वे जहाँ एक ओर हनुमान-भक्त जान पड़ते हैं, वहाँ दूसरी ओर स्वतंत्र चेत्ता निर्गुणी। जब तक रामानन्द का विशेष अध्ययन उपस्थित नहीं होता, तब तक यह कहना कठिन है कि उनके व्यक्तित्व में दो विभिन्न धाराओं (सगुण और निर्गुण) का सामञ्जस्य किस प्रकार संभव हो सका था, परन्तु निर्गुण उपासना और निर्गुण भक्ति के प्रवर्त्तकों में वह निःसन्देह महत्त्वपूर्ण हैं।

(क) सिद्ध

चौरासी सिद्धों का काल ८००-११७५ ई० है, परन्तु सिद्ध कवियों की परम्परा १२०० ई० तक निश्चित रूप से चली आती है। इस समय तक सिद्धों का कितना महत्त्व था, यह इस बात

से स्पष्ट है कि जयचंद के गुरु मित्रयोगी सिद्ध ही थे। इनका दूसरा नाम जगन्मित्रानन्द था। १२०३ ई० में मुहम्मद-बिन-बख्तियार ने सिद्ध-पीठ विक्रम-शिला को नष्ट कर दिया और विक्रम-शिला के अन्तिम प्रधान स्थविर शाक्य श्री भद्र तिब्बत चले गये। श्री राहुल सांकृत्यायन ने १२३३-१२७६ ई० में लिखे एक भोट-ग्रंथ के आधार पर सिद्धों की परम्परा इस प्रकार निश्चित की है:

सरह (आदि सिद्ध, महापंडित, ७५० ई०)
|
(नागार्जुन)
|
(शवरपा) ७८० ई०
|
लूइपा, ८३० ई० (राजा धर्मपाल ७६६-६०६ ई० के समकालीन)
|
दारिकपा
|
(वज्रघंटापा)
|
(कूर्मपाद)
|
जालंधरपा
|

कण्हचर्यपा, ८५० ई० (महाराज देवपाल ८०६-८४६ ई० के समकालीन)

|

गुह्यपा

|

(विजयपा)

|

तेलोपा ९५० ई०

ललितवज्र	नारोपा (नाउपाद मृ० १०४० ई०)	मैत्रीपा	दीपंकर श्रीज्ञान (९८२ ई०—१०५४ ई०)
		वज्रपाणि	

ये सब सिद्ध 'महासुक्ख' या 'निब्बान' के साधक थे। नालंदा इनका वज्रपीठ था। ये वज्रयानी कहलाते थे और वज्र-सत्व के उपासक थे। चौरासी सिद्ध प्रसिद्ध हैं। इनमें सरहपा या सरहपाद सर्वप्रथम आते हैं। सिद्धों की इस परम्परा में गोरखनाथ और उनके गुरु मत्स्येन्द्र का भी नाम है। सिद्धों ने जिस धर्म का प्रचार किया उसमें योग की साधना-प्रक्रियाओं और बौद्ध तांत्रिक मतवाद का प्राधान्य था। चित्त की सहजा-

वस्था की प्राप्ति को ही साधक अपना लक्ष्य मानता था। सरह कहते हैं—

चिअ सहज शून-सम्पन्ना।
काँध बिओएँ मा होहि विसन्ना॥

इसमें चित्त को सहज रूप से 'शून्य' करने का उपदेश है। सरह का ही एक दूसरा पद है—

चीअ थिर करि धरहु रे नाइ
आन उपाये पार ण जाइ
नौवा ही नौका शनअ गुणे
मेलि मेलि सहजे जाउण आणे

(तू किसी अन्य उपाय से पार नहीं जा सकता। चित्त को स्थिर कर। नाव का गुण पकड़ कर धीरे-धीरे किनारे-किनारे खींचता चल।) सहजावस्था में चित्त का शून्य से सम्मिलन होता था, जो अपार आनन्द का विषय था। भुसुकपाद कहते हैं—

भुसुक भनइ भइ बूझि अकेले
सहजानन्द महासुख लीहै

और कण्हपा इस आनन्द का रूपक-रूप में इस प्रकार वर्णन करते हैं—

कान्ह बिलरुआ आसव माता
सहज नलिनि बन पइसि निपाता

(कण्ह कहते हैं कि सहज के कमल-वन में प्रवेश करके मधुपान करो।) यह चित्त का निरोध और शून्य में उसकी स्थिति योग का विषय है। परन्तु योग में जो षटचक्रों का भेदन था, वह इन सिद्धाचार्यों को स्वीकार नहीं था। बौद्ध सिद्धाचार्यों ने "सहज" शब्द का अत्यन्त व्यापक रूप में साधन की सहज प्रणाली और सहजावस्था के लिए प्रयोग किया था। 'शून्य' में अवस्थित योगी का अनुभव एकदम अनिर्वचनीय था। उसे प्रकट करने के लिए भाषा की सांकेतिक शक्ति का प्रयोग आवश्यक था। सरहपा इस सहजावस्था के अनुभव का वर्णन यों करते हैं—

जहि मन पवन न सचरइ रवि-शशि नाइ पवेश
तहि वट चित्त विशाम करू सरहे करिअ उवेश
आद न अंत न मंझ णउ, णउ भव णउ निब्बाण
एहु तो परम महासुह, णउ पद णउ अप्पाण

(जिस बन में पवन नहीं जाती, रवि-शशि का प्रवेश नहीं होता, सरह उपदेश करते हैं, वहीं पर मन का विश्राम लाभ करो। वहाँ न आदि है, न अन्त है, न मध्य है, न भव अर्थात् संसार है, न निब्बाण है, यही परम सुख है। यह सुख जो आत्मा को इस सहजावस्था में प्राप्त होता है, न पराया है, न अपना।) संध्या-भाषा (प्रतीक-भाषा) का सहारा लेते हुए सिद्ध-साधक कहता है—

एकु न किज्जइ मंत न तंत ।
णिअ घरणी लइ केलि करंत ॥
णिअ घर घरणी जाव ण मज्जइ ।
ताव कि पंचवएण विहरिज्जइ ॥
एण जप-होमे मण्डल-कम्मे ।
अनुदिन अच्छसि काहिउ धम्मे ॥
तौ विणु तरुणि निरंतर नेहे ।
वोहिकि लागइ एण दि दोहे ॥

(न मंत्र करना है, न तंत्र । घरणी को साथ लेकर केलि करो । बस । इत्यादि) यहाँ "घरणी" का अर्थ 'गृहिणी' नहीं है यह स्पष्ट है । यह सांकेतिक शब्द है जो आत्मा का प्रतीक है । इस प्रकार की उलट-बाँसियों या प्रतीक-भाषा में कहने की चाल सारे सिद्धकाव्य में पाई जाती है ।

ये सिद्धसाधक स्वयं वाह्याचार और भेष-भूषा का विशाल आडंबर लेकर चलते थे, परन्तु वैसे वे वेद, पुराण, वाह्याचार, जातिभेद आदि के प्रखर बिरोधी थे । उनकी साधना 'चित्त-निरोध' की साधना थी जिसमें अतीव आत्मविरक्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला था । पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रकार की विचारधारा के सम्बन्ध में सरोरुहपाद (सरहपा) के दो उद्धरण दिये हैं—

बह्म णेहि म जाणन्त हि भेउ ।
एवद पढ़िअउ एच्चउ वेउ ॥

मट्टी पाणी कुरु लइ पढ़न्त।
घरहि बइसी अग्गि दुलन्त॥
कज्जे विरहई हु अवइ होमे।
अक्खि ऽहाविअ कडुएँ धुम्मे॥

(ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए थे, जब हुए थे, तब हुए थे। इस समय तो वे भी वैसे ही पैदा होते हैं जैसे दूसरे लोग, तो फिर ब्राह्मणत्व कहाँ रहा? यदि कहो कि संस्कार से ब्राह्मणत्व है तो चण्डाल को भी संस्कार देकर क्यों नहीं ब्राह्मण हो जाने देते। अगर कहो कि ये लोग हाथ में कुश लेकर घर में बैठे हवन करते हैं तो यदि आग में घी डाल देने से मुक्ति होती है तो क्यों नहीं सबको डालने देते? होम होने से मुक्ति होती है या नहीं, धुँआ लगने से आँखों को कष्ट जरूर होता है।)

दीह णक्ख जइ मलिणों वेसें।
णग्गल होइ उपाड़इ केसें॥
खवणेहि जाण बिडंबिअ वेसें।
अप्पण बाहिअ मोक्ख उदेसें॥

जइ णग्गा विअ होइ मुक्तिता सुणह सिआलह
लोमुप्पाड़णे अत्थिसिद्धि ता जुअइ विअम्वह
पिच्छी-गहणें दिट्ठि मोक्खता मोरह चारइ
उच्छे भोअणे होइ जाणता करिह तुणइ

(ये लोग कपट-माया फैलाकर लोगों को ठगा करते हैं। तत्त्व

तो ये जानते ही नहीं। मलिन वेश धारण किये फिरते हैं और शरीर को व्यर्थ ही कष्ट देते हैं। नंगे घूमते हैं और केश उखड़वा देते हैं। यदि नग्न दिगंबर को मुक्ति मिलती हो तो स्यार-कुत्तों की मुक्ति पहले होनी चहिये। यदि लोमोत्पाटन से मुक्ति होती है तो ऐसे बहुतों की मुक्ति हो जानी चाहिये जिन्हें लोम हैं ही नहीं। यदि पिच्छी धारण करने से ही मुक्ति होती है तो मयूर इसका प्रथम अधिकारी है। यदि उच्छ भोजन से मुक्ति होती है तो हाथी-घोड़ों की मुक्ति पहले होनी चाहिये।

इन सिद्धों के 'शून्य' को समझने के लिए 'शून्यवाद को जानना आवश्यक है। शून्यवाद बौद्ध महायान संप्रदाय की वह दार्शनिक शाखा है जो कहती है कि संसार में सब कुछ शून्य है, किसी की भी कोई सत्ता नहीं। दूसरी शाखा विज्ञान-वाद का कहना है कि जगत के सारे पदार्थ असत्य हैं, परन्तु चित के निकट फिर भी सत्य हैं। यह सत्य-असत्य अपेक्षिक बात है। नागार्जुन शून्यवादी है, परन्तु उन्होंने बीच का मार्ग पकड़ कर "अनिर्वचनीयवाद' की स्थापना की है। माध्यमिक शास्त्र (मञ्जयो, सं० ११७१) में नागार्जुन ने बताया है कि तत्त्व जैसा है वैसा उसका वर्णन असंभव है। वह शून्य है। शून्य ही से सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं और शून्य में ही वह लय हो जाते हैं। इस शून्य-रूप अनिर्वचनीय सत्ता की अनुभूति होने के कारण ही बुद्ध तथागत हैं। दृश्य पदार्थ भी शून्य ही हैं। शरीर भी शून्य ही है। शून्य को हम सत् कह

सकते हैं, न असत्। सत् और असत् दोनों भ्रम हैं। सापेक्ष गुणों के धीरे-धीरे निराकरण से प्रज्ञा प्राप्त होती है। इसे 'शून्य शून्य' भी कह सकते हैं। यहाँ शून्य का वही स्थान है जो कबीर के 'निर्गुण' का, जो निर्गुण भी नहीं है, सगुण भी नहीं है। सहजयानी सहज शब्द को शून्य के साम्यवाची अर्थ में प्रयोग करते हैं। नाथों और कबीर में शून्य, सुन्न, सहजानंद आदि एक ही तरह मिलते हैं। सहजावस्था की प्राप्ति को ही सिद्धों ने 'महासुक्ख' कहा है और मदपान से उसके आनंद की कल्पना की है।

सिद्ध संत अनात्मवादी थे। वह पिंड में ब्रह्माण्ड की बात कहते हैं। बुद्ध का नाम भी लेते हैं, परन्तु यहाँ बुद्ध शून्य-तत्त्व से अभिन्न है जैसे—

पण्डितअ सअल सत्थ वक्खाणइ
देहहि बुद्ध बसंत न जाणइ

(सारे पंडित सत्य ही कहते हैं। मूर्ख नहीं जानते। देह में ही बुद्ध का वास है।) बाद में शंकर ने इस 'शून्यवाद' का विरोध किया और अपने निर्गुण ब्रह्म की स्थापना की। इससे इस शून्यवाद ने योगियों और संतों में आत्मवाद का चोला पहन लिया परंतु शिव और राम के नाम-मात्र के पीछे 'सून्न' की भावना पूरी तरह छिप नहीं सकी। गोरख कहते हैं—

वस्ती न शून्यं शून्यं न वस्ती
अगम अगोचर ऐसा

इसमें गोरखनाथ ने उस आत्मतत्त्व में शून्यत्व का विरोध अवश्य किया परंतु यह एक प्रकार का अनिर्वचनीय शून्यत्व हो गया। नाथ-संतों ने शून्य को ब्रह्मरंध्र और भँवरगुफा कहा। डा० बड़थ्वाल 'नागार्जुन' के संबंध में लिखते हुए कहते हैं—

"तत्त्व को अस्ति और नास्ति, सत् और असत् से बाहर बतलाना वस्तुतः नागार्जुन की शैली का अनुसरण करना है। निर्गुण कवियों पर यह प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। कबीर कहते हैं—

सोई ये जाने पीर हमारी, जिन्ह शरीर यह ब्यौरी
जन कबीर ठग ठग्यो है बपुरो सुन्न सयानी त्योरी

और दादू ने कहा है—

सहज सुन्नि एक ठौर है
सब घर सबही माँहि
वहाँ निरंजन रमि रहा
कोइ गुण व्यापै नाँहि

कबीर और दादू के इस सर्वव्यापी शून्य में नागार्जुनीयता विद्यमान है, यह उनके निम्नलिखित उद्धरणों से सिद्ध होता है—

कबीर

जहाँ नहीं तहाँ कुछ जाणि
जहाँ नहीं तहँ लेहु पछाणि
नाहीं देखि न जइए भागि
जहाँ नाहि तहँ रहिए लागि

दादू

नाहीं तहाँ तैं सब किया फिर नाहीं ह्वै जाइ।
दादू नाहीं होइ रहु साहिब सों ल्यौ लाइ॥

वास्तव में नागार्जुन से आती हुई दार्शनिक परम्परा हिन्दी में अपने शुद्ध रूप में भी दिखाई देती है।" (ना० प्र० पत्रिका, भाग ४ अंक ४) शून्य की साधना लगभग उसी तरह की रहस्यवादी साधना थी जिस तरह कबीर की साधना। साधारण लोक जीवन से इस साधना का मेल होना कठिन था। इसीसे इसमें अनेक प्रकार की विचित्रता थी। सिद्ध विचित्र भेष-भूषा बनाये रहते। उनके खान-पान भी अद्भुत रहते। वह युग चमत्कारों का युग था। प्रत्येक सिद्ध का अनेक चमत्कारों से संबंध हो गया। आज हम इन सिद्ध साधकों का ठीक-ठीक महत्त्व नहीं जानते परन्तु शंकराचार्य और उनके मायावाद की पृष्ठभूमि में रखने से उनकी महत्ता प्रगट होती है। वास्तव में शंकराचार्य ने वही कहा है जो इन सिद्धों ने। 'बुद्ध' शंकर के 'ब्रह्म' बन गये। शून्यवाद ब्रह्मवाद हो गया। यह स्पष्ट है कि सिद्धों की भावना औपनिषदिक

११९४१५

भावना से मिलती-जुलती है। मध्ययुग के निर्गुण काव्य में जिस रहस्यवाद के दर्शन होते हैं उसका मूल स्रोत सिद्धों की साधना और उनका काव्य ही जान पड़ता है। सच तो यह है कि सिद्धों ने महायान को अत्यन्त सहज, अत्यंत स्वाभाविक बना दिया था। यह मंत्र-तंत्रवाद से भिन्न, केवल मात्र आत्मशुद्धि पर निर्भर उस समय का लोकमत था। देह में बुद्ध (निःबाण-शून्य) की प्राप्ति के लिए कुण्डलिना की साधना भी इन सिद्धों को स्वीकृत थी। सरहपाद (७६० ई०) से २५० वर्ष बाद तक यह विचारधारा बराबर विकसित होती गई। बाद में इस विचारधारा को गोरखपंथियों और निर्गुणियों ने अपने-अपने ढंग पर अपनाया।

(ख) नाथ

सिद्ध कवि ७५० वि० सं० में वर्तमान थे और उनकी परंपरा सं० १२०० तक चली, परन्तु इस बीच में ही कुछ सिद्धों पर शिवाद्वैत का प्रभाव पड़ चुका था। वे शिव-शक्ति के उपासक हो गये और उन्होंने सिद्धों के संप्रदाय से अलग होकर नाथपंथ चलाया। आदिनाथ या जालंधरपाद इस पंथ के प्रवर्त्तक थे। कदाचित् पहले गोरक्षपा (गोरखनाथ) इन्हीं से दीक्षित हुए और बाद में उनके पहले गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने उनसे दीक्षा ली। बात यह थी कि सिद्धों की सांकेतिक भाषा ने अनाचार की वृद्धि में सहायता दी थी और इससे सिद्धपन्थ कलुषित हो गया था। पंच-मकारों (मीन, मदिरा, मैथुन, माणिक, मांस) का

सेवन चल पड़ा था। सिद्धों का तात्पर्य था कि सिद्धावस्था (या सहजावस्था) प्राप्त योगी पाँचों इंद्रियों का वहिर्गमन रोककर (उनको मार कर) फिर उनका सेवन करता है। इस अनाचार की वृद्धि के साथ "गुह्य" तंत्रों की स्थापना हुई। "घरणी" का अर्थ साधना की तीन अवस्थायें हैं जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं—अवधूती, चांडाली, डोम्बी (बंगाली)। उत्तरसिद्धपन्थ में संकेत को भुला दिया गया और अवधूती, चांडाली और डोम्बी से शरीर-संबंध स्थापित करने को ही योग समझ लिया गया। गोरखनाथ ने इन शब्दों के फिर नये अर्थ किये और नये संप्रदाय में आचार-विचारों और ब्रह्मचर्य की महत्ता की पूरी-पूरी स्थापना की। उन्होंने साधना के लिए हठयोग को स्वीकार किया, चक्रभेद की फिर प्रतिष्ठा की, कुण्डलिनी जाग्रत करने को योग (दिव्य मिलन) की प्रथम सीढ़ी बताया। उन्होंने आत्मवाद को माना। शिव और शक्ति ही तत्त्व हैं। कुण्डलिनी (शक्ति) शिव (सहस्रार, शून्य) से मिलकर अद्भुत आनन्द का विस्फोट करती है। अनेक साम्यों के कारण हम यह कह सकते हैं कि नाथपन्थ चौरासी सिद्धों के पन्थ का ही परिष्कृत रूप है। विद्वानों का मत भी यही है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन कहते हैं—"नाथ पन्थ चौरासी सिद्धों से ही निकला है।" "गोरख सिद्धांत संग्रह' में 'चतुर-शीतिसिद्ध' शब्द के साथ चौरासी सिद्धों में से आदिनाथ (जालन्धर) तथा छः अन्य सिद्धों के नाम मिलते हैं।

नाथों का समय सं० १००० से सं १४०० तक माना जाता है। कबीर के समय तक इस पन्थ में अवनति के लक्षण स्पष्ट हो गये थे। बाद में धीरे-धीरे निर्गुण संतमतों में ही इसके अनुयायी स्थान पा गये।

नाथपन्थ में हठयोग की प्रधानता थी। कबीर पर कम-से-कम प्रारंभिक दिनों में इस हठयोग का पूरा प्रभाव था, यह स्पष्ट था। बाद में उन्होंने केवल धारणा, ध्यान, समाधि आदि को स्वीकार किया और चक्रभेदन की ओर से दृष्टि हटा ली। परन्तु उन्होंने कितने ही पदों में कितनी ही बार कुण्डलिनी, इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि के सहारे नाद (अनहद) सुनने की रीति बताई है और श्वासनिरोध एवं चक्रभेद का उत्साहमय वर्णन किया है। यही नहीं, उनके पदों में हठयोग के सारे सांकेतिक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है जिससे उनकी वाणी साधारण जनता के लिए रहस्यमयी हो गई। हठयोग की साधना-प्रक्रियायें ही इन पदों की कुंजी हैं। यदि हम नाथपन्थ और कबीर के सिद्धांतों की तुलना करें तो बहुत कुछ साम्य मिलेगा। योगी शिवाद्वैत को और आगे बढ़ाकर चिन्मय सत्ता को "द्वैताद्वैत विकल्पना" (द्वैताद्वैत-विलक्षण) कहते हैं। इस द्वैताद्वैत से परे की सत्ता को 'नकारात्मक' परिभाषा में ही बताया जा सकता है। योगी कहता है—

न ब्रह्मा विष्णु रुद्रौ न सुरपति सुरानैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निर्नापि वायुर्न च गगनतलं नौ दिशो नैवकालः

नो वेदानैव संज्ञा न च रवि-शशिनौ नैविधिर्नैव कल्पः
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदे सच्चिदानन्द मूर्ते ॥

(सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति)

योगी अनुभूति को प्रधानता देते हैं, शास्त्रज्ञान को महत्त्व-हीन बताते हैं। वे आश्रम और वर्ण-व्यवस्था के क़ायल नहीं। वे स्मार्त आचार- विचारों के विरोधी हैं। पौराणिक देवताओं और अवतारों में वे विश्वास नहीं करते — उनकी हँसी उड़ाते हैं। योगी परमनाद या परम विंदु से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। षट्चक्र और उनके द्वारा 'अनहद नाद' की साधना भी योग का एक प्रमुख अंग है। उपरोक्त सभी विचारों में गोरखनाथ और कबीर में समानता है। परन्तु दोनों में जो भेद हैं, उन्हें भी समझ लेना बुरा नहीं है। ये भेद ही महत्त्वपूर्ण हैं। अवधूत (योगी) का लक्ष्य मुक्ति है, साधना है चक्रभेद या हठयोग, यद्यपि गोरखनाथ का हठयोग राजयोग ही है। कबीर का लक्ष्य भी मुक्ति है परन्तु उसमें जीवात्मा के अस्तित्व का एकदम नाश नहीं हो जाता। वह साक्षीभूत रहता है। रामानन्द से प्रभावित होने के बाद कबीर ने भक्ति को ही साधन-रूप में प्रधानता दी है। योगमत में इस प्रकार की भक्ति के चिह्न भी नहीं हैं। हठयोग में आसनों, मुद्राओं आदि की बड़ी महत्ता है, परन्तु कबीर ने उन्हें अस्वीकार किया है। वह गौण के पीछे पड़ना नहीं चाहते। योगी गार्हस्थ्य-वर्जन और काम-त्याग पर बल देते हैं। यद्यपि दूसरी बात कबीर को ग्राह्य है,

परन्तु इस हद तक नहीं। पहली बात को तो वे ज़रा भी नहीं मानते। इसके अतिरिक्त कबीर ने (या उनके बाद कबीर पन्थ ने) चक्रों की संख्या में भी वृद्धि की है। इस प्रकार अध्यात्म साधना को और भी विशद बनाया है। परन्तु यह सब कदाचित् कबीर के बाद का विकास है जिसके लिए कबीर को जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता। वास्तव में कबीर के मौलिक मतवाद को समझने के लिए सिद्धों और नाथों के सारे धार्मिक रहस्यों और स्वयं कबीर की प्रवृत्तियों को समझना आवश्यक है। परन्तु यह कठिन कार्य है। एक ही पारिभाषिक शब्द ने तीनों में नवीन अर्थों का प्रकाश पाया है। अर्थ की धारा कहीं संकुचित है, कहीं स्फीयमान। इस नये रूप को पूर्णतः ग्रहण किये बिना हम कबीर के सिद्धांतों के प्रति न्याय नहीं कर सकते। फिर भी यह समझ लेना है कि कबीर की अनुभूति में सिद्धों नाथों, सूफियों और भक्तों की भावधारा एक हो जाती हैं और विलक्षण रूप धारण कर लेती हैं ऊपर 'सिद्धसिद्धांतपद्धति' से जो उद्धरण दिया गया है उससे कबीर के इस पद की तुलना कीजिये—

राम निरंजन न्यारा रे, अञ्जन सकल पसारा रे
अञ्जन उत्पति ओ ओंकार, अञ्जन मांड्या सब विस्तार
अञ्जन ब्रह्मा-संकर-इंद्र, अञ्जन गोपी-संगि गोविंद
अञ्जन वाणी अञ्जन वेद, अञ्जन कीया नाना भेद
अञ्जन विद्या पाठ-पुराण, अञ्जन फोकट कथहिं गियान

अञ्जन पानी अञ्जन देव, अञ्जन की करै अञ्जन सेव
अञ्जन नाचै अञ्जन गावै, अञ्जन भेष अनन्ते दिखावै
अञ्जन कहों कहाँ लग केता, दान-पुंनि-तप-तीरथ जेता
कहै कबीर कोई बिरला जागै, अञ्जन छाँडि निरंजन लागे

योग की झाँकी कबीर की इस उक्ति में मिलेगी—

खेल ब्रह्माण्ड का पिंड में देखिया मर्यादा दूरि भागी
बाहरा भीतरा एक आकासवत सुषुमनाडोरि तहँ उलटि लागी
पवन को उलटि करि सुन्न में घर किया धर में अधर
भरपूर देखा
कहै कब्बीर गुरुपूर की मेहर सों तिरकुटी मद्ध दीदार पेखा
(शब्दावली, पृ० १०५)

वैष्णव भावना से तो कबीर का आधा साहित्य ही प्रभावित होगा। वैष्णव भक्तों की तरह कबीर भी अपने को हरि का बालक मानते हैं—

हरि जननी मैं बालक तेरा। काहे न औगुन बगसहु मेरा॥
सुत अपराध करैं दिन केते। जननी के चित रहै न तेते॥
यह गहि केस करै जो घाता। तऊ न हेत उतारै माता॥
कहै कबीर इक बुद्धि विचारी। बालक दुखी-दुखी महतारी॥

और कभी-कभी वह वैष्णव भक्तों की भाँति ही अत्यन्त गद्गद् भाव से परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण कर देते हैं—

माधौ, अब करिहौ दाया।
काम-क्रोध-अहंकार व्यापै, ना छूटै माया॥

उतपति व्यंद भयो जो दिन थें कबहूँ सच नहिं पायौ ।
पाँच चोर सँगि लाइ दिए हैं, इन सँगि जनम गँवाओ ॥
तन-मन डस्यो भुजंग-भामिनी, लहरी वार न पाए ॥
सो गारुड़ि मिल्यौ नहिं कबहूँ, पसरयौ विष भरमाए ॥
कहै कबीरा कासूँ कहिये, यहु दुख कोई न जानै ।
देहु दीदार विकार दूरि करि, तब मेरा मन मानै ॥
(क० ग्रं०, पृ० ३०८)

सच तो यह है कि कबीर के काव्य में उपनिषदों का निर्गुण मतवाद बौद्ध (सिद्ध), नाथ और निरंजनी धाराओं से प्रभावित होता हुआ नई वैष्णव भक्ति और वैष्णव विचारधारा को आत्मसात करता हुआ एक निश्चित दिशा की ओर आगे बढ़ता है। मध्ययुग में उससे अधिक प्रगतिशील विचारधारा की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

(ग) निरंजन

'निरंजन' शब्द का प्रयोग निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सिद्धों, नाथों और संतों की वाणियों में बार-बार हुआ है और निपट-निरंजन की कुछ कविताएँ हिन्दी वालों में बहुत पहले से लोकप्रिय रही हैं। परन्तु 'निरंजन-धारा' नाम से हिन्दी-साहित्य की एक उपधारा का उल्लेख पहले-पहल डा० बड़थ्वाल ने अपने उस अभिभाषण में किया है जो उन्होंने अखिल भारतीय ओरिएंटल कान्फ्रेंस (१६३८) के अध्यक्ष पद से दिया था। उनके अनुसार निरंजन-धारा भी सिद्ध, नाथ तथा निर्गुण धाराओं ही की

भाँति आध्यात्मिक धारा है। जिन साधकों और कवियों का इस धारा से संबंध है, वे हैं हरिदास, तुलसीदास, सेवादास, खेमजी, कन्हड़दास, मोहनदास, मनोहरदास, निपट-निरंजन, भगवानदास, प्रागदास। प्रागदास सुन्दर दास के समकालीन थे। राघोदास (१७१३ ई०) ने हरिदास को प्रागदास का शिष्य बताया है और लिखा है कि वह इन्हें छोड़ कर गोरख-पन्थी हो गया। संभवतः प्रागदास संत थे, हरिदास ने जोगियों की बहुत-सी बातें अपना ली होंगी और एक नया पंथ चलाया होगा। यही हरिदास निरंजनियों के आदिगुरु हैं। इन्हें हरि-पुरुष भी कहा जाता है। सुन्दरदास ने बड़ी श्रद्धा से इन्हें गोरख, जालंधर, कंथड, भर्थरी, कबीर और दादू के साथ याद किया है। इससे इनकी महत्ता पर प्रकाश पड़ता है। जगद्धरशर्मा गुलेरी के अनुसार हरिदास ने १५२०—४० ई० के बीच अनेक ग्रंथों की रचना की और अपना पंथ चलाया। पीपली, नागोर, अजमेर, टोडा, आमेर का इनसे संबंध है और कदाचित् योगियों की भाँति ये चमत्कार-प्रदर्शन में विश्वास रखते थे। बाद में भी यह निरंजन-पंथ राजस्थान में ही फला-फूला। अधिकांश निरंजनी गद्दियों के महन्त थे।

मुसलमानों के आक्रमण के समय राजस्थान योगियों का केन्द्र बना हुआ था और उनकी बड़ी-बड़ी गद्दियाँ वहाँ स्थापित हो गई होंगी। कबीर और संतों की वाणियाँ यहाँ सरलता से ली जा सकी होंगी और योगपीठ की तरह संतपीठ भी स्थापित हो

गये होंगे। परन्तु यह योगियों का मूल प्रदेश नहीं था, अतः यहाँ योगियों और संतों में उतना द्वेष नहीं होगा। हरिदास ने दोनों (कबीर और गोरख) को लेकर एक बीच का पंथ चलाया। नाथ और निरंजन दोनों नाम से उन्होंने निर्गुण को लक्ष्य किया। उन्होंने सगुणवाद से उस तरह का विरोध भी नहीं रखा जो कबीर के काव्य में लक्षित है। वे योगी-संत और सगुण-निर्गुण की सीमा पर रहे। रामानन्द में योग और भक्ति-तत्त्वों का मेल था। कबीरमत में ये दोनों ग्रहीत हुए। 'निरंजन पंथ' में प्रेम तथा योग-तत्त्व संभवतः रामानन्द या उन्हीं के सदृश किसी संत से आये हैं। ये प्रेम तथा योग-तत्त्व कबीर, रैदास और पीपा इत्यादि रामानन्द के प्रायः सब शिष्यों की वाणियों में पाये जाते हैं; इसलिए इनका मूलस्रोत गुरु में ही ढूँढ़ना चाहिए। इस बात का समर्थन रामानन्दकृत कहे जानेवाले 'ज्ञानतिलक' और 'ज्ञानलीला' नाम के छोटे ग्रंथों से भी होता है, जिसके अनुसार राघवानन्द ने रामानन्द को जो उपदेश दिये हैं उनमें योग का निश्चय रूप में समावेश है। महाराष्ट्री जनश्रुतियों में रामानन्द का संबध ज्ञानदेव के नाथपंथी परिवार से जोड़ा जाता है। (बड़थ्वाल : योग-प्रवाह, पृ० ५०) परन्तु संतों की अपेक्षा निरंजनी रामानन्द के व्यक्तित्व के अधिक निकट पड़ते हैं। वे योगियों और संतों के बीच की कड़ी तो हैं ही, उन्होंने सगुण मतवाद, अवतारवाद और मूर्तिपूजा को भी सह लिया है। इस प्रकार अपने समय

की योग, संत और भक्ति की तीन महत्त्वपूर्ण धाराओं को लेकर उन्होंने नया कल्याण-पथ खोजने की चेष्टा की है। राघोदास के भक्तमाल (१७१३ ई०) में १२ निरंजनी महंतों का विवरण है। अतः १५०० ई० से १७०० ई० तक संतधारा के अंतर्गत एक निरंजन उपधारा राजस्थान में चल रही थी, यह कोई भ्रम की बात नहीं। इस धारा का विशेष अध्ययन अभी नहीं हुआ है, न इसकी संपूर्ण सामग्री ही प्रकाश में आई है, यद्यपि डा० बड़थ्वाल ने निरंजनी वाणियों का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि निरंजन मत में निर्गुणियों की अनेक बातें हैं, उन्हीं की भाषा और उन्हीं के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। जिसे निर्गुणियों ने "उलटा मारग" या "मीन का मारग" कहा है, उसे ही निरंजनियों ने निरंजनी गोता मारना' कहा है। 'सुरति-निरति'-जैसे सन्तों के अनेक पारिभाषिक शब्द निरंजनियों में आये हैं। परन्तु निरंजनियों ने अपनी साधना को योग और सन्त-साधना के सम्मिश्रण से बनाया है। "निरंजनियों का यह उलटा मार्ग निर्गुणी कबीर के प्रेम और भक्ति से अनुप्राणित योग-मार्ग के ही समान है। निर्गुणियों की साधना-पद्धति उसमें विद्यमान है। निरंजनियों का उद्देश्य है इडा और पिंगला के मध्य स्थित सुषुम्ना को जागरित कर अनहदनाद सुनना, निरंजन के दर्शन प्राप्त करना तथा बंकनालि के द्वारा शून्य में अमृत का पान करना। जो साँच की डोरी उन्हें परमात्मा से जोड़े रहती है, वह है नामस्मरण। नामस्मरण में प्रेम और योग का पूर्ण

समन्वय है। साधक को अपना सारा अस्तित्व लगा देना होता है। साथ ही त्रिकुटी-अभ्यास का भी विधान है, जो 'गोरख-पद्धति' और गीता की भ्रूमध्य दृष्टि के सदृश है। इस साधना-पद्धति पर—जिसमें सुरति अर्थात् अन्तर्मुखी वृत्ति, मन तथा श्वास-निश्वास को एक साथ लगाना आवश्यक होता है—निरंजनियों ने बार-बार जोर दिया है। इसकी अंतिम अवस्था अजपा-जाप है, जिसमें श्वास-प्रश्वास के साथ स्वतः सतत नामस्मरण होने लगता है।

निरंजनी कविता में प्रेम-तत्त्व का महत्त्व योगतत्त्व से किसी भी मात्रा में कम नहीं है। इंद्रियों का दमन नहीं, वरन् शमन आवश्यक है और शमन में प्रेम-तत्त्व ही से सफलता प्राप्त होती है। इस तत्त्व की अवहेलना करनेवाले साधकों को हरिदास ने ख़ूब फटकारा है। प्रेमातिरेक से विह्वल होकर जब जीव (पत्नी की भाँति) अपनी आत्मा को परमात्मा (अपने पति) के चरणों पर निःस्वार्थ भाव से अर्पित कर देता है, तभी (प्रियतम-प्रियतमा का) महामिलन होता है। इन सब निरंजनी कवियों ने प्रिय के विरह से दुःखी प्रिया की भाँति अपने हृदय की व्यथा प्रकट की है।

निरंजनियों ने अपरोक्षानुभूति का वर्णन निर्गुणियों की ही सी भाषा में किया है। सफल साधना-मार्ग के अंत में साधक को अनन्त प्रकाश-पुंज की बाढ़-सी आती दिखाई देती है, जो 'जरणा' के द्वारा स्थिरता ग्रहण करने पर शीतल, झिलमिल

ज्योति के रूप में स्थिर हो जाती है। इस सहजानुभूति के प्राप्त हो जाने पर सभी बाहरी विरोध मिट जाते हैं। स्वयं यह अनुभूति भी उलटी या स्वविरोधी शब्दावली में ही व्यक्त की जा सकती है। हरिदास के कथनानुसार गुरु-शिष्य की अंतर्ज्योति को अनन्त सूर्यों के प्रकाश से मिला देता है × × × इन्हीं के शब्दों में सहजानुभूति बिना धन के चमकनेवाली बिजली है, बिना बादलों के होनेवाली अखण्ड वर्षा है × × ।

कबीर ने स्थूल पूजा-विधानों का, हिन्दुओं की सामाजिक वर्ण-व्यवस्था का एकदम खंडन किया है। निरंजनियों ने भी मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकांड का परमार्थ-दृष्टि से विरोध किया है अवश्य, किन्तु कैवल्य ज्ञान की उच्च अवस्था तक न पहुँच सकनेवाले साधारण श्रेणी के व्यक्तियों के लिए इन बातों की आवश्यकता भी उन्होंने समझी है। इसीलिए हरिदास ने अपने चेलों को मंदिरों से बैर अथवा प्रीति रखे बिना ही गोविंद की भक्ति करने का आदेश किया। तुरसी मूर्त से अमूर्त की ओर जाने के लिये 'अमूरति' को 'मूरति' में देखना बुरा नहीं समझते × × ।

इस प्रकार की प्रवृत्ति के कारण निरंजनी रामानन्द, नामदेव इत्यादि प्राचीन सन्तों के समकक्ष हो जाते हैं। विठोवा की मूर्ति के सम्मुख घुटने टेककर नामदेव निर्गुण निराकार परमात्मा के भजन गाया करते थे। और कहा जाता है कि रामानन्द ने तीर्थों और मूर्तियों को जल-पाषाण बताते हुए भी

शालिग्राम की पूजा का विधान किया था। संभवतः यही प्रवृत्ति अंत में भगवान निरंजनी कृत 'कार्त्तिक माहात्म्य', 'जैमिनी अश्वमेध' सदृश पौराणिक ढंग के ग्रंथों में प्रतिफलित हुई है।" (वही, पृ० ४४-४६)।

जो हो, निरंजनपंथ हिंदी संतकाव्य की एक महत्त्वपूर्ण धारा है जहाँ कदाचित् योगी, संत और भक्त सामान्य धरातल पर उतर आते हैं और जिसमें इन सभी मतवादों के स्वर बोल रहे हैं। हरिदास के समय में जितनी भी धार्मिक धाराएँ भक्ति-क्षेत्र में चल रही थीं, वे उन्हें ही समेट कर ले आये। विभिन्न मतवादों को साधना के एक केन्द्रीय मार्ग पर आते देखने के लिए इस धारा का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। निरंजनी साधकों में चाहे हमें सूर-तुलसी की प्रतिभा नहीं मिले परन्तु परवर्ती काल उनकी साधना से पूर्णतः प्रकाशित है। निरंजन कवियों की यह धारा बहुत बाद तक चलती रही। १५६३ ई० में निपट-निरंजन का जन्म हुआ। तुरसी को तो 'मानस'-कर्ता तुलसीदास का समकालीन होना चाहिए। इन निरंजन-साधकों की परंपरा १८०० ई० तक चली आती है। संभव है, इन कवियों और साधकों के संबंध में कुछ नई बातें सामने आयें, और फिर हठात् कुछ निश्चयों को बदलना पड़े।

(घ) संत

गोरखनाथ का नाथ-सम्प्रदाय जिस प्रकार सिद्ध-सम्प्रदाय का ही परिवर्तित आस्तिक, शैव और आत्मवादी रूप है, उसी

प्रकार सन्त-सम्प्रदाय नाथ-सम्प्रदाय से ही फूटे हैं, इसमें सन्देह नहीं। समय की परिस्थिति के साथ विचारधाराओं में आदान-प्रदान आवश्यक है। नई परिस्थितियाँ पुरानी चलती हुई धाराओं को नया रूप दे देती हैं। अनीश्वरवादी बौद्धमत ने ईश्वरवादी वैष्णव, शैव और योग-मतों के प्रभाव से युगांतर में नाथ-मत का रूप ग्रहण कर लिया। नई परिस्थितियों ने इस प्रभाव को और आगे बढ़ाया। धार्मिक क्षेत्र में कई बड़ी शक्तियाँ आ गई थीं। सूफ़ी निर्गुण रहस्यवादी ही थे। वैसे तो हिंदी प्रदेश को सूफियों का परिचय १००० ई० के बाद से ही होने लगा था, परंतु चौदहवीं शताब्दी तक हिंदू-धर्मवेत्ता सूफ़ी विचारधारा से विशेष परिचित हो गये होंगे। इस सारे समय में हिंदुओं की दृष्टि से अराजकता का राज रहा, अतः मंदिर-विध्वंसकों के विरुद्ध जहाँ एक दल धर्म की नई-नई व्यवस्था देकर हिंदू-भावना को नया पौराणिक रूप दे रहा था, वहाँ कुछ स्वतंत्र विचारकों ने (जैसे ज्ञानदेव, नामदेव और रामानंद) मूर्तिपूजा के प्रतीक-रूप को लोगों के सामने रखा और मूर्त्त को अमूर्त्त की ओर बढ़ने का प्रयास-मात्र कहा। निम्न वर्ग के लोगों ने (जिन्हें मंदिर-प्रवेश निषेध था और जो वर्ण-व्यवस्था से दुखी थे, इस संदेश का स्वागत किया और कबीर जैसे मुलमानी प्रभाव में पले या मुसलमान व्यक्तियों को भी यह मतवाद अच्छा लगा। सूफ़ी विचारधारा और इस नये आध्यात्मिक दृष्टिकोण में कोई विशेष अंतर नहीं था। नामदेव का समय

११६२ ई० – १२७२ ई० है और ज्ञानदेव (ज्ञानेश्वर) का समय ११६७ ई० – १२७२ ई० है। रामानंद का समय १२६६ – १४११ ई० है। परन्तु रामानंद की विचारधारा का पूर्वरूप उनके गुरु राघवानंद में मिलता है जिनका समय एक पीढ़ी पहले १२७५ ई० के आस-पास रखा जा सकता है। इन सबकी विचारधारा में बहुत साम्य है और इसके आधार पर संतकाल का समय १२५० ई० के लगभग होगा। विद्यापति (१३५० ई०) की कविता में संत-विचारधारा की झलक इस मत को पुष्ट करती है।

नामदेव और रामानंद की कुछ कविताएँ आदि ग्रंथ में सुरक्षित हैं, परन्तु ज्ञानेश्वर की कविताएँ अलभ्य हैं। उनकी दो कविताएँ इस प्रकार हैं –

१ निरगुन सागर अथाह पसारा।
वाको तरँग सकल संसारा ॥
उद्भव प्रलयहि वाते होई।
लेना एक और देना दोई ॥
सप्तहि सागर शायी कर्ता।
धरती जो कागद लिखो पंडिता ॥
एक अक्षर पढ़े न कोई।
लेना एक और देना दोई ॥
कहे ज्ञानदेव मन मौं धरियो।
सप्तहि सागर आगे धरियो ॥

पिंड में आवे-जावे कोई ।
लेना एक न देना दोई ॥ ×[1]
२ सो ही कच्चा बे कच्चा बे ।
नहीं गुरु का बच्चा ॥ टेक ॥
दुनिया त्यज कर खाक लगाई जाकर बैठा बन मों ।
खेचरि मुद्रा वज्रासन मों, ध्यान धरत है मन मों ॥
तीरथ करके उम्मर खोई, जोग जुगत करो सारी ।
धन कामिनि औ' कुंजर लागे जोग कमाया भारी ॥
गुप्त होय कर परगट होये, गोकुल मथुरा कासी ।
सिद्ध जू हुवे प्राण निकाले सत्य लोक के वासी ॥
शास्त्र में तो कुच नहिं रहूया, पुरान गायन माया ।
भेदविदी का मारग चलहा तन का लग का लीया ॥
कुंडलिनी कूँ खूब चढ़ावे, ब्रह्मरंध्र को जावे ।
चलता ह पानी के उप्पर, बोलत होवे सोई ॥
हुकुम निवृत्ति का ज्ञानेश्वर कूँ तीन उप्पर सेना ।
सद्गुरु की कृपा भई जद आपी आप पिछाना ॥ ×[2]

ज्ञानेश्वर ने 'अमृतानुभव' और ज्ञानेश्वरी (गीता की टीका) में अपनी गुरु-परंपरा इस प्रकार दी है— १. आदिनाथ

---

१. साहित्य-सम्मेलन रिपोर्ट पत्रिका : लेखक भास्कर रामचन्द्र भाले राव

२. लक्ष्मीधर वाजपेयी : सरस्वती, भाग २६ ।

(जालंधरनाथ), २. मत्स्येन्द्रनाथ, ३. गोरखनाथ, ४. गह्नीनाथ, ५. निवृत्तिनाथ, ६. ज्ञानेश्वर। श्रीयुत लक्ष्मण रामचद्र पांगरकर ने अपने 'ज्ञानेश्वर चरित्र' में 'गह्नीनाथ की लिखी एक हिंदी पुस्तक 'गह्नीप्रताप' का उल्लेख किया है जिसमें लिखा है—

गोरखसुत गह्नी कहे, नाथपथ की बानी।
ग्यानी जानत गुरुपुत होत, सो हि चढ़े निरबानी॥

इस छंद में गह्नीनाथ ने अपने को स्पष्ट रूप से नाथपंथ से सम्बन्धित कर लिया है। डॉ० बड़थ्वाल ने गह्नीनाथ की प्रसिद्धि का समय सं० १२८० (१२२३ ई०) माना है। निवृत्त-नाथ का जन्म सं० १२३० (११७३ ई०) में हुआ। जान पड़ता है, निवृत्तिनाथ से ही नई विचारधारा चली और योगी ज्ञाने-श्वर ने गीता की भक्तिपूर्ण चिंता को भी इसमें स्थान दिया। डॉ० बड़थ्वाल के अनुसार गोरखनाथ का समय १०५० संवत् (९४३ ई०) के लगभग है। अतः यह असंभव नहीं कि गोरख नाथ से २०० वर्ष बाद योगियों में बाह्याचार की इतनी प्रधानता हो गई हो कि स्वयं योगियों में ऐसा दल उठ खड़ा हुआ जो नैतिक जीवन, सहजसाधना और भक्ति पर बल देकर चलने लगा हो। ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन और रामानन्द ही इस नई संत-विचारधारा के अग्रणी हैं। इनकी अनेक वाणियाँ प्राप्त नहीं हुई हैं, परन्तु जो प्राप्त हैं, उनसे संत-विचारधारा को इस प्रकार रखा जा सकता है—'मूल में वह (ब्रह्म) निर्गुण सागर है। यह सारा संसार तरंग की भाँति उसी का

प्रसार है। धरती को काग़ज़ बनाकर स्वयं शेषशायी विष्णु भी उसके गुण लिखे तो पूरे नहीं होंगे। उस निर्गुण को पहचानने के लिए दुनिया तजकर भस्म लगाकर वन में बैठने की कोई आवश्यकता नहीं। न खेचरी मुद्रा और वज्रासन की। जोग कमाने के नाम पर जोगी तीरथ-यात्रा करते रहते हैं महंत बन जाते हैं। धन-कामिनी-कुंजर उनके पीछे लगे हुए। अपने को सत्यलोक का वासी बताते हुए चमत्कार दिखाते फिरते हैं। कुण्डलिनी योग और पानी के ऊपर चलना जैसी अनेक क्रियाएँ व्यर्थ हैं। निवृत्ति ने ज्ञानेश्वर को उपदेश दिया है कि इनके ऊपर रहना। सद्गुरु की कृपा से ज्ञानेश्वर (ज्ञानदेव) ने अपना स्वरूप पहचान लिया। [ज्ञानेश्वर] 'साधु चाल चलो। कंथा भर रखा और निश्चिंत रहो। नासिकाग्र पर ध्यान, खेचरी मुद्रा, प्राणायाम, ऊर्ध्वरेतत्व, सूर्य-चंद्र (प्राणायाम, इडा-पिंगला)-समागम को उपादेय समझो, परन्तु चाहे हठयोगी बनो या तिलक-माला-सुमरिनी लो, सबसे बड़ी चीज़ है नामस्मरण जिसके बिना योग-वैराग्य फीके हैं (योग-वैराग नाम मंत्र बिन फीका)। सद्गुरु को खोजो' (सद्गुरु मीलें तो दुख दारिद्र दूर करे) [राघावानन्द : सिद्धांत-पंचमात्रा]। साधु की संगत हरि की संगत है। नाम के समान न जोग-जग्य है, न तीरथ-व्रत, न दान। नाम जहाज़ है। वही एक अनेक रूपों में व्यापक है, जिधर देखो, वही है। चित्र-विचित्र माया में मोहित होकर विरला ही उसे ढूँढ़ने चलता है। सब गोविंद है। जैसे एक सूत्र

में दस सहस्र मणियाँ; वह प्रभु सब में ओत-प्रोत है। जीव-ब्रह्म जैसे जलतरंग, फेन-बुद्बुद। यह प्रपंच परब्रह्म की लीला है। वह हरि, मुरारी घट-घट व्यापी है [नामदेव]। गुरु ने बताया ब्रह्म चोआ-चंदन से पूजने की चीज नहीं, वह तो मंत्र (नाम) में है। जहाँ जाइए वहाँ जल की भाँति भरा हुआ है। [रामानन्द]

इस प्रकार आदि संत-भावना के ये तत्त्व थे :

१—ब्रह्म निर्गुण है। 'हरि', 'मुरारी', 'राम' उसी ब्रह्म के नाम हैं, वही 'भगवान्' है, 'गोविंद' है।

२—गुरु रमता ब्रह्म' है। सद्गुरु की खोज करो। वह (आध्यात्मिक) दुःख-दारिद्रय को दूर करेगा।

३—ब्रह्म घट-घट व्यापी है।

४—संसार सत्य है। वह ब्रह्म का प्रपंच, लीला-मात्र है। असत्य वह नहीं है।

५—जीव ब्रह्म है, जैसे जल-तरंग, फेन-बुद्बुद।

६—हठयोग (ध्यान, खेचरी, प्राणायाम, ऊर्ध्वरेतत्त्व, कुण्डलिनी-योग) चाहे उपादेय हो, परन्तु वह साधक को बहुत आगे नहीं ले जाता।

७—वाह्याचार चाहे वह भस्म हैं, या तीर्थयात्रा, या तुलसी-माला-चंदन, सब व्यर्थ हैं, असार हैं।

८—संत चमत्कार में विश्वास नहीं करता।

९—संत जोगियों-जैसे महंती अखाड़े नहीं बनाता, कंथा-भस्म उसका अवलंबन है। संतोष उसका धन है।

१०—सबसे प्रधान साधन है—नामस्मरण। रामानन्द के बारह शिष्य थे : अनन्तस्वामी (श्री आनन्द), कबीर, रैदास, पीपा, सैन, महानन्द, सुरसुरानन्द, भवानन्द, सुखानन्द, आशानंद, परमानंद। नाभादास ने रामानन्द के इन १२ शिष्यों को दशधा भक्ति का आगर कहा है। महात्मा गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन निरजनी संत तुरसीदास ने इस दशधा भक्ति के प्रकार यों बताये हैं: १ श्रवण, २ कीर्तन, ३ स्मरण, ४ हृदय-कमल-स्थित ज्योति स्वरूप ब्रह्म का ज्ञान (पाद सेवन), ५ समस्त ब्रह्माण्ड में ब्रह्म का प्रतिरूप देखना (अर्चन), ६ साधु, गुरु और गोविंद को एक समझकर वदना (वंदन) ७ हरिभक्ति (दास्य), ८ भगवान् को मित्र समझने की भावना और सब मार्गों में गोविंद की प्राप्ति पर विश्वास (सख्य), ९ दैन्य का भाव (आत्मनिवेदन)। इस नवधा भक्ति की संसिद्धि होने पर उसके उपरांत सर्वश्रेष्ठ प्रेमाभक्ति की प्राप्ति होती है, जो दशधा भक्ति का दसवाँ प्रकार हुआ। यह व्याख्या बाद की चीज है, परन्तु इससे निर्गुणियों के भक्ति-भाव पर प्रकाश पड़ता है। रामानन्द के शिष्यों में से हमें कई की रचनायें प्राप्त हैं। इन रचनाओं से यह नये सिद्धांत मिलते हैं :

११—प्रभु को जानने के लिए दूर नहीं जाना है। जो पिंड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। इसी मनुष्य-शरीर के भीतर परमात्मा का निवास है। इसी काया में नवनिधि की प्राप्ति होती है। यहीं देव, देवल, धूप-दीप-नैवेद्य सभी कुछ है। जो

खोजता है, वह पाता है। उस काया-स्थित परमतत्त्व को प्रणाम [पीपा]।

१२—कमलापति, राजाराम राय, निरंजन, पूरन परमानन्द, गोविन्द उसी ब्रह्म के नाम हैं। इस ब्रह्म (राम) की भक्ति रामानन्द ही जानते हैं। धूप-दीप-घृत से आरती सजा कर सेन पूजा करता है [सेन]।

१३—मतवाला अवधू (अवधूत=योगी) कहता है—कलाली (प्रतीकार्थ में गुरु), एक प्याला दे। कलाली ने प्याला दिया, परन्तु वह तीखा था, सिरका-जैसा था। जब अवधू ने पूछा कि कलाली यह क्या किया, तो वह बोला—"सच्ची मदिरा इस तरह सस्ती नहीं मिलती। पीनेवाले का सिर ही इसका मोल है। इस प्याले (ज्ञानामृत) को पीने से अमर हो जाता है।" सहज सुन्न में भट्ठी लगी है। चंद्र-सूर्य (इडा-पिंगला) साक्षी हैं। गुरु की ओर देखकर रैदास प्याला पीता है, [रैदास]।

१४—सदना और धन्ना के पदों में विरह-प्रधान भक्ति के दर्शन-मात्र होते हैं। 'केवल एक बूंद जल के लिए चातक (साधक) दुख पाता है। प्राण चला गया, तो समुद्र मिला किस काम आयेगा। जब डूब गया, तो नौका लाये तो किसे चढ़ाओगे। न मैं कुछ हूँ, मेरा कुछ है भी नहीं। सदना तेरा जन है। अवसर रहे अपने नाम की लज्जा रख लो [सदना]। भटकते-भटकते कितने जन्म बीत गये। विषय-(काम-सुख) की खोज में

मन रमा रहा, हरि-हीरा भूल गया। रे मन, तूने जाना नहीं, विषवृक्ष में मीठा फल कैसे लगेगा ? त्रिगुणात्मक जगत से तेरी प्रीति बढ़ती गई। आवागमन के चक्र में तू पड़ता रहा। गुरु ने ज्ञान का धन दिया। प्रेम-भक्ति का सुख जाना। धरणीधर (ब्रह्म) को धन्ना ने धन रूप में पा लिया। (धन्ना)

रामानंद और उनके शिष्यों की जो रचनायें हमें प्राप्त हैं, उनके सहारे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि रामानंद योग-भक्ति, सगुण-निर्गुण धाराओं के संगम पर खड़े थे। उनका झुकाव निर्गुण धारा की ही ओर था। उनके व्यक्तित्व और उनके जाति-पांति-विरोध ने उनके चारों ओर ऐसे व्यक्तियों को इकट्ठा कर दिया जो सभी वर्णों के थे—अधिकांश वहिष्कृत वर्णों के – परन्तु थे बड़े प्रतिभाशाली। इनके व्यक्तित्व और इनकी काव्य-प्रतिभा ने शीघ्र ही निर्गुण मत को सारे उत्तर भारत का सामान्य धर्म बना दिया। निश्चय ही वैष्णव सगुण भक्तिधारा आचार्यों, महात्माओं और सवर्णों का बल पाकर चलती रही, परन्तु १६ वीं शताब्दी तक उसको निर्गुण भक्तिधारा के सामने निर्बल बना रहना पड़ा। १६ वीं शताब्दी में महाप्रभु बल्लभाचार्य और महात्मा तुलसीदास के व्यक्तित्व और प्रचार के कारण सगुण भक्तिधारा अधिक प्रबल पड़ गई और उसी समय से संत कवियों को बराबर प्रभावित करती रही। परवर्ती संतों की रचनाओं में यह प्रभाव स्पष्ट है।

कबीर का समय १३६८ ई०—१५१८ ई० तक है। इस प्रकार

पूरी एक शताब्दी तक भारतीय जनता पर निर्गुण विचारधारा अविच्छिन्न रूप से राज करती रही। कबीर के मतवाद में वह सब विचार और भावनाएँ मिलेंगी जो आदि संतों में ऊपर बताई गई हैं। परन्तु उनके मुसलमान कुल, उनके समय के हिंदू-मुसलमान वैमनस्य और सूफ़ी प्रभाव के कारण कुछ नई बातें भी आ गई हैं :

१. रामानंद तक मूर्तिपूजा को प्रतीक-रूप मान कर उनका तीव्र विरोध नहीं किया गया।' सैना के पद में आरती उतारने की बात है। निरंजन-आरती नहीं, धूप-दीप-घृत आरती। परन्तु इस्लामी प्रभाव के कारण कबीर ने मूर्तिपूजा का विरोध अधिक तीव्रता से किया और इस तीव्र विरोध ने संप्रदाय का रूप ग्रहण कर लिया। अब तक जो एक सामान्य विचारधारा चली आती थी, वह संप्रदाय-भावना में बँध गई। कबीर के बाद तो कबीर-पंथ नाम से एक विशिष्ट संप्रदाय ही खड़ा हो गया।

२. रामानंद स्पष्टतः नाथपंथ से कोई विरोध नहीं रखते थे। उनके गुरु राघवानंद स्वयं प्रसिद्ध योगी थे और 'सिद्धांत पंचमात्रा' में राघवानंद ने रामानंद को जो उपदेश दिया है, उसमें योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहाँ उन्होंने वाह्याचारों का खंडन किया है, वहाँ वैष्णवों और योगियों के वाह्याचारों का भी खंडन किया है। परन्तु वे ध्यान-धारणा-मुद्रादि का विरोध नहीं करते। कबीर का जन्म गोरखपुर के पास मगहर स्थान

में हुआ था, या इस स्थान से उनका निकट का परिचय था। यहीं उन्होंने शरीर छोड़ा। वह योगियों के निकट संपर्क में थे। अतः उन्होंने ध्यान-धारणा जैसी दो-चार योग की बातें लेकर हठयोग को अस्वीकार कर दिया और 'सहज योग' (नाम-स्मरण और विरहभक्ति) की प्रतिष्ठा की। उन्होंने योगियों के अनेक रहस्यवादी प्रतीक (प्याला, शराब, कलाली, कुण्डलिनी, इड़ा-पिंगला, सुन्न देश) ले लिये, परन्तु उनका नाथ-पंथ से गहरा विरोध था यह "गोरख-कबीर-गोष्ठी' जैसे साम्प्रदायिक ग्रंथों से स्पष्ट हो जाता है।

३. रामानंद और उनके अन्य शिष्यों की भाँति अनेक विषय ऐसे हैं जिनमें कबीर का मतवाद वैष्णव-भावना से मिल जाता है। परन्तु सूफी भावना भी अनेक पदों में स्पष्ट है। विरह की साधना के प्रकाशन में कबीर ने सूफ़ी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। परंपरा कबीर का संबंध सूफ़ी-संत शेख़ तक़ी से जोड़ती है अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उस समय सारे पश्चिम भारत में सूफ़ी मत का आधिपत्य था, यद्यपि पंजाब में इसके साथ नाथपंथ भी चल रहा था। सूफ़ी बंगाल तक फैल गये थे। मुसलमान मत के प्रचार में इनके व्यक्तित्व, प्रभाव और चमत्कारों ने विशेष योग दिया। यह स्पष्ट है कि सूफ़ी हिंदूमत पर गहरा प्रभाव डाल रहे थे और दो-तीन शताब्दियों में नाथपंथियों के एकाधिकार को निर्बल करने में सफल हो गये थे। कबीर के प्रदेश में अब

भी सूफ़ी-भाव निर्बल नहीं थे। राघवानंद की 'सिद्धांत पंच-मात्रा' में सूफ़ियों के पहनावे (टोपी-लुग्गी और अलफ़ी) का उल्लेख है जो कदाचित् इस समय (१३ वीं शताब्दी में) योगियों ने ग्रहण कर लिया था। कबीर के काव्य में सूफ़ी विचारधारा अवश्य दिखलाई पड़ती है, यद्यपि 'बाशरा' (सूफ़ी शास्त्र-सम्मत) नहीं। उन्हें 'ज़िन्द' (बेशिरा =स्वतंत्र-चेत्ता) कहा गया है। कबीर के बाद के संतों ने भी सूफ़ी विचारधारा से बहुत लिया है, विशेषतः नानक ने जो सूफ़ियों के गढ़ पंजाब के संत थे।

४. कबीर पर मुसलमानी एकेश्वरवाद का भी प्रभाव है। इसी एकेश्वरवाद ने उन्हें दैवतवाद के विरोध की शक्ति दी है। यह प्रभाव इसलिए अधिक नहीं मालूम होता कि कबीर राम-रहीम को एक ही धरातल दे देते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, नामदेव और रामानंद योगप्रवाह से अलग एक सामान्य भक्ति की धारा के प्रवर्तक के रूप में आते हैं जो प्रतीक-रूप में मूर्त्ति और अवतार को मान रही थी, परन्तु जिसका लक्ष्य मूर्त्त के आगे अमूर्त्त था। विसोवा (विट्ठल, पंढ़ारपुर के विष्णु) के आगे गद्गद् भाव से नामदेव निर्गुण के गीत गाते थे और 'मंत्र' में ही ब्रह्म मानने वाले (देखिये हिंदी पद) रामानंद सालिग्राम की मूर्ति का पूजाविधान कर रहे थे। ज्ञानदेव और नामदेव की उत्तर भारत की यात्राओं का उल्लेख मिलता है,

परंतु वे उत्तर में अधिक नहीं रहे। रामानंद दक्षिण की भक्ति को उत्तर में लाये और काशी में ही बस गये। उन्होंने भी ज्ञानदेव और नामदेव की तरह विस्तृत यात्राएँ की होंगी, यह निश्चत है, पद में उन्हें 'रमत ब्रह्म' कहा गया है। रामानंदियों का विश्वास है कि रामानंद श्री वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी थे जिसके प्रवर्तक थे रामानुजाचार्य। कुछ दिन इस संप्रदाय में रहने के पश्चात् रामानंद इसके कठोर नियमों से क्षुब्ध हो गये और उन्होंने अपना प्रथक पंथ स्थापित कर लिया। परंतु रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद में उनकी आस्था बराबर वैसी ही बनी रही। इस बात पर भक्तमाल के लेखक नाभाजी ने संकेत किया है। परंतु रामानंद कट्टर विशिष्टाद्वैतवादी भी नहीं थे। यह इस बात से स्पष्ट है कि उनके संप्रदाय के मान्य ग्रंथ अद्वैतवादी रामकथाग्रंथ, अध्यात्म रामायण और अगस्त्य-सुतीक्ष्ण संहिता हैं। रामानंद के शिष्यों के साफ़ दो वर्ग हैं। अनंतस्वामी (श्रीआनंद), महानद, सुरसुरानंद, भवानंद, सुखानंद, आशानंद और परमानंद का एक निश्चित वर्ग है। संभव है, ये शिष्य रामानंद ने उस समय बनाये जब वे भी संप्रदाय में थे और इनके द्वारा रामोपासना और हनुमद्भक्ति का प्रचार किया। बाद में रामानंद ने इस शिष्यवर्ग से विच्छेद कर लिया जान पड़ता है, परंतु इन शिष्यों की परंपरा ने भी रामानंदी संप्रदाय स्थापित कर लिया। सगुण दाशरथि राम

और उनके पार्श्वद हनुमान की भक्ति इस संप्रदाय की विशेषता है। प्रवाद है कि रामानंद के किसी उदारचित्त स्वतंत्र कार्य से वैष्णव चिढ़ गये थे और क्षुब्ध होकर रामानंद ने उन्हें छोड़ दिया था। जान पड़ता है, इसके बाद संप्रदाय के प्रति उनका मोह नहीं रहा और वे वर्णाश्रम की उपेक्षा करते हुए अछूतों, स्त्रियों और मुसलमानों को भी रामभक्ति का उपदेश देते रहे। कदाचित् इस उत्तरकाल में उन्होंने वाह्याचार की नितांत उपेक्षा की और निर्गुण राम पर अधिक बल दिया। उच्चवर्ण के संकीर्णप्राण हिंदुओं ने इस नये संदेश की उपेक्षा की, परंतु निम्न वर्णों में उनका संदेश खूब फैला। रामानंद का रामानंदी रूप 'रामानंद आदेश' और 'सिद्धांत-पटल' में अब भी सुरक्षित है, परंतु उनके उस क्रांतिकारी रूप के खोज निकालने की आवश्यकता है जिसने कबीर आदि संतों के काव्य में प्रकाशन पाया है।

कबीर ने कोई संप्रदाय नहीं चलाया, न रैदास ने, परंतु उनके बाद कबीर पंथ और रैदासी पंथ खूब चले। कबीर पंथ की तो शाखायें-प्रशाखायें बन गईं। अन्य गुरु भाइयों के पंथ नहीं चले। वे आज भी अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के सहारे ही प्रेम और श्रद्धा पा रहे हैं। कबीर का क्षेत्र अवध रहा, यद्यपि वे पंजाब तक गये जान पड़ते हैं। रैदास का विशेष क्षेत्र राजस्थान रहा और वहाँ रैदासी महंतों की गद्दियाँ चल पड़ीं। हिंदू राज्यों में ये स्वतंत्र मत खूब फले-फूले। चित्तौड़ की रानी

झाली (मीरां की सास की सास) रैदास की शिष्या थीं और स्वयं मीरांबाई भी उदयपुर की रैदासी गद्दी की शिष्या रही होंगी मीरां के काव्य में रैदास का नाम समसामयिक के रूप में लिया जाता है. परंतु उस समय तक "रैदास" व्यक्तिवाचक नहीं, जातिवाचक शब्द हो गया होगा। मीरां पर रैदास का प्रभाव सूचित करता है कि १६०० ई० तक राजस्थान में रैदासी (संत) मत की प्रधानता थी और मीरां के समय में ही ब्रज के धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव वहाँ पड़ा। वल्लभकुल और चैतन्य-संप्रदाय में मीरां को दिक्षित करने की होड़ पड़ी थी—परंतु मीरां का अनुभव वैयक्तिक था, वे किसी संप्रदाय में नहीं बँधी। इस प्रकार १२५० ई० से १६०० ई० तक हम संतकाव्य को सारे हिंदीप्रदेश की धार्मिक भावना पर प्रमुख रूप से राज करते हुए पाते हैं। कबीर पंथ को विशेष रूप से धर्मदास (१४१८ ई०—लगभग १५४२ ई०) ने संगठित किया। कबीर-साहित्य में जिन-जिन विषयों पर लिखा गया है उन्हीं विषयों पर धर्मदास ने भी लेखनी चलाई है परंतु उनके साहित्य में वह भाग अधिक है जिसका संबंध पंथ की पूजन-विधि से है या आचार से। आरती, विनती, मंगल आदि विषय वैष्णव धारा का प्रभाव सूचित करते हैं। धर्मदास से कबीर की एक परंपरा चलती है, दूसरी परंपरा कबीर के पुत्र कमाल से। कमाल के संबंध में प्रसिद्ध है —

डूबा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल।

अवश्य ही इस पक्ति का लेखक धरमदासी कबीरपंथी होगा। सच तो यह है कि उस समय भी हिन्दू-मुसलमान-समस्या इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि कबीर-जैसा सुधारक भी उसे हल नहीं कर सका। अपने समय में कबीर हिंदू और मुसलमान दोनों के पूज्य रहे। हिंदी के कुछ विद्वान कबीर को मुसलमान मानते हैं, कुछ मुसलमान-पोषित। जान पड़ता है, कमाल ने कबीरपंथियों के विरुद्ध अपना स्वतंत्र मत चलाया। कदाचित् डा० ताराचंद का यह कहना ठीक हो कि कमाल पश्चिमी भारत के सूफ़ियों के संपर्क में आ गये थे और उनके साहित्य से भली भाँति परिचित थे। कबीर पंथी मुख्यतः हिंदू थे, उनमें वैष्णवों की पूजा – भावना घुस आई थी, अतः कमाल उनसे अलग रहे और स्वतंत्र रूप से हिंदू-मुसलमानों को शिष्य बनाते रहे। दादूदयाल (दादू) कमाल के ही शिष्य थे। श्री क्षितिमोहन सेन ने 'दादू' ग्रंथ में उन्हें स्पष्ट रूप से मुसलमान लिखा है। अतः मुसलमानों में ही कमाल का विशेप प्रचार हुआ। कदाचित् कबीर के जीवन-काल में ही कमाल स्वतंत्र रूप से धर्म-प्रचार करने लगे थे।

कबीर के बाद संत-साहित्य के सबसे महान् कवि दादू ही हैं। इनका साहित्य भी कबीर के साहित्य की तरह विशाल है। इन्होंने संत-साहित्य के सभी विषयों पर ५००० से ऊपर पद लिखे हैं। दादू की कविता का एक अंग सूफ़ी-साहित्य से बहुत निकट है। ऐसा लगता है जैसे वह सूफ़ी-सिद्धांतों की व्याख्या में ही लिखा गया है। दादू का संबंध राजस्थान से

है, अतः इनकी भाषा में प्रधानता मारवाड़ी भाषा की है। यद्यपि कहीं-कहीं गुजराती-मिश्रित पश्चिमी हिंदी भी मिलती है। इनके जीवन का उत्तरार्द्ध मारवाड़ में बीता और यही इनका रचना-काल रहा। बाल्य और किशोर जीवन में ये गुजरात में रहे थे। दादू की रचनाओं में प्रसाद गुण की अधिकता है और माधुर्य भी कबीर से कहीं अधिक है। इसका कारण यह है कि उनकी प्रवृत्ति कबीर की अपेक्षा कहीं अधिक नम्र और मधुर थी। वे सुधारक नहीं थे, जिस प्रकार कबीर थे। वे केवल साधक थे। उन्होंने भगवान को इस तीव्र व्यक्तिगत भावना से स्मरण किया है कि उनके पदों में प्रेममिलन और विरह का अत्यंत सुन्दर और मार्मिक चित्र उपस्थित हो सका है। इन पदों में दादू जैसे उस निर्गुण, निराकार, चिन्मय ब्रह्म से मिलने के लिए तड़प ही उठे हैं। ऐसे पदों में हमें सगुण भक्त-कवियों के पदों के समस्त गुण मिल जाते हैं। इनके अतिरिक्त वीरभानु (१६०३), लालदास (१६४२), हरिदास (नारायणी पंथ के प्रवर्तक), शिवरानी शिदोली, हरिराम पुरी, जद्दु, प्रतापमल्ल आदि संतमत में आते हैं। वीरभानु ने सतनामी संप्रदाय की प्रतिष्ठा की और लालदास ने लालदासी संप्रदाय की। मलूकदास (१६६१ – १७३९) और सुथरादास (मलूकदास के शिष्य) सत्तरहवीं शताब्दी के बड़े संत हैं। कबीर के बाद संतधारा का विशेष प्रचार हिंदी के पश्चिमी प्रदेश में हुआ और अधिकांश संतपीठ पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान और पंजाब में

मिलेंगे। दादूपंथ में दादू के अतिरिक्त सुन्दरदास, निश्चलदास, रज्जब, जन-गोपाल, जगन्नाथ, मोहनदास, खेमदास आदि कवि और साधक हुए हैं। दिल्ली के दक्षिण-पूर्व दोआबा में साध-पंथ (वीरभानु, १६५८ ई०) और पश्चिम में सतनामी पंथ चले। पंजाब में भी नानक (१४६६ – १५३८ ई०) की रचनाओं ने एक नये पंथ का प्रवर्तन किया जिसे गुरु गोविंद सिंह (१६६६ ई०-१७०८ ई०) ने 'सिख'– धर्म में बदल दिया। औरंगज़ेव के समय में इन संत-संप्रदायों को अपनी रक्षा के लिए तलवार सँभालनी पड़ी। १७०३ ई० में औरंगज़ेब और सतनामियों में नरनाल के समीप भीषण युद्ध का ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है। १७४३ ई० में जगजीवनलाल ने बारह-बंकी ज़िले में इस मत की पुनः प्रतिष्ठा की। सिखों के गुरुओं और दिल्ली के बादशाहों के संघर्ष की कहानी तो प्रसिद्ध ही है। जान पड़ता है, इस्लाम के आक्रमण के समय से ही संत, संन्यासी और साधु-समाजों के सैनिक अखाड़े बन गये थे। इनमें आत्मरक्षा का प्रबल भाव था। एक हाथ में दंड और एक हाथ में शास्त्र। तभी उस भयंकर परिस्थित में धर्म की रक्षा संभव थी। 'सिद्धांत पंचमात्रा' में बेलची और तुमाची (तमंचे) को सन्यासी के लिए अनिवार्य कहा गया है। औरंग-ज़ेब के समय में यह धर्मविद्वेष बढ़ा और संतों को अपना सैनिक संगठन और भी दृढ़ करना पड़ा।

निर्गुण पंथ (संतमत) में भिन्न-भिन्न धार्मिक संप्रदायों,

धर्मग्रंथों और रहस्यवादी संस्थाओं की बातें मिलती हैं। उसमें बुद्धमत के शून्य और निब्बान का भी स्थान है, वैष्णवमत की भक्ति भी है, वेदांत का अद्वैत है और गोरखनाथ का तंत्रवाद भी है। संतों की वाणियों में योग संबंधी जो विचार लिये गये हैं, वे पतंजलि और कपिल के योग-सूत्रों से नहीं, वरन् प्रचलित नाथ संप्रदाय से लिये गये हैं जिसमें इन प्राचीन योग-प्रणालियों का बौद्ध तंत्रवाद से अद्भुत मिश्रण हो गया था। इसीलिए निर्गुण संतों के योग को समझने के लिए योग के बिगड़े रूप (नाथ-संप्रदाय की क्रियाओं) को समझना आवश्यक है। इसी प्रकार बौद्धमत का जो है वह सिद्धों और गोरखनाथ के माध्यम से यहाँ प्राप्त हुआ है। सभी कुछ बिगड़े-सुधरे रूप में यहाँ मौजूद है।

हम उसे इन सबका बिगड़ा रूप कहें, परन्तु एक दूसरा दृष्टिकोण भी हो सकता है। स्वयं संतों का यही दृष्टिकोण है—यह कि उसमें प्राचीन भक्तों, धर्मों और संप्रदायों का सार ले लिया गया है। इसके लिए संतों ने विशेष परिश्रम नहीं किया। समय का प्रवाह ही ऐसा था और परिस्थितियाँ इस तरह से काम कर रही थीं कि यह अनायास ही हो गया। हम यह भी कह सकते हैं कि एक प्रकार से इन संतों ने मध्यमार्ग का प्रचार किया। यह मध्यमार्ग की परम्परा गीता, बौद्धमत, महायान, योगाचार और नाथसंप्रदाय से होकर निर्गुण पंथ तक आई। भारतीय मस्तिष्क की एक विशेषता यह है कि वह विद्रोह और

आमूल परिवर्तन में विश्वास नहीं करता। उसमें मध्यमार्ग से संतुष्ट हो जाने की प्रवृत्ति है। संतों ने ऐसा ही मार्ग जनता को दिया। भिन्न-भिन्न धर्मों, संप्रदायों और दर्शनों की धाराएँ निर्गुण पंथ के रूप में एकाकार हो गईं। यह प्राकृतिक प्रक्रिया थी। एकांतिक धर्म के विकास से लेकर रामानन्द के आविर्भाव तक यह मिश्रण होता रहा। रामानन्द में वैष्णव, वेदांत और योग की तीन धाराओं का मिलाप हो गया। कबीर ने इसको पैतृक संपत्ति-जैसा पाया। वास्तव में निर्गुणपंथ का रूप रामानन्द के समय में उनके द्वारा ही स्थिर हो चुका था। कबीर ने उसमें मूर्तिपूजा और अवतारवाद का विरोध जोड़ दिया। भक्ति में स्त्री-पुरुष के सांसारिक प्रेम के प्रतीक का आरोप भी उन्होंने ही किया। यह तीनों बातें उन्हें मुसलमानों से ही मिलीं अथवा उनके कारण ही उत्तेजना को प्राप्त हुईं। सामान्य ढंग से मुसलमान मूर्तिपूजा और अवतारवाद के कट्टर विरोधी थे, परन्तु सूफ़ियों ने स्त्री-पुरुष का प्रतीक लेकर प्रेम की एक नई पद्धति ही खड़ी की।

निर्गुणपंथ संतों के सामने एक विशेष संप्रदाय के रूप में खड़ा नहीं हुआ। कबीर स्वयं पंथों और संप्रदायों के विरोधी थे। स्वयम् हिन्दू धर्म और मुसलमान धर्म में विविध संप्रदाय थे जो एक दूसरे का विरोध करते थे। उन्होंने नया पंथ चलाने का प्रयत्न नहीं किया। उनका मत था कि

विधना के मारग हैं तेते ।
सरग नखत तन रोवाँ जेते ॥
(जायसी)

उन्होंने तो प्रत्येक धर्म का सार ग्रहण किया था और कोई भी इस नये (निर्गुण) धर्म को ग्रहण कर सकता था । उसे अपना मत छोड़ने की आवश्यकता नहीं थी । इससे स्पष्ट है कि कबीर प्रचलित मतों में सुधार चाहते थे, नया धर्म चलाना उन्हें वांछनीय नहीं था और निर्गुण की भावना के साथ पंथ की भावना चलती भी नहीं । पंथ की विशेषता कर्मकांड है । धार्मिक असहिष्णुता का यह कारण है कि मनुष्य केन्द्र को छोड़ कर बाहर के आचार-विचार को प्रधानता दे देता है और फिर इन वाह्याचारों में असमानता देखकर, तत्त्व न समझते हुए, दूसरे से अपने विचार मनवाना चाहता है । प्रत्येक धर्म-सुधारक चाहता है कि गौण को छोड़ कर प्रधान को पकड़े । बाहरी कर्मकांड तो प्रतीक मात्र हैं जिनके सहारे ऊँचे तत्त्वों (धर्म के ऊँचे स्तरों) तक पहुँचना होता है । सुधारक प्रतीक के पीछे सत्य की प्रतिष्ठा करता है और समय के अनुसार उसी एक सत्य के लिए नए प्रतीक गढ़ लेता है । यहाँ उसका कार्य समाप्त हो जाता है ।

परन्तु यही प्रतीक और वाह्याचार मनुष्यों को संप्रदायों में बाँधने के लिए आवश्यक हैं । निर्गुण मत में इनकी सत्ता ही नहीं मानी जाती । उसने न उपासना की व्यवस्था की,

न कर्मकांड की। वह तो सत्य को मानता है। जहाँ भी हो, वहाँ से उसे ग्रहण करना चाहिये। यह तो सारग्रहण है, पंथ नहीं।

मध्ययुग में तीन धाराएँ बहुत कुछ समानांतर चल रही थीं। एक तो गोरखनाथ का नाथपंथ, दूसरे निर्गुण और सगुण भक्तसंप्रदाय, तीसरे सूफ़ी मत। इस समस्त विस्तृत काल में ये धाराएँ बराबर अलग ही नहीं रहीं, बराबर मुड़ कर मिलतीं और फिर अलग होकर बहती रहीं। निर्गुण धारा में तो एक प्रकार से अन्य धाराओं का इतना जल मिल गया है कि लोग उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व पर ही शंका करने लगे हैं। इन धार्मिक धाराओं ने अपने समय की आवश्यकताओं को सफलता-पूर्वक पूरा किया। यह समय विदेशी संघर्ष का समय था यद्यपि १२०० ई० के बाद पश्चिम से आक्रमण रुक गये और मुसलमान भारत में ही बस गये जिसके कारण राजनैतिक संघर्ष कम हो गया (एक प्रकार से रहा ही नहीं), परन्तु दो विभिन्न विरोधी सभ्यताओं का संघर्ष अभी भी चल रहा था। यह राजनैतिक संघर्ष से भी अधिक महत्त्वपूर्ण था। हिन्दुओं को अस्तित्व बनाये रखना भी कठिन हो रहा था। राजनैतिक शक्ति तो उनसे छिन ही गई थी, परन्तु संभव था कि उनका धर्म, उनके समाज-संगठन, उनके आचार-विचार पर मुसलमानी धर्म की इतनी छाप पड़ जाती कि उनका रूप ही बदल जाता। यह समय हिन्दी भक्त कवियों के प्रादुर्भाव का

समय था। उन्हीं की चेष्टाओं से इस्लाम और हिन्दू धर्म के इस संघर्ष में हिन्दू धर्म की मौलिकता बनी रही। एक ओर तो मुसलमानों को हिन्दू धर्म और हिन्दू जीवन का सुन्दर चित्र दे कर हिन्दुओं के प्रति सहिष्णु बनाया, दूसरी ओर यही काम निर्गुण कवियों ने हिन्दू-मुसलमानों के मत की एक-सी कुछ बातों पर जोर देकर किया। उन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध किया। इस्लामी मूर्तिखंडन को श्रेय समझते थे। निर्गुणियों ने मूर्तियों की असफलता चिल्ला-चिल्ला कर कही। जब वे आप 'बुतशिकन' (मूर्ति-खंडक) थे तो मुसलमान उनका विरोध कैसे करते ?

निर्गुणी संतों ने इस्लाम के प्रभाव का सामना किया। उन्होंने एकेश्वरवाद का समर्थन नहीं किया, वे और आगे बढ़ गये। ईश्वर एक है, परन्तु 'एक' कहने से उसके सीमित अस्तित्व और द्वैतहीन होने का विचार हो जाता है। हम अपने विशेषणों से उसे बतला ही नहीं सकते। वह 'नहीं' भी नहीं है, एक भी नहीं हैं। वह सब संज्ञाओं और विशेषताओं के परे है। कबीर की कल्पना का साहब (ईश्वर) किसी भी एकेश्वरवादी के ईश्वर के आगे की चीज़ है।

संक्षेप में, संतकाव्य को हम मध्ययुग के धार्मिक समन्वय का काव्य कह सकते हैं। धर्म के क्षेत्र में समन्वय की भावना प्रधान थी। कबीर से बहुत पहले इसका जन्म हो गया था। नाथ-संप्रदाय के गोरखनाथ के एक शिष्य के 'काफ़िर

बोध' और 'अवलि सलूक' इसके प्रमाण हैं। कबीर और उनके समय के निर्गुणी संतों ने इस दिशा में श्रेयस्कर काम किया। कालांतर में संतमत शुद्ध नहीं रह सका। ग़रीब दास जैसे साधक सूफ़ी साधना में डूब गये—

मतवालों के महल की सूफ़ी क्या पावै
अरस खरदनी खीर है संतगुरु बतलावै
सुन्नदरीबेक हाट है जहँ अमृत चुवता
ज्ञानी घाट न पावहीं खाली सब करिता
ठाँ बिकै नहिं मौल कूं जो तुलै न तौला
कूँची सबद लगाय कर सतगुरुल पटल खोला
त्रिकुटी सिंघ पिछान ले तिरबेनी धारा
बेड़े बाट विहंगमी उतरे भौ पारा
अढ़सठ तीरथ ताल हैं उर तरबर माहीं
अमरकंद फल नूर के कोइ साधू खाहीं

दूलनदास सूर तुलसी की तरह वैष्णव भक्तों के रूपकों और पौराणिक आख्यायिकाओं का प्रयोग करते हैं—

जब ग़ज अरध नाम गुहरायो
जब लगि आवै दूसर अच्छर, तब लगि आपुहि धायो
पाँय-पियादे भी करुनामय, गरुणासन बिसरायो
धाय गयंद गोद प्रभु लीन्हों, आपनि भक्ति दृढ़ायो
मीरा को विष अमृत कीन्हों, विमल सुजस जग ध्यायो
नामदेव हित कारन प्रभु तुम, मिर्तक गाय जियायो

भक्त हिते तुम जुग-जुग जनमेउ, तुमहिं सदा यह भायो
बलि-बलि दूलनदास नाम की, नामहिं ते चित लायो

इस प्रकार संतों की रचनायें धीरे-धीरे वैष्णवों की विचार-धारा से प्रभावित होने लगी और वैष्णव आचार-विचारों के बीच में उन्होंने अपना व्यक्तित्व खो दिया। कालांतर में संतकाव्य में सूफ़ी सिद्धान्त और सगुण रामभक्ति मिल गये। जो हो, एक विशिष्ट ऐतिहासिक धारा के रूप में संतकाव्य का महत्त्व आज भी कम नहीं है और धर्म के क्षेत्र में संतविचार-धारा आज भी मर नहीं गई है।

३

राजपूत एवं हिंदू राजाश्रयों का साहित्य

(क) वीरकाव्य, चारण काव्य और प्रशस्ति काव्य

प्रांतीय भाषाओं में हिंदी ही ऐसी भाषा है जिसमें प्राचीन वीर काव्य, चारण काव्य या वीर प्रशंसा का काव्य उपलब्ध है। अन्य साहित्यिक भाषाओं में इस प्रकार का साहित्य तुलना में आधुनिक है। इसका कारण यह है कि इस काव्य-साहित्य का संबंध उस भौतिक संघर्ष से है जो मुसलमानों के आने से शुरू हुआ और सारे मुसलमान-काल तक चलता रहा।

संस्कृत वीरकाव्य में प्रथम स्थान रामायण (बाल्मीकि) और महाभारत (व्यास) का है। कालिदास के साहित्य में वीररस गौण रूप से आता है और वह उसमें सफल नहीं हैं। उनकी दृष्टि सदैव शृंगाररस पर रहती है। किरातार्जुनीय (भारवि) में हम वीररस का चमत्कारिक रूप पाते हैं। संस्कृत नाटकों में भी स्थान-स्थान पर वीररस के प्रसंग हैं जैसे उत्तर रामचरित का चतुर्थ अंग (भवभूति) अथवा वेणीसंहार (भट्ट-

नारायण)। सच तो यह है कि संस्कृत साहित्य में रामायण और महाभारत को छोड़कर वीररस बहुत कम मात्रा में है और वह अलौकिकता और अयथार्थता से अनुरंजित है। युद्ध-वीरता में स्थायी भाव है युद्ध में उत्साह, आलंबन शत्रु, उद्दीपन शत्रु-पराक्रम, अनुभाव गर्वोक्ति, संचारीभाव गर्व, तर्क, धृति, स्मृति, रोमांच आदि। इनमें से युद्ध और गर्वोक्ति का वर्णन ही अधिक मिलेगा। गर्वोक्ति में वाग्विलास तो यथेष्ट स्थान पर मिलता है और इसका कारण यह है कि संस्कृत काव्य के समय में वाग्चमत्कार प्रदर्शन की रुचि बढ़ चली थी। अतः वक्रोक्तियाँ ही विशेष मिलती हैं। इस सब काल में देश विदेशियों के आक्रमण से बचा रहा और गुप्त-साम्राज्य के बाद धीरे-धीरे पतनोन्मुख शांति में सुख की नींद सोता रहा। अतः कवि शृंगार की ओर जाकर उसके ही होकर रह गये।

हर्ष के समय में देशी भाषाओं का उत्कर्ष आरंभ हुआ और हर्ष की मृत्यु की दो शताब्दियाँ बाद हिंदी प्रदेश को विदेशी लोहे से टक्कर लेनी पड़ी। इस समय सारे देश में शिवशक्ति की पूजा चल रही थी। शंकर के मायावाद ने जनता के वीरदर्प को कुंठित कर दिया था और सारा भारत नाथ-पंथियों (योगियों, जोगियों) के चमत्कारों पर मुग्ध हो रहा था। देश के प्राण थे राजपूत, वे विलासिता में डूबे हुए थे। 'वीसल-देव रासो' (नल्ह नरपति) का नायक वीसलदेव पत्नी की ज़रा-सी बात को सहन नहीं कर सकता—कि उड़ीसा के राजा के

पास नौलखा हार है—उसे लाने के लिए निकल पड़ता है और लड़कर नहीं, उड़ीसा के राजा का अतिथि रह कर उसके कृपा-स्नेह से उसे प्राप्त करके लौटता है। कवि का उद्देश्य रानी राजमती के विरह का विशद चित्रण ही जान पड़ता है। इस ग्रंथ में हमें नायक के वीरत्व के दर्शन कहीं नहीं होते। वीसलदेव ऐतिहासिक व्यक्ति थे। दिल्ली की फ़ीरोजशाह की लाट पर ११६३ ई० की उनकी प्रशस्ति प्राप्त है जिसमें विग्रहराज (वीसलदेव इन्हीं का लोकप्रिय प्रसिद्ध नाम था) की दिग्विजय का कथन है। नल्ह का ग्रंथ ११५५ ई० की समसामयिक रचना है, परन्तु इसका विषय भोजराज की कन्या राजमती से विवाह और उड़ीसा-यात्रा इतिहास-सिद्ध नहीं। रचना लोकगीत के ढंग की है। वीर रस की दृष्टि से उसका कोई महत्त्व नहीं। इस समय के वीरभाव के दर्शन हमें निश्चय रूप से उन अपभ्रंश के दोहों में होते हैं जो हेमचंद के व्याकरण में उद्धृत हैं—

भल्ला हुआ जों मारिआ, वहिणि ! महारा कंतु।
लज्जेज्जंतु वचंसियहु, जइ भग्गा घरु एँन्त ॥३५१

जहिं कपिज्जइ सरिण सरु, छिज्जइ खग्गिण खग्गु।
तहिं तेहइ भड-घड-निवहि, कतु पयासइ मग्गु॥

कंतु महारउ हलि सहिएँ ! निच्छइ रूसहु जासु।
अत्थिहिं सत्थिहिं हत्थिहिं वि, ठाउ वि फेहइ तासु।

अम्हे थोवा रिउ बहुआ, कायर एव्व भणंति।
मुद्धि निहालहि गयण-मलु, कह जण जोण्ह करंति॥
खग्ग-विसाहिउ जहिं लहहु, पिय! तहिं देसुहिं जाहुँ।
रण-दुब्भिक्खे भग्गइ, विणु जुज्झेन बलाहु॥
पुत्तें जाएँ कवण गुणु, अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भूँहडी, चंपिज्जइ अवरेण॥
जइ भग्गा पारक्कडा, तो सहि! मज्झु पियेण।
अह भग्गा अम्हहँ तणा, तो तें मारिअ देण॥४१७॥
(भल्ला हुआ जो मारिया बहिनि! हमारा कंत।
लज्जिज्जेहु वयस्ययहिं, यदि भग्गा घर एन्त॥
जहँ काटिज्जै शरहिं शर, छिद्यै खड्गहिं खड्ग।
तहँ तेहीं भट-घट-निवइ, कंत प्रकाशै मग्ग॥
कन्त हमारो रे सखिअ, निश्चै रूसै जासु।
अस्त्रहिं शस्त्रहिं हाथियहिं, ठावहिं घोड़ै तासु॥
हम हैं थोड़े रिपु बहुत, कायर एमु भनंति।
मूढ़ निहारै गगन तल, कविजन जोन्ह करंति॥
खड्ग वै साहिब जहँ लहउ, पिय! तहँ देशहिं जाहु।
रण-दुर्भिक्षे भागई, विनु युद्धेहिं बलाहु॥
पुत्रे जाये कवन गुण, अवगुण कवन मुएहिं॥
जो बापे की भूमिड़ी, चाँपिज्जै अपरेहिं॥)

परन्तु चारण-काव्य की इस परंपरा में हमें सबसे प्रथम यही

नल्ह का वीसलदेव रासो मिलता है। इस रचना की तिथि पुस्तक में ही दी हुई है—

> बारह सै बहोत्तरां मँझारि
> जेठ बदी नवमी बुधवार
> नाल्ह रसायण आरंभई।
> सारदा तुठी ब्रह्मकुमारि॥

विद्वानों का मत है कि 'बाहर सै बहतराँहाँ' से तात्पर्य १२१२ सं० है। अतः यह रचना ईसा की बारहवीं शताब्दी के अन्त की है। राजपूतकाल में साँभर (अजमेर) के चौहानों का बड़ा महत्त्व है। चौहान-राजों में सबसे प्रमुख ऐतिहासिक आदि पुरुष विग्रहराज चतुर्थ हैं जो वीसलदेव चौहान के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने तुर्कों को युद्ध में परास्त किया और प्रतिहारों को विजय कर दिल्ली-पति बन गये। इस प्रकार दिल्ली-अजमेर को मिला कर एक बड़ा राज्य बन गया। इस राज्य की महत्ता इसलिये अधिक थी कि यह लाहौर और मुल्तान (तुर्क—साम्राज्य) की सीमा था। यही हिन्दुओं का अंतिम मोर्चा हो सकता था। डॉ० ब्हूलर ने काश्मीर से जिस पृथ्वीराज विजय (महाकाव्य) का उद्घाटन किया है और जो निश्चय ही ११७८ ई० और १२०० ई० के बीच की रचना है, उसमें चौहानों का वंशावृत्त इस प्रकार दिया है :

अर्णोराज (११३६ ई०)

महाकाव्य में इनका नाम नहीं है, परन्तु हम्मीर महाकाव्य और ग्वालियर और कमाऊं की पोथियों में 'जगदेव' नाम है

विग्रहराज चतुर्थ (=वीसलदेव, (११५३ ११६४)

सोमेश्वर (कर्पूरदेवी) (११७०-११७७)

पृथ्वीभट्ट

अपर गांगेय या अमर गांगेय

पृथ्वीराज (=राय पिथौरा) (११६३-६५)

हरिराज

[मृ० ११६२]

कनेडी (Kennedy) का कहना है कि वीसलदेव की सब से महत्त्वपूर्ण विजय दिल्ली की विजय थी। कदाचित् वीसलदेव ने अपने भाई सोमेश्वर का दिल्ली के तोमरराज से विवाह करा दिया और तोमरराज के निःसंतान होने के कारण पृथ्वीराज (सोमेश्वर और कर्पूरदेवी का पुत्र) दिल्लीपति हुआ। वीसलदेव साहित्यप्रिय राजा था। उसके राजकवि सोमेश्वर ने 'ललिता विग्रहराज नाटिका' लिखी और स्वयं विग्रह-राज ने 'हरिकेलि नाटिका' जो अब भी राजपूताना म्यूजियम (अजमेर) में पत्थर पर अंकित सुरक्षित है। वीसलदेव की

मृत्यु के समय अमर गांगेय की आयु थोड़ी थी, अतः पृथ्वीभट्ट ने उनका शासन-सूत्र सँभाला होगा। जान पड़ता है, ११६६ ई० में पृथ्वीभट्ट स्वयं ही अजमेर का अधिकारी बन गया। उसकी मृत्यु के बाद दिल्ली और अजमेर दोनों राज्य वीसलदेव के छोटे भाई सोमेश्वर द्वारा शासित होने लगे। इस तरह तोमर और चौहान-वंश एक ही झंडे के नीचे इकट्ठे हुए। इन्हीं सोमेश्वर का पुत्र पृथ्वीराज (राय पिथौरा) था। वास्तव में दिल्ली वीसलदेव के समय से चौहानों के हाथों में चला आता था। 'रासो' में जो अनंगपाल के पृथ्वीराज को गोद लेने की बात लिखी है, वह अनैतिहासिक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चारण-काव्य राजपूतों के अन्तिम दिनों को ही हमारे सामने उपस्थित करता है।

इन दिनों का सबसे प्रभावशाली राज्य कन्नौज के प्रतिहारों का था। हर्ष के बाद ही प्रतिहार या परिहार कन्नौज के शासक बन गये। हर्ष के बाद कन्नौज का सबसे यशःशाली सम्राट् यशोवर्मन था। इन्हीं के यहाँ रह कर भवभूति ने 'मालती-माधव' और 'उत्तर रामचरित' की रचना की। इनके बाद मिहिर भोज (८४० – ८९० ई०) तक कोई प्रसिद्ध राजा नहीं हुआ। मिहिर भोज का राज्य सतलज से काशी तक फैला हुआ था और समस्त राजस्थान और ग्वालियर तक का मध्य देश उसके आधीन थे। भोज के बाद महेन्द्रपाल और महीपाल कन्नौजाधिपति हुए। ९१६ ई० में महीपाल के राज्य में कन्नौज

पर दक्षिण के राष्ट्रकूटों (इन्द्र तृतीय) का अधिकार हो गया। धीरे-धीरे कन्नौज का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। सीमांत के प्रांत स्वतंत्र हो गये। शक्तिशाली कन्नौज अब अपने ऐश्वर्य का खंडहर मात्र रह गया। गुजरात स्वतंत्र हो गया और उसमें दसवीं शताब्दी के मध्य में सौलंकी वंश शासक बना। ग्वालियर चंदेलों का आधीन बन गया। इस प्रकार पश्चिमी मध्य प्रदेश कन्नौज के केन्द्रीय शासन से एकदम अलग हो गया।

दसवीं शताब्दी के मध्य में कई राजपूत वंशों का उदय हुआ। चौहान, परमार, चंदेला और गहरवार चार प्रसिद्ध वंश थे। चौहान अजमेर के शासक बने, परमार मालवा प्रदेश के। कन्नौज के परिहारों (प्रतिहारों) की शक्ति क्षीण हो रही थी। १०१६ ई० में जब महमूद गजनवी ने कन्नौज पर आक्रमण किया, तो वहाँ के शासक राज्यपाल ने विवशता दिखला कर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इससे राजपूत-वंश उसके विरुद्ध हो गये यद्यपि यह वंश कुछ दिनों और कन्नौज पर राज्य करता रहा (राज्यपाल – त्रिलोचन पाल—यशपाल, १०३६ ई० के लगभग)। १०६० ई० में गहरवार वंश के राजा चंद्रदेव ने कन्नौज पर अधिकार कर इस वंश को समाप्त ही कर दिया।

'बीसलदेव रासो' का रूप गीतिकाव्य का है। 'नल्ह' ने उसे गीतिरूप में ही सुनाया है, यह इस बात से भी प्रकट होता

है कि स्थान-स्थान पर 'नाल्ह आरंभई ...' 'नल्ह भणई' 'नाल्ह गाई' जैसे शब्दों का प्रयोग है। स्पष्टतः 'बीसलदेव रासो' सदैव ही गेय ग्रंथ रहा है। परवर्ती चारणों ने इसे मौखिक परंपरा द्वारा जीवित रखा है, अतः इसकी भाषा का रूप पूर्णतयः वह नहीं हो सकता जो नल्ह के समय की भाषा का था यद्यपि प्राचीनता की मात्रा इसमें अब भी यथेष्ट है। जिस समय बीसलदेव रासो की रचना हुई उस समय साहित्यिक रचना के लिए अपभ्रंश का प्रयोग होता था परन्तु जनभाषा 'पुरानी हिंदी' धीरे-धीरे मान्यता पाने लगी थी। प्रांत-भेद के कारण इस जन-भाषा के भी अनेक रूप रहे होंगे, अथवा आज की प्रांतीय बोलियों के प्राचीनतम रूपों का सम्मिश्रण उसमें रहा होगा। जो हो, 'बीसलदेव रासो' की भाषा में अपभ्रंश और पुरानी हिंदी के शब्दों के रूप मिलते हैं। वह स्पष्टतयः संक्रमण-काल की अवस्था सूचित करती है। कहीं-कहीं खड़ी बोली की क्रियाओं का भी आभास है। गुजराती की क्रियाएँ भी मिल जाती हैं। संस्कृत तत्सम शब्दों का भी अच्छी संख्या में उपयोग हुआ है और कभी-कभी कवि उनसे सरलतापूर्वक क्रियाएँ बना लेता है जैसे 'प्रणमूँ।' परन्तु अधिकांश संज्ञा शब्द प्राकृत तथा अपभ्रंश के तद्भव शब्द और देशज हैं। एक आश्चर्यजनक बात विदेशी शब्दों (फ़ारसी, अरबी, तुर्की) का प्रयोग है परन्तु इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि इस समय तक हिंदू जनता मुसलमानों से काफ़ी संपर्क में आ चुकी थी, अतः बहुत

से विदेशी शब्द जनता की बोलियों में प्रचलित हो चले थे। नल्ह की भाषा का जो रूप आज हमें प्राप्त है, उस पर विचार करने के लिए हमें यह समझ लेना होगा कि गीतिकाव्य होने के कारण नल्ह ने अवश्य ही अपने समय की जनभाषा में उसे लिखा होगा। दूसरे, ग्रंथ के मौखिक रूप से चलते रहने के कारण वह प्रत्येक पीढ़ी में जन-भाषा के समीप आता रहा होगा। जान पड़ता है, नल्ह राज-दरबार से दूर कोई लोक-गायक था; अतः उसने मुसलमानों की हार और उड़ीसा की दिग्विजय-यात्रा की बात ही नहीं कही—कथा के एक लोक-परिचित रूप को ही सामने रखा। इस प्रकार की कथायें कुछ साधारण परिवर्तन के साथ साहित्य में बराबर चलती आई हैं। इसी से इस ग्रंथ की इतिहास के रूप में थोड़ी भी महत्ता नहीं है।

'बीसलदेव रासो' के अनंतर हमें प्रक्षिप्त, परिवर्द्धित एवं परिवर्तित रूप में दो रचनायें मिलती हैं—पृथ्वीराज रासो (चंद) और आल्हखंड (जगनिक)। रासो १७ वीं शताब्दी में लिपिबद्ध हुआ है और आल्हखंड १६ वीं शताब्दी में। इतने समय तक चलती रचनाओं का कितना अंश मौलिक है, यह निश्चय करना कठिन है, क्योंकि भाषा, कथा, भाव सभी में परिवर्तन और परिवर्द्धन हैं। साहित्यिक दृष्टि से आल्हखंड महत्त्वपूर्ण नहीं है। ऐतिहासिक खोजों पर भी वह पूरा नहीं उतरता। जयचंद-प्रकाश, जयमयंक और जसचंद्रिका आज नहीं मिलते। सं० १३६० (१३०३ ई०) के हम्मीरकाव्य और

हम्मीर रासो (शार्ङ्गधर) और विजयपाल रासो (नल्ल सिंह) भी उपलब्ध नहीं हैं। १६ वीं शताब्दी की एक रचना श्रीपाल रासो (ब्रह्मरायमल्ल, १५७३ ई०) का उल्लेख खोज-रिपोर्टों में है, परन्तु ग्रंथ में वीररस का कुछ भी नहीं है, कथा-मात्र है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक कोई निश्चित रचना उपलब्ध नहीं यदि हम विद्यापति की 'कीर्तिलता' (१४०५ – १४०८ ई०) को छोड़ दें। १५ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वीरकाव्य मिलने लगता है। केहरी कवि (१५८३ ई० के लगभग वर्तमान) का एक उदाहरण हमें उपलब्ध है। इसके बाद तुलसी की रचनाये (मानस – कवितावली) आती हैं। फिर केशव की रतनबावनी, वीरसिंहदेव चरित, जहाँगीर जसचंद्रिका (सं० १६५० के लगभग)। १६ वीं शताब्दी और उसके बाद में दरबारों में चारणों, भाटों और प्रशस्ति-लेखकों के उपस्थित होने की परंपरा चल पड़ी। तब से हमें वीर-काव्य के कई रूप मिलते हैं :

(१) प्रशस्तिकाव्य जैसे छत्रसाल दशक, शिवाबावनी और गंग जैसे कवियों के फुटकर पद या कवित्त – सवैये

(२) खंडकाव्य जैसे गोरा-बादल का कथा (जटमल, १६२३ ई०)

(३) रासो-ग्रंथ जैसे राणा रासा (दयालदास, सं० १६७१-७६) गुणराय रासो और राय रासो (माधवदास, सं० १६७५ के आगे-पीछे)

(४) चारणों की बात और ख्यात

(५) हिंदू राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रीयता के प्रेमियों के काव्य जैसे भूषण के शिवाजी-संबंधी पद, पृथ्वीराज और दुरसा के उद्बोधन और वीरगीत। औरंगज़ेब के अत्याचार ने हिंदुओं में अनेक वीरों को जन्म दिया और दक्षिण में शिवाजी, राजपूताने में छत्रसाल और रामसिंह, हिंदी प्रदेश में नागा और जाट और पंजाब में सिखों ने उसका दृढ़ प्रतिरोध किया। फलस्वरूप इन सभी के संबंध में वीरकाव्य का निर्माण हुआ। भूषण और गोविंद के शिवाजी-संबंधी कवित्त-सवैये प्राप्त हैं।

उस समय सब दरबारों में कवि होते थे जो आश्रयदाता की सदा ही अतिश्योक्तिपूर्ण प्रशंसा करते थे। स्वयम् औरंगज़ेब के दरबार में सामन्त, श्रीकृष्ण भट्ट ('कलानिधि') आदि, कवि थे। जोधपुर नरेश महाराज जसवंत सिंह के आश्रय में जगाजी कवि ने 'रतन महेश दासो वचनिका लिखी'। महाराज छत्रसाल के दरबारी कवि गोरेलाल (छत्रप्रकाश), गढवाल नरेश फ़तेहशाह के कवि रतन (फ़तह प्रकाश और फ़तहशाह भूषण), कमाऊँ के राजा उद्योतचंद्र और स्वरूपसिंह बुन्देला के आश्रित मतिराम (अलंकार पंचाशिका और वृत्त-कौमुदी) आदि कवियों ने सुन्दर रचनायें उपस्थित कीं। इनके अतिरिक्त जंगनामा (मुरलीधर, सं० १७६६), छत्रसाल विरुदावली (नेवाज, सं० १७६५ के लगभग), भगवंतराय रासा (सदानंद मिश्र), जगतराम विजय (हरिकेश, सं० १७८०-९०) आदि

ग्रंथ भी हैं। कितने ही आश्रित कवियों के फुटकर वीररस छंद भी उपलब्ध हैं।

१८वीं शताब्दी में एक बार फिर हिन्दूपदपादशाही का स्वप्न दिखलाई दिया, परंतु वह मृगमरीचिका निकला। हाँ, देशी नरेशों के आश्रित कवि और चारण वीररस की कविताएँ लिखते रहे जैसे जोधपुर के करनीदास। १९वीं शताब्दी के आरंभ में सुजानचरित (सूदन), पद्माकर के छंद, अजीतसिंह फ़तह (दुर्गादास, १८५३), हिम्मत बहादुर विरुदावली (१७६५), अनूपप्रकाश (१८६०), जसभूषण और जसरूपक (१८०३), हमीरहठ (ग्वालकवि, सं० १८८१) वीररस की रचनायें हैं। पद्माकर, जोधा और चंद्रशेखर की भी कुछ रचनायें मिलती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि १६वीं-१७वीं शताब्दी में जो वीररस-काव्य की बाढ़ आ गई थी, वह उन्नीसवीं शताब्दी तक परपरा के रूप में चली।

इन कई शताब्दियों तक चलने वाली काव्य-धारा की कई विशेषताएँ हैं :

(१) डिंगल भाषा का प्रयोग। परंतु कुछ कविताएँ ब्रजभाषा में भी हैं, विशेषतयः १६००-१८०० ई० के कवित्त-सवैये।

(२) भाषा के प्राचीन रूपों, अनुस्वार और द्वित्व वर्णों का प्रयोग जैसे

प्रात सूर वंछई। चक्क चक्किय रवि बंछै।।
प्रात सूर वंछई। सुरटह बुद्धि बल सो इंछै।।

प्रात सूर बंछई। प्रात वर वंछि वियोगी ॥
प्रात सूर बंछई। ज्यों मु बंछे बर रोगी ॥
भय प्रात रत्तिय, जुरत दीसय, चंद मंदय चंदयौ
भर तमस तामस, सूर वर भरि, हास तामस छंदयौ
वर वज्जियं नीसान धूमि, घन वीर बरनि अंकूरयं
धर धरनि धाइर, करिप काइर, रस निसूर सकूरयं
गजघंट धनकिय, रुद्र धनकिय, सनकि संकर उद्धयौ
रन नंकि भेरिय, कन्ह हेरिय, दंति दान धनं दयौ
सुनि बीर सद्धइ, सबद पढ़इ, सद्द असद्धइ छंडूयौ
तिह ठौर अद्भुत, होत नूपदल, बंधि दुज्जन पंडूयौ
सन्नाह सूरज सज्जि घाटं, चन्द ओपम राजई।
मुकुर में प्रतिबिंब राजय, संत घन ससि साजई ॥
वर फल्लि बंबर, रोप आयो, त रोस सीसत आइए।
नब्विअ हस्त कि भान चंपक कमल सूरहि साइए ॥
वर वीरधा जोगिंद पत्तिय, कब्बि ओपम पाइयं।
तजि मोह माया, छोड़ कलवर, धर तित्थइ धाइयं ॥
संसार शंकर बंधि, गंज जिय, अंध बंधन हथ्थयं।
उन्मत्त गज जिमि नंख दीनी, मोहमाया सथ्थयं ॥
सो प्रबल यह जुग बंधि जोगी मुनी आरम्ब देबयौ।
सामन्त धनि जिमि षित्ति कीनी, पत्त तरु जिमि मेवयौ ॥

(प्रभात हो गया। सूर्य की बन्दना करो। चकवा-चकवी का निशांत होने के कारण मिलाप हो गया। वे सूर्य की बंदना

करते हैं। इसी समय सज्जन बुद्धि-बल के लिए भगवान की प्रार्थना करते हैं। वियोगी पक्षी सूर्य की वंदना करते हैं। रात भर कष्ट-शय्या पर पड़ा रोगी सुबह लाने वाले सूर्य की बंदना करता है।

प्रभात रक्तवर्ण हो गया। सेना जुड़ने लगी। चंद्रमा की प्रभा मंद हो गई। शूरवीर वीररस में भरे फिरते हैं। उनमें तमोगुण की प्रधानता हो गई है। रात्रि का हास-परिहास अब सब समाप्त। नगाड़े सुन्दर शब्द करते हुए बजने लगे। आकाश में रक्त सूर्य अंकुर के समान ऊपर उठ आया। धरती का हृदय दहल गया। कायर डरा। वीरों में रस जागा। हाथियों के गलों में पड़े बड़े-बड़े गजघंट बजने लगे। रुद्रताल बजने लगे। शंकर जैसे जाग उठे हों। रण की भेरी बजती है। वीरों के उच्चारण मंत्र-पाठ जैसे लगते हैं...। इत्यादि, इत्यादि...)। विद्यापति के अवहट्ठ ग्रंथ 'कीर्तिलता' में रणक्षेत्र-वर्णन देखिये—

चलै रुण्ड मुण्डो खरो बाहुदण्डो,
सिआरू कलंकोइ कङ्काल खण्डो।
धरा धूरि लोट्टन्त टुट्टन्ति काया,
लरन्ता चलन्ता पक्खालेन्ति पाआ॥

रुंड-मुंड पड़े हैं। बाहुदंड ऊपर उठ रहा है। शृगाल कंकाल के टुकड़े खरखोल रहे हैं। कटे हुए शरीर पृथ्वी पर धूलि में लोटते हैं। लड़ते हुए चलते हुए पैर श्रांत हो जाते हैं।

अरुज्झांल अन्तावली जालबद्धा।
बसा बेग बूडन्त उड्डन्त गिद्धा॥
गआडी करन्ती दिवन्ते भरन्तो।
महामासु खंडो परन्तो भरन्तो॥
सिआसार फक्कार सेल करन्तो।
बुभुक्षुवा बहू डाकिनी डक्करन्तो॥

(आँतों का लाल जाल पुर गया है। रुधिर और मेद के प्रवाह में उड़ते हुए गिद्ध फँस कर डूब जाते हैं। गजसुंड कटी पड़ी हैं और हाथी दिगंत को चीत्कार से भर रहे हैं। उनके लोथड़े-लोथड़े मांस कटे पड़े हैं। सियार 'हू-हू' करते हैं और डाकिनी बहू भूख को शांत कर डकार लेती है।) केशव की कविता पर डिंगल काव्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित है। परंतु वह मूलतः ब्रजभाषा में ही है। यह प्रभाव विशेष कर द्वित्व-वर्ण और अंत्यानुप्रास के प्रयोग में मिलता है—

सुनि रतनसेन मधुशाह सुव पंच सथ्थ नहिं लज्जिये।
कहि केशव पंचन संग रहि पंच गजै तहँ भज्जिये॥

'बीरसिंहदेवचरित्र' में कविता का बड़ा सुन्दर प्रयोग मिलता है—

ह्वै गयो पिठान बल मुगल पठानिन कौ,
भभरे भदौरियाऊ संभ्रम हिये छयौ।
सूखे मुख सेखति जे खस्योई खिस्यानौ खन्न,
गढ़ौ गह्यौ गाढ़ पाँउ एकौ न हतै दयौ॥

वीरसिंह लीनी जीति पति राजसिंह की
तुसार कैसो मार्यौ माझ केसोदास ह्वै गयौ।
हाथीमय हयमय हसम हथियारमय
लोहमय-लोथिमय भूतल सबै भयौ॥

रसोत्कर्ष के लिए कहीं-कहीं डिंगल का अनुकरण है और ट-वर्ग का प्रयोग जैसे

जहँ अमान पट्ठान ठान हिय बान सुउट्ठिव।
तँह केशव काशीनरेश दल रोस धरिट्ठिव॥
जँह तहँ पर जुरि जोर आरे चहुँ दुंदभि बज्जिय।
तहाँ विकट भट सुभट घुटक घोटक तन तज्जिय॥

इसके बाद भी अधिकांश वीररचना (चारण काव्य, बात और ख्यात को छोड़ कर) ब्रज में है यद्यपि उसमें कहीं-कहीं राजस्थानी के अनेक रूप मिलते हैं और वे उसे भ्रमात्मक बना देते हैं। संज्ञा-शब्द, कारकों के रूप तथा क्रियाएँ ब्रजभाषा की ही मिलती हैं :

(३) कृत्रिम डिंगल का प्रयोग

को अड्डुल्ल हरवल्ल को सुकरवल्ल भठिल्लइ।
किं गज ठल्ल मझिल्ल भूप छात्तल्ल छअल्लइ॥
दुज्जन कोण दुहिल्ल कहा कोतिल्ल सु सिल्लइ।
किं सु किन्न बनि निल्ल नेत किं पित्त सुल्लल्लइ॥
साहुल्ल मल्ल एकल्ल से रण भल्ल जे सल्ल जिन।
रावत्त महासिंध रहे न को आसुर मुहित॥

('राजविलास'—मान)

यहाँ डलुमा, हरावल, ढलना, मझला, भला, इकेला का डुल्ल, हरवल्ल, ढल्ल, मझल्ल, भल्ल, एकल्ल रूप आते हैं। यह प्रवृत्ति ध्वन्यात्मक प्रयोग के साथ मिलकर बराबर चलती है और यह कभी-कभी बुरी तरह हास्यास्पद हो जाता है—

श्रीधर दलबल प्रबल लखि लोकपाल रह लज्जि।
महमद सालेह वीरजू चढ़त कटक बर सज्जि ॥
सज्जदल रनकज्ज जनप्पं समज्जज्जय वर।
बंगग्गहनि मतंगगगननि उतु ंग गिरव्वर ॥
रंगग्गत्ति सुकुरंगग्गवन तरंगग्गति मुर।
पच्छदू भर थिर कच्छक्कख सुलच्छभ्भर हुर ॥

(श्रीधर – 'जंगनामा' से)

स नँ नँ नँ नँ नँ नँ छुट्टियं सर जुट्टियं नहिं छुट्टियं।
फ नँ नँ नँ नँ नँ नँ तब फुट्टियं मुर टुट्टियं धुप लुट्टियं ॥
ख नँ नँ नँ नँ नँ नँ घुट्टियं लगि बान सौं असि मुट्टियं।
ध नँ नँ नँ नँ नँ नँ चुट्टियं भर मुट्टियं गार घुट्टियं ॥

(सूदन : सुजानचरित)

इस प्रकार हम देखते हैं कि परवर्ती वीरकाव्य अधिकांश परंपरा का पालन-मात्र है।

सारे वीरकाव्य के अध्ययन से हम कई निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। उसमें राष्ट्रीयता और जातीयता की कोई भावना नहीं है। उसका अधिकांश भाग प्रशस्ति-मात्र है और कहीं-कहीं स्पष्ट रूप से ऐतिहासिक पराजय को भी जय बना देता है। जहाँ

इतिहास है भी वहाँ कल्पना का इतना मिश्रण हो गया है कि इतिहास आँख की ओट हो जाता है। भाषा, भाव, विषय-निरूपण—सभी में अनुकरण है। काव्य की दृष्टि से यह अधिक उत्कृष्ट नहीं। परंपरागत छंदों, उपमाओं आदि का प्रयोग इसी प्रकार का है। अधिकांश काव्य वर्णनात्मक है। महाकाव्य की परंपरा में यह काव्य नहीं आता। इसे वर्णनात्मक काव्य कहा जा सकता है। युद्ध-वर्णन, सेना-सज्जावर्णन, युद्ध के बाद का रणस्थल—सभी परंपरागत काव्य-वर्णनों से प्रभावित, इसीलिए एकरसता हो जाती है। पाठक सहज ही इससे ऊब जाता है। फिर भी कुछ दृष्टियों से यह काव्य महत्त्वपूर्ण है—

(१) इसके कुछ अंशों से इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।

(२) राजपूत स्त्री-पुरुषों की वीरता का जनप्रथित रूप इस काव्य में मिलता है और उनकी सभ्यता, संस्कृति आदि पर भी इस काव्य द्वारा प्रकाश पड़ता है।

(३) जनता की वीर-पूजा का वह रूप हमारे सामने आता है जो कई शताब्दियों तक प्रिय रहा है। हमारे इतिहास-पुरुषों और लोकनायकों को हमारी जनता ने किस रूप में देखा, यह हम जान पाते हैं।

जिसे हम शुद्ध वीरकाव्य कहते हैं, वह तो बहुत कुछ नष्ट हो चुका है। कदाचित् बहुत अधिक बना भी नहीं था। विदेशी शक्ति इतनी तीव्रता से देश पर छा गई कि शस्त्र लेकर सामान

करने का सवाल ही नहीं रहा। हमारा सब से पहला वीर-काव्य चंद का पृथ्वीराज रासो है। चंद इतिहास-प्रसिद्ध अंतिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज के सामंत और चारण थे। उनका काव्य इन्हीं से संबंधित है। चंद के मूल ग्रंथ में बराबर प्रक्षिप्त भाग जुड़ते रहे, कदाचित् १६वीं शताब्दी में यह ग्रंथ लिपिबद्ध हुआ। आज जिस भाषा में रासो प्राप्त है, वही इस बात का प्रमाण है। एक उदाहरण लीजिये। कवि युद्ध का वर्णन कर रहा है—

हत्थ हत्थ सुज्झै न, मेघ डंभरि मंडि रज्जी।
निसि निसीथ अंतरो, भान उत्तारि सथ सज्जी ॥
बिज्ज बीर झलक्कंत, पवन पच्छिम दिसि बज्जै।
मोर सोर पप्पीह, अवनि सक्कित घन गज्जै ॥
बंटी जु सिलह निसि सत्त मिलि, सधिय पंग दरबार दिसि।
चामंडराय दाहर तनै, लरन लोह कड्ढे तरसि।
पच्छं भौ संग्राम अग्ग अपछर बिच्चारिय।
पुच्छैं रंभ मेनिका, अज्ज चित्त किमि मारिय ॥
तब उत्तर दिय फेरि, अज्ज पहुनाई आइय।
रथ्थ बैठिऔ थान, सांझ तह कंज न पाइय ॥
भट सुभर परे भारत्थ भिरि, ठाम ठाम चुप जीति संधि।
उथकीय पंथ हल्लै चल्यौ, सुथिर सभौ देखिय नभ ॥
पंग जंगे पुलं। कूह मच्ची हुलं ॥ सार हुट्टे पलं। बग्ग मच्चे षलं ॥
हाल हालाहलं। सोव्व वित्थौ वलं ॥ गिद्ध कोलाहलं। अंत

दंती रुलं ॥ उद्ध पीपं छलं । चर्म अस्तिं तलं ॥ बीर निद्धी जलं । सिद्ध ठट्टे रूलं ॥ संभु मालं गलं । ब्रह्मचिंता चलं ॥ भूतविन्ता तलं । पत्थ पारथ्थलं ॥ देव देवानलं । फट्टि फारक्कलं ॥ घाम वज्जे घलं । सूर घुम्मै रूलं ॥ तार चौसट्ठिलं । वाह भूतं तलं ॥ रीतिपच्छी षिनं । तार आयासनं ॥

सूर उग्यौ ननं । कोट चड्ढ फनं ॥

स्वंयभू की भाषा से यह भाषा कहीं अधिक अर्वाचीन है । परन्तु इसमें प्राचीनता की भी काफ़ी मात्रा है, इसमें संदेह नहीं।

स्पष्टतय: इस प्रारंभिक हिंदी कविता में राजनीति की प्रेरणा नहीं है। इसी से हिंदी के साहित्य के संबंध में यह आवाज़ उठाई जाती है कि वह राजनैतिक परतंत्रता का साहित्य है, अतः उसमें भक्तों और संतों के निकम्मे सपने भरे पड़े हैं। इस बात की ओर सबसे पहले आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल ने ही इंगित किया था जिन्होंने भक्तिधारा को राजनैतिक निष्क्रियता का रूप देना चाहा। धीरे-धीरे आलोचकों और विद्वानों में हिंदी भक्तिकाव्य को प्रतिक्रियावादी मानने की चाल चल पड़ी।

पहली जानने योग्य बात यह है कि हिंदी में जिन धार्मिक धाराओं का प्रकाशन हुआ है, उनका प्रभाव मुसलमानों के आक्रमण से बहुत पहले ही चल पड़ा था। हो सकता है, राजनैतिक परिस्थितियों ने उस प्रवाह की गति तीव्र कर दी हो,

परंतु इससे अधिक कुछ भी नहीं हुआ। दूसरी शताब्दी के साथ हिंदू पुनरुत्थान का काल शुरू होता है और विष्णु को केन्द्र बनाकर भक्ति-पूजा आरंभ होती है। गज़नवी के समय में पुष्कर, सोमनाथ, वृन्दावन-मथुरा में विशाल मंदिर थे। मुसलमानों के आक्रमण के कारण मंदिर विध्वंस हुए, भक्ति का स्रोत अंतःसलिला की भाँति नीचे-नीचे बहने लगा। १६वीं शताब्दी में अकबर की धार्मिक सहिष्णुता के कारण यह फिर उभार पर आ गया। वृन्दावन में चार प्रसिद्ध कृष्णमंदिर बने और अनेक कृष्णभक्त संप्रदायों की प्रतिष्ठा हुई। यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि मुसलमान आक्रमणकारी सब मंदिर तोड़ सके थे। काशी, मिथिला और राजस्थान में मंदिर चल रहे थे। अतः भक्ति, मूर्तिपूजा और अवतारवाद की धारा अविच्छिन्न रूप से कई शताब्दियों पहले से चली आती थी।

इसके साथ हिंदी के पूर्वी प्रदेश में युग-युग से निराकार की भावना चली आती थी। यह प्रदेश ही शून्यवादी बौद्धों का केन्द्र था, यह भूलने की बात नहीं है। यहीं ब्रह्मवादी उपनिषदों की रचना हुई। अतः इस क्षेत्र में हिंदी के सिद्ध कवियों, गोरखपंथियों और संत कवियों का जन्म हुआ। फिर यह बात दूसरी है कि सामयिक परिस्थितियों के कारण इनकी वाणी किसी एक क्षेत्र में सीमित न होकर बंगाल से पंजाब और दक्षिण से महाराष्ट्र तक फैल गई। अहिन्दू माने जाने वाले अछूतवर्ग ने ही इन निराकारवादियों के उपदेशों को अधिक अपनाया। उच्चवर्ण

के केवल कुछ ही लोग इन आन्दोलनों के कारण अपनी सहानुभूति को विस्तीर्ण कर सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी के प्राचीन साहित्य पर राजनीति का बहुत कम प्रभाव है। जो भी है, वह परोक्ष में। वास्तव में भारतीय साहित्य में राष्ट्रीय चेतना बहुत कम है। संस्कृत साहित्य में इस प्रकार का कोई काव्य नहीं। हिंदू राष्ट्र की चेतना मेघदूत या रघुवंश में सन्निहित है, परंतु दूसरे प्रकार से। स्वयं संघर्षमय राजपूतकाल में भी पृथ्वीराज-विजय, राजतरंगिणी अथवा विद्यापति की एक-दो अवहट्ठ (अपभ्रंश) रचनाओं को छोड़ कर किसी महत्त्वपूर्ण रचना का उल्लेख नहीं मिलता। राजपूतकाल में साहित्य की प्रधान भाषाएँ संस्कृत और अपभ्रंश थीं। उनकी अपनी प्राचीन परंपराएं थीं। परंतु जनता में अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी आधुनिक भाषाएँ भी चल रही थीं। इस काल के अंत तक भी भाषाओं का स्वतंत्र रूप से विकास नहीं हो पाया था। इन्हें राजाश्रय प्राप्त नहीं हो सका था। फलतः इन्हें एकांततः जनता के आश्रय का मुँह जोहना पड़ा। इससे इनके विकास में देर हुई और १५ वीं – १६ वीं शताब्दी तक ये साहित्य में अपनाई न जा सकीं। हाँ, बोल-चाल की भाषा के रूप में गुर्जर-राजपूत भाषा (प्राचीन खड़ी या हिंदवी) खूब चली और साहित्य में इसी वर्ग में डिंगल (प्राचीन राजस्थानी)।

६५७ ई० में हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद हिंदू राष्ट्र छिन्न-

भिन्न हो गया। ७११ ई० में मुहम्मद बिन क़ासिम ने सिंध प्रदेश को मुस्लिम साम्राज्य में मिला लिया। ६ वीं शताब्दी के मध्य में भिन्न-भिन्न राजपूत राज्य स्थापित हुए। उस समय हिंदीप्रदेश में शक्ति के प्रधान केन्द्र थे कन्नौज, कालेंजर, मालवा, दिल्ली और अजमेर। १० वीं शताब्दी में पंजाब में पाल राजाओं का राज्य था। शताब्दी के अंत होते-होते इनकी गज़नी के मुसलमान केन्द्र के सुबुक्तगीन और महमूद से मुडभेड़ हो गई। १०२३ ई० में पंजाब मुस्लिम राष्ट्र हो गया। अब दिल्ली और अजमेर के प्रांत सीमाप्रांत हो गये। ७३६ ई० में तोमर राजपूत अनंगपाल ने दिल्ली में राज्य स्थापित किया। ११५१ ई० में अजमेर के चौहान राजा विशालदेव (बीसल देव) ने दिल्ली को जीता। अंतिम तोमरराज अनंगपाल ने अपनी कन्या विशालदेव के पुत्र सोमेश्वर को दी और प्रण किया कि इसके बाद सोमेश्वर का पुत्र ही दिल्ली का राजा होगा। यही पुत्र प्रसिद्ध राय पिथौरा (पृथ्वीराज) हुआ। ११६१ ई० की तराईं की लड़ाई में दिल्ली और अजमेर का राज्य शहाबुद्दीन ग़ोरी के हाथ में आ गया। साहित्य की दृष्टि से क़न्नौज का राज्य महत्त्वपूर्ण है। ८ वीं शताब्दी में यशोवर्मदेव के दरबार में भवभूति हुए। राज्यपाल के समय में महमूद ग़ज़नवी ने कन्नौज पर आक्रमण किया। इसकी दो पीढ़ियों के बाद राष्ट्रकूट (राठौर) आये। उन्होंने सात पीढ़ियों तक राज किया। अंतिम राठौर राजा

जयचंद था। ११९२ ई० में ग़ौरी ने कन्नौज पर भी आधिपत्य पा लिया। कन्नौज का राज्य काशी तक फैला था। अतः इस विजय से हिंदी प्रांत का एक बड़ा भाग मुसलमानों के हाथ में आ गया।

९ वीं शताब्दी में कालेंजर में चंदेलों का राज्य था। कुतुबुद्दीन ने इसको परास्त किया, परंतु परमालदेव के पुत्र त्रैलोक्य शर्मा ने स्वतंत्रता का झंडा फहरा दिया। कालेंजर १५४५ ई० तक स्वतंत्र रहा और अंत में शेरशाह ने उसे अपने आधीन कर लिया।

शताब्दी के मध्य में बंगाल में पाल राजा राज कर रहे थे। ये बौद्ध थे। इनके समय में मालवा और विक्रम-शिला प्रसिद्ध बौद्ध विद्यापीठ थे। इन्हीं के समय में प्रसिद्ध सिद्ध कवियों ने हिंदी में कविता की। १०६६ ई० के निकट विक्रमशिला के प्रसिद्ध भिक्षु दीपंकर श्रीज्ञान महायान के प्रचार के लिये तिब्बत गये। १२ वीं शताब्दी में बंगाल के सेन-वंश ने पालवंश का बहुत-सा साम्राज्य हस्तगत कर लिया। ११९७ ई० में बख़्त्यार ख़िलजी ने गौड़देश और नवद्वीप को परास्त कर सेनवंश का भी अंत कर दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सारा हिंदी प्रदेश १२ वीं शताब्दी के अंत से पहले ही मुसलमानों द्वारा पदाक्रांत हो गया था। इसके अनंतर (१२०० ई०-१६०० ई०) हिंदू सामूहिक विद्रोह का केन्द्र राजस्थान रहा है और मुग़ल साम्राज्य के विस्तार एवं अंत में उसका

हाथ है। प्रताप- सरीखे हिंदू राजाओं ने हिंदू राष्ट्रीय भावना की दीपशिखा जलाये रक्खी परंतु शुद्ध हिंदू राष्ट्रीय काव्य शिवाजी और गुरु गोविंदसिंह की प्रेरणा से बना। स्वयं गुरु गोविंदसिंह और भूषण की कविता इसका उदाहरण है। शेष वीरकाव्य शस्त्रों की झंकार-मात्र है जो हमें अनुप्रास के माध्यम से सुनाई पड़ती है। उसमें वीरत्व का प्रदर्शन है, जातीयता का उद्वेग नहीं। परंतु मराठों के उत्कर्ष ने हमें कोई जातीय कवि नहीं दिया। देश की जनशक्ति सो रही थी।

इसी समय अंग्रेज आये और १७५७ ई० से १८५७ ई० तक के एक शताब्दी के मराठा-हैदरअली-सिख-संघर्ष के बाद वे राजनीति की बागडोर के स्वामी हो गए। एक बार फिर हिंदी की सरस्वती मौन है। हमें १८५० ई० की जनक्रांति जैसी घटना के संबंध में भी कुछ पता नहीं चलता। बात तो यह थी—कवि ह्रासोन्मुखी काव्य-धाराओं को लिए बैठे थे। उनकी दृष्टि व्यापक नहीं थी, न शिक्षा-दीक्षा।

स्पष्ट है कि हिंदीप्रदेश में मुसलमानों को विजेता बनने में दस वर्ष से अधिक नहीं लगे। ११६१ ई० से ११६८ ई० तक का अर्थ है तराई (पानीपत) से नवद्वीप। अधिकांश इतिहास-कारों ने इस विजय को बवंडर कहा है। जिस विद्युत्गति से आक्रमणकारियों को सफलता मिली वह अद्वितीय थी। इस थोड़े से समय में, इस परिस्थिति में, इस संघर्ष को काव्य में

किस प्रकार ढाला जा सकता था ? अतः चंद के कथित 'रासो' के अतिरिक्त मुस्लिम आक्रमण का एक भी साक्षी काव्य हमारे पास नहीं है। यहाँ-वहाँ तत्कालीन परिस्थिति के जो अनेक छोटे-बड़े चित्र (जैसे विद्यापति के अवहट्ठ काव्य में) हमें मिलते हैं वह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। बाद का काव्य तो एक तरह प्रशस्ति काव्य है या वीरकाव्य का परंपरा-पालन है। मध्ययुग में चारणकाव्य प्रचुर मात्रा में बनता रहा। इस समय जहाँ एक ओर राजस्थान में चारण कवि होते रहे, वहाँ दूसरी ओर कुछ अन्य राजाश्रयी कवियों ने भी अपने राजाओं की वीरता के गान को अपनी कविता का विषय बनाया। इनमें से कुछ कवियों ने अन्य काव्यधाराओं (भक्ति, रीति) को पुष्ट करते हुए भी वीरकाव्य में रचनाएँ कीं। वीरकाव्य चारणों के हाथ से निकल कर रससिद्ध कवियों के हाथ में पहुँच गया। लोग मुसलमानों के अत्याचार से पीड़ित थे। अतः हिंदूजातीयता का अत्यंत स्पष्ट रूप इस युग के वीरकाव्य में प्रकाशित हुआ। छत्रसाल, राजसिंह, शिवाजी – इन प्रसिद्ध हिंदू राजाओं ने एक बार संगठित शक्ति से मुसलमानों से मोर्चा लेना चाहा। इनकी विजयों ने हिंदू कवियों की कल्पना को उत्तेजना दी और यद्यपि वे अपने चरित्र-नायकों को राष्ट्रीय नेताओं का रूप नहीं दे सके, इसमें संदेह नहीं है कि उन्होंने उन्हें हिंदू धर्म (गौ-ब्राह्मण, शिखा-सूत्र) के रक्षक के रूप में ही देखा। हो सकता है, इनमें से बहुत से कवि आश्रयदाताओं की

प्रशंसा इसी तरह करते हैं जिस तरह चारण करते थे। इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि भूषण जैसा हिंदुत्व का उपासक कवि कई अप्रसिद्ध राजाओं की प्रशंसा करता है। परंतु वास्तविकता से हमें मुँह नहीं मोड़ लेना चाहिये। इस युग के प्रधान वीर कवियों ने चारण और हिंदू जातीयता के कवियों दोनों का काम किया। इस समय जो पौराणिक कृत्यों के अनुवाद हुए (रामकथा, महाभारत इत्यादि) अथवा चंडी की महिमा गाई गई (चंडी-चरित्र) उसके मूल में हिंदू जातीयता के पुनरुत्थान की भावना है। इतिहास के अध्ययन से भी इस मत की पुष्टि होती है। इसी दृष्टिकोण के कारण तुलसीदास की कवितावली और रामचरित-मानस के लंका-कांडों और सबलसिंह चौहान की महाभारत में दोहा-चौपाइयों की प्रतिष्ठा हुई है। कवितावली की वीररसपूर्ण कविताएँ वीररसकाव्य का श्रेष्ठ उदाहरण हैं। गुरुगोविंद का बहुत बड़ा साहित्य वीरकाव्य के अंतर्गत आ जाता है। उनका चंडीस्तोत्र भाव-भाषा में किसी भी उत्कृष्ट वीरकाव्य के सामने रखा जा सकता है।

मध्ययुग के वीरकाव्यों के लेखकों में प्रमुख हैं केशवदास (१५५५–१६११), मान (राजविलास, १६७७-१६७६), जोधराज (हम्मीर रासो), गोरेलाल (लाल कवि, ज० १६५८ ई०) पद्माकर (१७५३-१८३३), सूदन (सुजानचरित्र)। जैसा हम पहले बता चुके हैं इनमें से अधिक कवियों की मूल

प्रेरणा रीतिकविता रही है। वीरकाव्य लिखकर उन्होंने डिंगल की प्राचीन परंपरा को ही जीवित रखा है। इससे अधिक श्रेय उन्हें नहीं मिलना चाहिये। इस वीरकाव्य में वीरों की आत्मा का स्पंदन कम है, उनके शब्दों की झंकार ही अधिक है।

आधुनिक युग में वीरता की भावना में इतना परिवर्तन हो गया है कि पिछला सारा वीरकाव्य आज हमारे प्राणों में कोई स्फूर्ति उत्पन्न नहीं करता। आज का कवि अनुप्रासों की दादुरवृत्ति से आकर्षित नहीं होता। तन की वीरता ने मन की वीरता का स्थान ले लिया है। आज का कवि कहता है—

जागो फिर एक बार !
सिंहिनी की गोद से
छीनता रे शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहता वह
रहते प्राण ? रे अजान !
एक मेष-माता ही
रहती है निर्निमेष—
दुर्बल वह—
छिनती संतान जब;
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आँसू बहाती है;
किंतु क्या ?
योग्य जन जीता है

पश्चिम की उक्ति नहीं
गीता है, गीता है
स्मरण करो बार-बार –
जागो फिर एक बार !

यहाँ जो संबोधन है, वह प्राणों को है, बाहुओं को नहीं। उसमें नाटकीयता नहीं, वीरदर्प नहीं, अनर्गल प्रलाप नहीं। है केवल आत्मोत्सर्ग, केवल दृढ़ वीरनिष्ठा, केवल बलिदान भाव।

(ख) शृंगारकाव्य

अधिकांश भारतीयकाव्य सामंतीकाव्य की श्रेणी में आता है और सामंत वर्ग में वैयक्तिक वीरता और शृंगार ही दो प्रधान प्रवृतियाँ होती हैं। कालिदास से लेकर श्री हर्ष तक शृंगारकाव्य की बहुत बड़ी परंपरा ४००-५०० वर्ष तक चलती रही थी। प्राचीन काव्य की यह सबसे पुष्ट परंपरा है। प्राकृत और अपभ्रंश काव्य में भी यह परंपरा राजाश्रय द्वारा पोषित साहित्य में चलती रही। परन्तु राजाश्रय से अलग रहने वाले कुछ कवियों ने आभीर-प्रभृति जातियों की शृंगार-भावना को काव्य का रूप देकर एक नये प्रकार की प्रेम और विलास के कविता को जन्म दिया। 'हाल' की गाथा-सप्तशती में यह नई लोककाव्यधारा पहली बार प्रस्फुटित हुई है। इस काव्यधारा में संस्कृत कवियों की शिष्ट शृंगाररसमयी वाणी के विरुद्ध अनेक ग्रामीण प्रसंगों और चित्रों की अवतारणा हुई। संस्कृत के नाग-

रिक प्रेमकाव्य के समकक्ष यह नया काव्य अत्यंत आह्लादक जान पड़ता है।

राजपूत राजाओं के आश्रय में पलनेवाले सामंतीकाव्य में शृंगार की प्रधानता होनी स्वाभाविक थी। 'उस समय के सामंत जीवन का उद्देश्य था चाहे जैसे भी हो दुनिया का आनंद ख़ूब डट करके लेना। ऐसा करने से आचार के नियमों के विरुद्ध जाने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि पुरोहित और महंत अपने मालिकों की रुचि के अनुसार हर वक्त नये धर्मशास्त्र और नये आचार-नियम बनाने के लिए तैयार थे। हाँ, भोग निष्कंटक नहीं हो सकता था। हर वक्त एक सामंत को दूसरे सामंत से ही ख़तरा नहीं था, बल्कि ख़ुद अपने भाई-बहनों से भय लगा रहता था। यदि ज़रा भी चूके कि भोग और जान दोनों से हाथ धोना पड़ा। इसीलिए सामंतों को भोग के लिए पूरी क़ीमत अदा करने को तैयार रहना पड़ता था। स्वयंभू और पुष्पदंत ने सामंत-जीवन के इन दोनों पहलुओं—भोग भोगना और मृत्यु को तृणवत् समझना—का सुन्दर चित्रण किया है, इतना सुन्दर चित्रण पीछे के कवियों में हमे नहीं मिलता।' (हिंदी काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन पृ० ४८-६) यह सामंती युग की काव्यधारा का बड़ा सुन्दर विश्लेषण है। स्वयंभू की कविता में वे सब प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं जो बाद में सारे हिंदी शृंगार-काव्य—विशेषतय: रीति-काव्य—में प्रतिफलित हुईं। सीता का एक सौन्दर्य-दर्शन देखिये :

थिर कलहंस-गमन गति मंथर । कृश मंझारे नितंब विस्तर ॥
रोमावली मकरघर तीनी । जनु पिपीलिका पंक्ति विलीनी ॥
अभिनव हूड-पिंड पीन स्तन । जनु मानससर विकसेउ पंकज ॥
राजै वदन-कमल अकलंकउ । जनु मदकल उरु-खंभ-निजीतन ॥
सुललित लोचन ललित प्रसंगा । जनु वरियात मिलेउ वरकन्या ॥
डोलै पीठिहि वेणि महाइनि । चंदन-लतहिं ललें जनु नागिनि ॥

का बहु जल्पेनहिं तिहु भुवनहिं जो जो चंगा ।
सो-सो मिलाऽईया जनु दैवे निरमेउ अंगा ॥

(स्वयंभू रामायण, ३८-३)

यह स्पष्ट है कि यहाँ सीता का रूप साधारण नायिका के रूप से भिन्न नहीं है। परंपरागत नारी-अंगों के उपमानों का ही प्रयोग किया गया है। मन्दोदरी का रूपवर्णन भी इसी प्रकार का है । कोई भेद नहीं । सामंती कवि की दृष्टि में नारी नारी है, न कुछ अधिक, न कुछ कम । नारी को लेकर सामंती कवि की कल्पना पृथ्वी-आकाश को एक कर देती है । कल्पना का यह अतिरेक और असंयम सामंती काव्य की एक मुख्य विशेषता है । अयोध्या के रनवास के वर्णन में यही कवि कहता है—

की चरण तलाग्रा कोमला । जनु जनु अभिनव रक्तोपला ॥
की उरु परस्पर भिन्न तेज । जनु जनु वर रंभा- खंभ एह ॥
की कनक-डोरि डोलइ विशाल । जनु जनु अहि रतन निधान पाल ॥
की त्रिवली जठरु परिधाइया । जनु जनु काम पुरिहि खाँइया ॥

की रोमवली घन कृष्ण सह। जनु जनु मदनानल धूम-लेख ॥
की नवथन, जनु जनु कनक कलश। की कर जनु जनु प्रारोहसरिस ॥
को आलंबित-करतल चलंति। जनु जनु अशोक पंल्लव ललंति।
की आनन, जनु जनु चंद्रबिंब। की अधरउ, जनु जनु पक्वबिंव ॥
की दशना वलिउ स मौक्तिकाउ। जनु जनु मल्लिक-कलिमही भाउ।
की गंडपास जनु दंति दान। की लोचन, जनु जनु काम बाण ॥
की भौंहा एह परिस्थिताउ। जनु जनु मन्मथ-धनु-यष्टि पाउ।
की कर्ण कुंडलाभरण एह। जनु जनु रवि-शशि विस्फुरित तेज ॥
की भालउ, जनु जनु शशधरार्ध। कीशिर, जनु जनु अलिकुल निवद्ध

—(वही ६६।२१)

इस सामंती काव्य में कल्पना और कला का सारा वैभव नारी पर निछावर है। युद्ध भी नारी के लिए होते हैं। युद्ध पर जाते हुए सैनिक अपनी पत्नियों से विदा लेना नहीं भूलते। पत्नियाँ उनका आलिंगन करती हैं और तांबूल देकर उन्हें विदा करती हैं। कोई कहती है—हे कंत, रण से लौटना तो गजकुंभ का मोती मेरे लिये लाना। कोई कहती है—हे प्रिय, सुगंध और चदंन-रस को मैं प्रसाधन के लिए प्रयोग में क्यों लाऊँ ? तुम्हारा यश ही मेरा प्रसाधन बनेगा। सच तो यह है कि इन वीरकाव्यों में मूल रूप में शृंगार की बंशी ही बजती है।

अपभ्रंश सामंती काव्य की परिस्थिति यह है। हिंदी का सामंती काव्य भी इस परंपरा की ही एक अविच्छिन्न कड़ी है।

रासो आदि जितने डिंगल वीरकाव्य हैं उनमें वीरत्व शृंगार भाव से ही प्रचालित होता है। 'आल्हा' के सारे युद्धों का कारण स्त्री ही है। रासो का यह यौवनागम का चित्र देखिये—

सुनि प्रथम बालिय रूप। बर बाल लच्छिन रूप ॥
अहिसंध सैसव काल। अजु अरक राका हाल ॥
सैसव सुसूर समान। वयचंद चढ़न प्रमान ॥
सैसव्व जोवन एल। ज्यों पंथ पंथी मेल ॥
परि भोंह-भँवर प्रमान। वै बुद्धि अच्छरि आन ॥
द्रिग स्याम सेत सुभाग। सावक्क मृग छुटि बाग ॥
बिय द्दगन ओपम कोउ। सिसभ्रंग खंजन होउ ॥
बरबरन नासिक राज। मनि जोति दीपक लाज ॥
गतिसिषाँ पतंग नसाव। ओपंम दे कवि आव ॥
नासिक्क दीपन साल। झँप देत षंजन बाल ॥
बिय बरल जोवन सेव। ज्यों दंपती हथलेव ॥
वैसंधि संधिम चिंद। ज्यों मत्त जुरहिं गुविंद ॥

२०० वर्ष बाद विद्यापति ने अपनी राधाकृष्ण-कथा में वयः-संधि के जो चित्र उपस्थित किये हैं वे इस चित्र से भिन्न नहीं हैं। प्रसंग दूसरा है। रीतिकाव्य में नायक धीर-ललित था, चारणकाव्य में धीरोदात्त, यद्यपि उसमें रसिकता, वैभवप्रियता और शृंगारभाव की पर्याप्त मात्रा थी। वीसलदेव रासो जैसे वीरकाव्य इन धीरोदात्त और धीरललित नायकों के बीच की कड़ी हैं। इस काव्य में वीसलदेव (विशालदेव चौहान) की

ऐतिहासिक विजयों का ज़रा भी उल्लेख नहीं है। वे धीर-ललित नायक मात्र हैं। हिन्दीकाव्य के पहले तीन सौ वर्षों (११००-१४०० ई०) में शृंगार और वीरता कंधे से कंधा मिला कर चले। यह दृष्टिकोण बहुत कुछ पुष्ट था। अगले दो सौ वर्षों में शृंगार ने राधा-कृष्ण से अपना संबंध जोड़ लिया और मधुर भाव की भक्ति या लीला-भक्ति को जन्म दिया। कृष्णभक्तिकाव्य में नायक का रूप धीर ललित ही है। जहाँ तुलसीदास के राम वीरकाव्य के धीरोदात्त नायक की परंपरा को आगे बढ़ाते हैं, वहाँ सूरदास और हितहरिवंश के कृष्ण-राधा साधारण नायक-नायिकाओं से अभिन्न हैं। अगले दो सौ वर्षों तक ऐसे काव्य का सृजन हुआ जिसमें भक्तिभाव का लेश भी नहीं था। राधा-कृष्ण के प्रतीक भुला दिये गये थे और साधारण नर-नारी के प्रेम और विलास को काव्य का विषय बनाया गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजपूतकाल से आज तक शृंगार की एक अविच्छिन्न परंपरा चलती रही है। इस परंपरा ने हमारी सभी काव्यधाराओं को थोड़ा-बहुत प्रभावित किया है। चारणकाव्य, भक्तिकाव्य और रीतिकाव्य में यह प्रभाव इतना स्पष्ट है कि उसे भुलाया नहीं जा सकता। इस प्रभाव में बहुत कुछ स्वस्थ भी है, बहुत कुछ अस्वस्थ भी है। उदाहरण के लिए, भक्तों का परकीयाभाव शृंगार की परकीया भावना का ही विकास है। सूरदास और हितहरिवंश के विपरीत, सुरति, सुरतांत आदि के प्रसंग शृंगारकाव्य से ही उधार लिये

गये हैं। जीव-ब्रह्म के रूपकों के पीछे उनका मूल रूप छिपाया नहीं जा सकता।

जहाँ तक चारणकाव्य और रीतिकाव्य का संबंध है, हम उन्हें राजाश्रय से अलग नहीं कर सकते। राजाश्रय के सारे गुण-दोष इस काव्य में मिल जाते हैं, परन्तु राजाश्रय हिन्दू हो या मुसलमान, मूल प्रवृत्ति में कोई अन्तर नहीं है। दोनों राजाश्रय शताब्दियों तक साथ-साथ चलते रहे हैं और उन्होंने परस्पर एक दूसरे को प्रभावित किया है, परन्तु उनके विषय एक हैं, शैलियाँ समान हैं और जीवन के प्रति विलास और आनंद के दृष्टिकोण में दोनों में कोई अंतर नहीं है।

(ग) नीतिकाव्य

नीति की कविता की एक परंपरा भी राजाश्रय द्वारा पोषित काव्य में प्राचीन काल से चली आती थी। इसका रूप संस्कृत सुभाषितों का था। यह 'सुभाषित' एक प्रकार का मुक्तक साहित्य है। पंचाशिका (५० मुक्तकों का संग्रह), शतक (१०० मुक्तकों का संग्रह) और सप्तशतिका या सतसई (७०० मुक्तकों का संग्रह) की परंपरा ५ वीं शताब्दी से वर्तमान काल तक चली आती है। प्राचीन नीति मुक्तकों में भर्तृहरि का नीतिशतक (७ वीं शताब्दी) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हाल की 'सप्तशतिका', धनपाल की 'ऋषभ पंचाशिका' और आनंदवर्धनाचार्य की "गाथासप्तशती" में भी अनेक नीतिपरक मुक्तक हैं। अन्य नीतिपरक मुक्तक संग्रह हैं—वक्रोक्ति

पंचाशिका (रत्नाकर, ९ वीं शताब्दी), बल्लभशतक (भल्लठ, ९ वीं शताब्दी या १० वीं शताब्दी का आरम्भ काल), सांब पंचाशिका (सांब, ११ वीं शताब्दी), वैराग्य शतक (अप्पय दीक्षित, १६ वीं शताब्दी), वरदराज शतक (वही, १६ वीं शताब्दी), सभारंजन शतक, अन्योपदेश शतक और कलिविडंबना शतक (अप्पय दीक्षित के पुत्र श्री नीलकंठ; १७ वीं शताब्दी)। अपभ्रंश में इन मुक्तकों की परंपरा ने 'दूहा' का रूप ग्रहण किया। यही 'दूहा' मध्ययुग की कविता में 'दोहा' नाम से नीतिपरक कविता का मुख्य छंद बन गया है।

इन नीतिपरक मुक्तकों का एक स्वतंत्र इतिहास है जो राजाश्रयों के इतिहास से संबंधित है। प्राचीन सामंत और राजा सामंत-कुमारों और राजकुमारों की शिक्षा के लिए कवियों की नियुक्ति किया करते थे। वे उन्हें भाँति-भाँति के शास्त्रों की शिक्षा देते। इन शास्त्रों में नीतिशास्त्र प्रधान था। भावी जीवन में राजकुमार के लिए इसकी उपादेयता ही सबसे अधिक थी। नीतिशास्त्र-संबंधी चमत्कारपूर्ण सूक्तियों की राजदरबार में भी बहुत मान्यता होती होगी। इन मान्यता के कारण ही 'नीति'—मुक्तकों का रिवाज चल गया होगा। अश्वघोष, बाण, कालिदास-प्रभृति महाकवियों के काव्य में पद-पद पर नीति की सूक्तियाँ मिलती हैं। इन्होंने भी नीतिकवियों को प्रेरणा दी होगी। हिन्दी कवियों ने प्राचीन संस्कृत और अपभ्रंश कवियों के अनुकरण में दोहा, सोरठा-सवैया और अन्य अनेक

छंदों में नीतिकाव्य का निर्माण किया। इन नीतिकवियों में विहारी, रहीम, गंग और गिरिधरराय विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। अधिकांश रीतिकवि या तो संस्कृत सूक्तियों और सुभाषितों का अनुवाद करते हैं या उनसे प्रेरणा प्राप्त करते हैं। स्वतंत्र रूप से नीतिकाव्य का स्फुरण अधिक नहीं हुआ है।

बहुत प्राचीन काल से कविता, कला और संगीत का एक ही आश्रय रहा है। यह है राजा, सामंत या सेठ। आधुनिक युग से पहले के सारे भारतीय इतिहास को हम सामंत-युग का इतिहास कह सकते हैं। उपनिषदों के युग में ही छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये थे। ये छोटे-छोटे राज्य बाद में साम्राज्यों के केन्द्र बने। इन राज्यों और साम्राज्यों में कलाप्रियता और काव्य-प्रियता के नाम पर कलाकारों और कवियों का पालन होता। प्रत्येक कवि और कलाकार के लिए राजा, सामंत या सेठ का आश्रय ढूँढ़ना आवश्यक होता। स्वतंत्र जीवनयापन उसके लिए असंभव था। राष्ट्र की सम्पत्ति का अधिकांश भाग इन्हीं के पास जाता था। इससे यह बड़े-बड़े ऐश्वर्य ख़रीदते।— 'नये-नये महल, क्रीड़ा-उपवन, सिंहासन, राजपलंग, मोरछल, चमर और लाखों के हीरा-मोती-महार्घ रत्नों के आभूषण, राजमहलों की सजावट, चित्रकला, क्रीड़ामृग, सोने के पीजड़ों में बन्द शुकसारिका, लोहे के पीजड़ों में बन्द केसरी। दूर-दूर देशों से लाई कितनी ही दुर्लभ महार्घ वस्तुओं के संचय में भी देश की संपत्ति का भारी भाग ख़र्च होता था।' आश्रित कवि को

राजा और सेठ की रुचि का ध्यान रखना पड़ता। कविता उसके लिए मनोविनोद, शिष्ट हास-परिहास, सदोपदेश और विलास की वस्तु हो जाती। जहाँ नारी केवल उपभोग्या थी, वहाँ शृंगार काव्य का सृजन न होता तो क्या होता? जहाँ सामंतवर्ग थोथी प्रतिष्ठा और वीरता के चक्कर में आकर नित्यप्रति युद्ध-क्षेत्र में उतर कर युद्ध-व्यवसायी बन गया था, वहाँ—प्राणहीन ही सही—वीर-काव्य और प्रशस्ति-काव्य न लिखे जाते तो और क्या लिखा जाता? फिर समय-समय पर इन आश्रयदाताओं को उपदेश देकर आत्मसम्मान का भुलावा भी आवश्यक था। राजाश्रय का काव्य सचमुच एक बड़ा भुलावा ही तो रहा है।

४

सगुण भक्ति

अब हम वैष्णव साहित्य और सगुण भक्ति की ओर आते हैं। वैष्णव साहित्य विष्णु के दो रूपों राम और कृष्ण से संबंधित है। इस साहित्य में इन्हीं अवतारों की पौराणिक गाथाओं का आधार लेकर चरित्रकाव्यों, खंडकाव्यों और मुक्तक-साहित्य की सृष्टि की गई है। परन्तु राम और कृष्ण-संबंधी साहित्य के अतिरिक्त हमें एक तीसरे प्रकार के साहित्य के भी दर्शन होते हैं। यह है जीवनी-साहित्य। यह भी काव्य-बद्ध है। इसका क्षेत्र संतों और वैष्णव भक्तों की जीवन-कथाओं तक ही सीमित है।

सच तो यह है कि हमने यहाँ वैष्णव शब्द का विस्तृत अर्थ नहीं लिया है। लेते तो संत-साहित्य भी वैष्णवसाहित्य के अंतर्गत आ जाता। 'वैष्णव' की परिभाषा का एक गुजराती पद है—

वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीड़ पराई जाणे रे ॥
पर दुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे ॥

सकल लोक माँ सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे।
वाछ काछ मन निश्चल राखे, धन-धन जननी तेनी रे॥
समदृष्टिने तृष्णा त्यागी, पर-स्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, पर धन नव साले हाथ रे॥

इस परिभाषा की दृष्टि से संत-साहित्य वैष्णव-साहित्य के ही भीतर आ जाता है। परन्तु यहाँ हम उसे सीमित अर्थों में ले रहे हैं। वास्तव में संत-मत के नैतिक सिद्धांतों से वैष्णव भक्तों का भी कोई विरोध नहीं है। वे सब ही क्षमा, दया, अहिंसा, गुरुपूजा, दम-शम आदि पर बल देते हैं। तुलसी ने स्पष्टतयः कहा है—

षट विकारजित अनघ अनामा।
अचल अकिंचन सुचि सुख धामा॥
अमित बोध अनीह मितभोगी।
सत्यसार कवि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मद हीना।
धीर धर्मगति परम प्रवीना॥
गुनागार संसार दुख रहित बिगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह॥

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं।
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती॥
जप तप-व्रत दम-संजम नेमा। गुरु गोविंद विप्र पद प्रेमा।
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥

विरति बिबेक विनय बिग्याना। बोध जथारथ वेद पुराना ।।
दंभ मानमद करहिं न काऊ। भूलि न देहि कुमारग पाऊ ।।
गावहिं सुनहि सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला ।।

तो फिर भेद कहाँ है? भेद दोनों साहित्यों की अध्यात्म-भूमि में है। संतसाहित्य अरूप का उपासक है, वैष्णव साहित्य रूप का। संत अवतारवाद का विरोध करते हैं। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की ज्ञानमूलक प्रेमसाधना को उपादेय माना है। वे मुक्ति को साध्या मानते हैं, ज्ञान और प्रेम को साधना। पहले ज्ञान, फिर प्रेम। वैष्णव भक्त की आस्था एक मात्र सगुण, अवतारी, भक्तवत्सल ब्रह्म पर है। उनके साधन और साध्य ब्रह्म के सगुण लीला-रूप (रामकृष्ण) की भक्ति ही है। वे चिल्ला कर कहते हैं, —'केवल ज्ञान से भगवान की प्रीति कठिन है, हाँ, हो अवश्य सकती है। सरल मार्ग चलो।' इसी से वे केवल ज्ञान को अव्यहारिक मान कर उद्धव की हँसी उड़ाते हैं। कृष्णकाव्य का भ्रमरगीत-प्रसंग ज्ञान पर भक्ति की महत्ता सिद्ध करने की ही चेष्टा है। उद्धव कृष्ण से कहते हैं-—

तुम पठवत गोकुल कौ जैहौं।
जो मानि हैं ब्रह्म की बातैं तो उनसों मैं कैहौं ।।
गद्‌गद् वचन कहत मन प्रफुलित बार-बार समुझैहौं।
आजुंइ नहीं करौं तुव कारज कोन काज पुनि लैहौं ।।

गोपियों के बीच में पहुँच कर वह ब्रह्मवाद, योग और निर्गुण

की रहस्यमयी अनुभूति की बातें कहते हैं। परन्तु गोपियाँ कहती हैं—

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।
यह ब्यौपार तिहारौ ऊधो ऐसोई फिरि जैहै ॥
जापै लै आए हौ मधुकर ताके उर न समैहै।
दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै ?
मूरी के पातन के केना को मुकताहल दैहै।
सूरदास प्रभु गुनहिं छाँड़िकै को निर्गुन निरबैहै ?

जीत गोपियों की ही होती है। उद्धव उन्हीं के रंग में रंगकर ब्रज से लौटते हैं।

सच तो यह है कि यदि हम अपने साहित्य को समाज की पृष्ठभूमि में रखकर देखें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि समाज की मनोवृत्ति हमारी आध्यात्मिक साधना को धीरे-धीरे नीचे खींचती है। हम क्रमशः ऐसे आन्दोलनों को उठ खड़ा होते देखते हैं जो निरंतर अधिक सहज साधना का मार्ग बतलाते हैं। हठयोग से सहज समाधि और सहज समाधि से कथा-कीर्तन। रूप की अवहेलना से उतर कर रूप में आसक्ति। हमारी अध्यात्मभूमि निरंतर अधिक मानवीय भूमि के निकट आती रही है। यहाँ तक कि अंत में हम राधाकृष्ण को लेकर सहज स्त्री-पुरुष के प्राकृत प्रेम-व्यवहारों तक पहुँच जाते हैं।

यह वैष्णव-साहित्य रूप-सौन्दर्य और प्रेम का उपासक

है। उसकी भक्ति आसक्ति-प्रधान है। इस भक्ति का रूप कहीं एकांगी है जैसे कृष्णकवियों के काव्य में, कहीं वह एक व्यापक जीवनदृष्टि को साथ लेकर चलता है और उसे जीवननिर्माण के लिए केन्द्र-विन्दु बना लेता है जैसा तुलसी के रामचरित-मानस में। सूरदास यह प्रश्न नहीं करते कि भक्ति से क्या होगा ? उनका मार्ग स्पष्ट है—

नाहिँन रह्यौ मन में ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और ?
चलत चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति।
हृदय तैं वह स्याम मूरति छन न इत-उत जाति।
कहत कथा अनेक ऊधौ लोक-लाभ दिखाय।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिंधु समाय
स्याम-गात सरोज आनन ललित अति मृदुहास।
सूर ऐसे रूप-कारन मरत लोचन प्यास

तुलसी यह प्रश्न करते हैं और उनका समाधान भी उनके पास है—

धर्म तें विरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना।
जावें वेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान-विग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ सो संत होइँ अनुकूला॥

अब यह तो स्पष्ट है कि वैष्णवकाव्य मुख्यत: आध्यात्मिक काव्य है। परंतु उसमें केवल तत्त्वचिंतन ही नहीं है, काव्य के

अनेक गुण भी उसमें हैं। रस, अलंकार, भाषा-सौन्दर्य, चरित्र-चित्रण कथासौष्ठव, सौन्दर्यनिष्ठा, मानवीय भावनाएं – ये सभी काव्य के अंग हैं। यहाँ ये प्रचुर मात्रा में मिलेंगे। यह काव्य भी है, अध्यात्म भी। यहाँ सब रस हैं, परंतु वह लोकोत्तर हो गये हैं। सब लीला-मात्र से संबंधित हैं। वास्तव में भक्ति के लिए एक मात्र भक्तिरस ही उपादेय है। अन्य रस लीला-मात्र हैं जैसे समुद्र में तरंग। उसी से उठे, उसी में लय होते। वस्तुत: वैष्णवकाव्य का अध्ययन करते समय हमें वैष्णव-कवियों का दृष्टिकोण नहीं भूल जाना चाहिये। उन्होंने रागों की सृष्टि रसों के लिए नहीं की। काव्य का रस अध्यात्म के रस से भिन्न है। उदाहरण के लिए, क्रोध का काव्य-रस में एक निश्चित स्थान है—वैष्णवकाव्य में वह लीला-मात्र है। उससे भक्ति की ही पुष्टि होगी। यही बात शृंगार के मूल में भी है। कृष्ण-भक्त कवियों ने आचार्यों की गवेषणाओं से लाभ उठाया है, परंतु उन्हें रीतिकवियों के मापदंड से नापना कहाँ तक उचित है। कृष्णकाव्य और रामकाव्य के कवियों में आलंबन का सौन्दर्य, लीलाप्रेम, कल्पना का प्राधान्य, कोरे ज्ञान का विरोध, विनय-भावना— कुछ विशेषताएँ समान रूप से मिलती हैं, परंतु रामकाव्य को तुलसी ने कथा के रूप में व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित किया है और उसमें अन्यतम नैतिक भावनाओं की प्रतिष्ठा की है। कृष्णकाव्य की विशेषता है प्रेम का चित्रण। यह दो रूपों में हमारे सामने आता है।

स्त्री-पुरुष के प्रेमव्यवहार के रूप में (शृंगार) और पिता-माता एवं पुत्र के मधुर संबंध में (वात्सल्य)। दोनों के संयोग और वियोग के अत्यंत उत्कृष्ट वस्तुवादी चित्र मिलते हैं। एक प्रकार से हम यह कह सकते हैं कि कृष्णकाव्य कल्पना-प्रधान और वस्तुवादी है, रामकाव्य नैतिकता-प्रधान और आदर्शवादी। कृष्णकाव्य का अधिकांश अनेक पुराणों में होकर हमारे सामने आया है और जिस संप्रदाय में से होकर आया, उसके नैमित्तिक और नित्य कर्मों एवं उसके आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों की छाप उस पर लगी है। रामकाव्य संप्रदायों को पीछे छोड़ गया है। वह प्रत्येक भारतीय हृदय के निकट है। इतना व्यापक रूप हिंदी के किसी काव्य को नहीं मिला है।

दोनों काव्यों की तुलना करने पर और भी बातें हृदयंगम हो जाती हैं। दोनों काव्य मुख्यतः समाज के ऊपरी धरातल की उपज हैं। इस प्रकार जहाँ कृष्णकाव्य और रामकाव्य में संतोष की भावना है, वहाँ संतकाव्य में असंतोष के अंकुर छिपे हैं। यही कारण है कि भाषा, भाव और अभिव्यक्ति की शैली वैष्णवकाव्य में कुछ और है, संतकाव्य में कुछ और। वस्तुतः १६ वीं शताब्दी को हम हिंदू पुनरुत्थान की शताब्दी कह सकते हैं। हिंदुओं ने अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए पुराणों को देखा। उन्होंने राम और कृष्ण को केन्द्र बना कर समाज में मर्यादा बाँधने की चेष्टा की। हिंदू स्मृतिग्रंथों के

अनुवाद हुए। भाषा में भी तत्सम-शब्दावली की प्रधानता हुई। यह पुनरुत्थान की भावना मध्यवर्ग की विशेष वस्तु थी।

संक्षेप में वैष्णवसाहित्य की यह स्थिति है। वह हिंदी का स्वर्ण-साहित्य है। उसमें उसके युग की साधना और कवि-चिंता एक ही साथ प्रस्फुटित हो सकी है। हिंदी साहित्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाये तो जो बचेगा वह इतना हलका होगा कि हम उस पर किसी प्रकार गर्व नहीं कर सकेंगे। लगभग ३०० वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिंदी अपना सिर अन्य प्रांतीय साहित्यों के ऊपर उठाये हुए है। तुलसीदास, सूरदास, नंददास, मीरां, रसखान, हितहरिवंश, कबीर—इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे साहित्य में ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिंदी भारती के कंठमाल हैं।

वैष्णव कवियों के काव्य का जन्म परिस्थिति वश हुआ, परन्तु उसमें भारतीय संस्कृति और परंपरागत आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई। उसकी एक बात ऐसी है जो अन्य स्थान पर नहीं मिलेगी। वह जहाँ उच्चतम धर्म है, वहाँ उच्चतम कोटि का काव्य भी है। उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन-स्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है। जैसी भक्ति इस साहित्य में है, वैसी बाइबिल के कुछ अंशों को छोड़ कर पश्चिमी साहित्य में कहीं नहीं मिलेगी। नवधा भक्ति के प्रकारों में से प्रत्येक प्रकार की भक्ति इसमें है। रस की दृष्टि से भी यह साहित्य

अमूल्य है। रसराज शृंगार का इतना सुन्दर और सांगोपांग चित्रण नहीं हुआ, विरह की आकुलता और मिलन के उल्लास को इतनी पूर्णता से कहीं भी चित्रित नहीं किया गया। मनुष्य के स्वभाव और उसके अंतर्द्वन्द के सुन्दरतम चित्र हमें राम-चरित-मानस में मिलेंगे। राधा-कृष्ण और राम-सीता के रूप में स्त्री-पुरुष के सौन्दर्य के इतने अनमोल चित्र इतनी अधिक परिस्थितियों में यहीं मिल सकते हैं।

इस साहित्य की यह ख़ूबी है कि इससे हृदय, मन और आत्मा तीनों पुष्ट होते हैं। इसे काव्यानंद का विषय बनाइये। रसों, अलंकारों, व्यंगपूर्ण स्थलों, भावपुष्ट संवादों, उत्तमोत्तम चरित्रों का आनंद लीजिये। इसे अध्ययन का विषय बनाइये। संसार के संतों और पैग़म्बरों के कहे हुए उत्तमोत्तम सिद्धांत इसमें हैं, ढूँढ़ने में विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। चाहो तो मन उन दार्शनिक और आध्यात्मिक गुत्थियों में उलझा लो जो कबीर और तुलसी के साहित्य उपस्थित करते हैं। आत्मा को उच्च बनाने के लिए इसे साधना का विषय बनाइये। इतिहास साक्षी है कि यही साहित्य पिछली कई शताब्दियों से हमारी आध्यात्मिक साधना को प्रकट करता रहा है और हमारे साधकों की भूख मिटाता रहा है।

हिन्दी का वैष्णव-साहित्य लोक-परलोक को एक साथ स्पर्श करता है। वह काव्य के पंखों पर स्वर्ग और मोक्ष तक उड़ता है परन्तु उसके पैर लोकहित के कठोर धरातल पर ही

रहते हैं। सभी कवियों के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती परन्तु सामान्यतः यह बात सत्य से बहुत दूर नहीं है। संतों, रामभक्तों और कृष्णभक्तों ने शील, दया, क्षमा, आत्मावलंबन, परदुःखकातरता, संतोष, शम, दम आदि महान् वैयक्तिक गुणों की प्राप्ति को मनुष्य के लिए आवश्यक बताया है। उन्होंने अपने जीवन को इन्हीं गुणों पर खड़ा किया था और उनका काव्य इन्हीं संदेशों के कारण लोक-परिष्कार का महान् साधन रहा है। जिस युग में नैतिक आदर्शों की मर्यादा नितात जाती रही थी, जो उच्छ्रंखलता का अंधकार-युग था, उसमें उन्होंने ब्रह्मचर्य, संयम और महान् नैतिक गुणों की स्थापना करने की चेष्टा की। इसी कलिभ्रष्ट युग में तुलसी ने हिन्दू मात्र को विजय-रथ दिया। राम विभीषण से कहते हैं—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना।
जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा-पताका॥
बल विवेक दम परहित घोरे।
छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईसु-भजनु सारथी सुजाना।
बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसुबधि सक्ति प्रचंडा।
बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥

अमल अचल मन त्रोण समाना।
सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद विप्र पद पूजा।
एहि सम विजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें।
जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥
महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो वीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मतिधीर॥
८० (क)

आत्मनिर्भरता और अपरिग्रह का पाठ तो इनमें से प्रत्येक कवि का जीवन ही पढ़ाता है—"संतन को कहा सीकरी सों काम।" यह उस समय की बात है जब आत्माभिमानी राजपूत क्षत्रिय महाराज शस्त्र धारण करते हुए भी मुग़ल सम्राट को अपनी बेटियाँ दे रहे थे और उसकी कोर्निश पर गर्व करते थे। इस वैष्णव साहित्य को छोड़ कर इन नैतिक आदर्शों की पुष्टि हमें कहाँ मिलेगी? जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कौन साहित्य हमारा मार्ग-प्रदर्शन करेगा?

वैष्णव-काव्य के कुछ आलोचक कृष्णकाव्य पर जनता को पथभ्रष्ट करके वासना और पापाचार के कर्दम में गिराने का लांछन देते हैं, परन्तु वे इस साहित्य को कुछ मुट्ठी भर राजा-महाराजाओं की भूमिका में रख कर देखते हैं और भूल करते हैं। वे जनसमाज को देखें। राधाकृष्ण काव्य ने क्या

जनसमाज को व्यभिचारी बनाया है ? उसके लिए राधा राधा है, कृष्ण कृष्ण हैं । वे दोनों उसके लिए पूज्यनीय हैं । हाँ, वह उनके प्रेम-चरित्र के द्वारा रस-परिष्कार का आनन्द लेता है । वह स्वयम् राधा बनता है, न कृष्ण। कृष्णकाव्य ने हिन्दी प्रदेश को वात्सल्य-रस की अनुभूति दी, शृंगार को संयमित किया । उसने घर-घर में यशोदा सी माताएँ दीं । पति पत्नी के सामने राधा-कृष्ण का आदर्श रखा । साहित्य में राधा परकीया रही हो, या स्वकीया, लोक के जीवन में तो वे सदैव स्वकीया रही हैं । उन्होंने तरुण-तरुणियों के स्वप्नों को चमकीले रंगों से रँगा है, उनको जीवन के रस से सिंचित किया है । पश्चिम प्रदेश का गृहस्थ बालक को कृष्ण मान कर आकुल होता है कि उसे चौखट लाँघते हुए चोट न लगे । तरुण पति पत्नी को राधा रूप में देखता है । यदि जीवन में कृष्ण-राधा के चरित्र को लिया गया तो इतना ही । राधाकृष्ण की आड़ लेकर पुष्टिमार्ग के मंदिरों में व्यभिचार की जो लीलाएँ हुईं वह बहुत बाद की बात है । उसके मूल में जनसमाज का घोर अज्ञान और अंध-भक्ति है । कृष्णभक्तिसाहित्य ने न उसे प्रेरणा दी है, न उसे विकसित किया है ।

यह अवश्य है कि हमारे देश में लगभग १००० वर्ष तक भक्ति की जो धारा अनेक आवर्तों-विवर्तों में होकर बही है, उसका और समाज का संबंध इतना अधिक रहा है कि यह असंभव है कि उसने समाज पर प्रभाव न डाला हो । यदि

भक्ति और समाज के संबंध में कहीं निश्चयपूर्वक कुछ कहा जायेगा तो हमारे ही देश में कहा जा सकेगा जहाँ दस शताब्दियों तक भक्तों और उनके प्रभाव की परंपरा चली आती रही है।

मूलतः भक्ति वैयक्तिक साधना है। वह उपासक के साथ इष्टदेव का ऐसा संबंध है जिसे उपासक किसी भी माध्यम के बिना स्वतः स्थापित करता है। समाज में मनुष्य-मनुष्य का कोई-न-कोई संबंध है। भक्ति के क्षेत्र में प्रारंभिक रूप से इस प्रकार का कोई संबंध नहीं। प्रत्येक भक्त भक्ति की साधना को अपने ढग से ग्रहण करता है और अपनी साधना में वह जितना सफल होता है उतना ही वह समाज से दूर होता जाता और भगवान के निकट पहुँचता जाता है। परन्तु इस वैयक्तिक साधना से समाज का दूर का भी कोई सम्बन्ध हो सकता है या नहीं, यही देखना है। इसके लिए हमें भक्ति की मूलगत विशेषताओं पर प्रकाश डालना होगा।

भक्ति की पहली सीढ़ी है शील और सदाचार का संग्रह। भक्त का प्रत्येक क्षण इस प्रयत्न में बीतता है कि वह भगवत्-कृपा का अधिकारी हो। तुलसी की भाँति वह भी सोचता है—

कहुँक हौं यह रहनि रहौंगो ?
श्री रघुनाथ-कृपालु कृपा तें, संत-सुभाव गहौंगो ॥
यथा लाभ संतोष सदा, काहू सौं कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम वचन नेव निबहौंगो ॥

परुष-वचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
बिगत मान, सम शीतल मन, पर गुन नहिं दोष कहौंगो ।।
परहरि देश-जनित चिंता दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो ।
"तुलसिदास" प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो ।।

इस शील और सदाचार की साधना में अनेक सामाजिक गुणों का संग्रह आप ही हो जाता है। भक्त को कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। संतस्वभाव के अंतर्गत सब कुछ आ जाता है—संतोष, अनासक्ति, परहित-साधन, मिष्ठ भाषण, मान-हीनता, समबुद्धि। ये ही गुण हैं जिन्हें हम समाज के लिए हितकर समझते हैं। फिर हम कैसे कह सकते हैं कि भक्ति की धारा ने समाज को हानि पहुँचाई। क्या भक्तों के इन उपादेय गुणों ने समाज के प्रति दिन के वातावरण को प्रकाश से न भरा होगा? क्या भक्तों का जीवन ही इस बात का प्रमाण नहीं है कि श्रेष्ठ व्यक्तिगत गुण कालांतर में सारे समाज को पहुँच जाते हैं?

वास्तव में वैष्णवभक्ति की धारा ने समाज को कई प्रकार से शुद्ध किया है। जिन्होंने वैष्णव आन्दोलन के इतिहास का अध्ययन किया है, वे यह जानते हैं कि वैष्णव-धर्म हिंसा के विरोध में ही उठा था। अतः समाज को मन, वचन, कर्म से अहिंसक बनाने का प्रयत्न वैष्णव धर्म ने ही किया। यदि बुद्ध के समय में उठी हुई यह अहिंसा की लहर वैष्णव धर्म के द्वारा हम तक न पहुँची होती तो आज हम महात्मा गांधी के अहिं-सात्मक आंदोलनों को एकदम असफल या अव्यावहारिक

पाते। वैष्णवधर्म ने जनता की आत्मा को ईश्वरविश्वास से दृढ़ किया, उसने भक्ति-द्वारा समाज के हृदय का परिष्कार किया, उसने व्यक्तिगत आचरण पर बल देकर समाज में सदाचार की प्रतिष्ठा की।

जब हम भक्तों और समाज से संबंध जोड़ने लगते हैं तो अजीब-अजीब बातें कहने लगते हैं। क्या भक्तों का समाज से कोई संबंध है? भक्त समाज में हैं ही कहाँ? उनका साहित्य पराजय, आत्मप्रताड़न और अंधविश्वास का साहित्य है। भक्तों ने ईश्वरावतार का भुलावा देकर हमें शताब्दियों तक मुसलमानों का ग़ुलाम बनाये रखा। उन्होंने पाखंड और परलोकवाद का आश्रय लिया। उन्होंने व्यक्तित्व के परिष्करण पर बल देकर समाजत्व की अपेक्षा की। भक्तकाव्य पलायनवादी साहित्य है। इस प्रकार के अनेक भ्रामक विचार हममें घर किये हैं। विचारों को ही सब कुछ मान लेने वाले लोग यह नहीं जानते कि समाज एक व्यापक वस्तु है और उसमें वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में रहने वाले मनुष्यों का भी स्थान है। वानप्रस्थी और संन्यासी भी समाज के सदस्य हैं और उस पर प्रभाव डालते हैं। भक्त तो समाज में रह कर जीविका चलाते थे या समाज को ही अपना कर्मक्षेत्र बनाये हुए थे। संतों ने तो अपना-अपना व्यवसाय और लोक-व्यवहार भी पूर्णतयः बनाये रखा। वे बराबर समाज के सदस्य (गृहस्थ) रहे। कृष्णभक्ति का संबंध बड़े-बड़े मंदिरों से था जहाँ जनता उनके

गान-कीर्तन-उपदेश सुनने के लिए प्रतिदिन उपस्थित होती थी। वस्तुतः मंदिर ही मध्ययुग के समाज के केन्द्र हो रहे थे और जनता को वहीं से धर्म-ज्ञान के संदेश मिलते थे। इस प्रकार राजशक्ति खोकर हिन्दू जाति और हिन्दू समाज वृंदावन-मथुरा के कृष्णमंदिरों, अयोध्या के राम-मंदिरों और काशी के मंदिरों एवं पंडितों के निवास-स्थानों में केन्द्रित हो गये थे। इन्हीं केन्द्रों से भक्ति का संदेश समाज तक पहुँचा और उसने समाज को आध्यात्मिक और नैतिक कितने ही अमूल्य संदेश दिये एवं उसकी स्थिति को डाँवाडोल होने से बचा दिया।

परंतु इसमें तर्क के लिए किंचित् भी स्थान नहीं है कि हिंदी का वैष्णव काव्य मुख्यतः व्यक्ति के जीवन निर्माण पर बल देता है। उसमें सामाजिक चेतना का अभाव है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि उसने जनता के सामने मध्ययुगीन विलासिता और उच्छृंखलता के विरोध में नैतिक तत्त्वों और आदर्शवाद की पूर्णतय: प्रतिष्ठा की। कृष्णकाव्य में लोक-रंजन है तो रामकाव्य में लोकमर्यादा। इस प्रकार यह साहित्य जहाँ एक ओर रसधर्मी है, वहाँ दूसरी ओर नीतिधर्मी। वास्तव में वह और भी बहुत कुछ है। क्या साहित्य, क्या धर्म, क्या दर्शन, क्या नैतिक जीवन – सब का रस यदि एक स्थान पर प्राप्त करना हो तो वैष्णवों, भक्तों और संतों के काव्य को पढ़िये। संसार के काव्य-साहित्य में जो सर्वश्रेष्ठ है, वह यहाँ है और जो यहाँ नहीं है वह कहीं भी नहीं है। कौन

रस ऐसा है जिसका सबसे अधिक परिपाक हिंदी भक्तिकाव्य में नहीं हुआ—शृंगार रस, वीररस और भक्तिरस तो इस काव्य के गुण ही हैं। फिर कौन क्षेत्र ऐसा है जिससे भक्तों की कल्पना ने बल नहीं प्राप्त किया, कौन ऐसी उदात्त भावना है जो अलंकारों में नहीं बँधी, जिसने संगीत की नई-नई तालों और नए-नए रागों का रूप ग्रहण नहीं किया। सच तो यह है कि प्राचीन संस्कृत काव्य के सन्मुख यदि हम कुछ रख सकते हैं तो यही हिंदी भक्तिकाव्य। जिस काव्य ने हमें 'रामचरितमानस', 'विनयपत्रिका', 'मीरां की पदावली' और हितचौरासी जैसे अनमोल रत्न दिये, उस काव्य की महिमा सदा बनी रहेगी, इसमें संदेह नहीं। प्राचीन हिंदी काव्य में जो सर्वश्रेष्ठ है, वह भक्तिकाव्य की विभिन्न धाराओं के संबंधित काव्य के अंतर्गत आ जाता है। धर्म, दर्शन, काव्य और व्यक्तिगत साधना का ऐसा सुन्दर समन्वय और कहीं भी मिलना कठिन है। सूरदास, तुलसीदास, कबीर, नंददास, हित-हरिबंश, दादू और न जाने कितने संतों और भक्तों की जीवनव्यापी साधना आज हमारे सामने इसी माध्यम से पहुँचती है और उसमें तप और विश्वास का इतना बल है कि आज तीन शताब्दियों के बाद भी हम भावविभोर हो जाते हैं। अविश्वास, नास्तिकता और बर्बरता के इस युग में मनुष्य के अंतर्जगत और उसके व्यक्तित्व के नव-निर्माण के लिए इसमें बहुत कुछ मिलेगा।

कल्पना, अनुभूति और आध्यात्मिक स्फूर्ति द्वारा मनुष्य ने प्रत्येक युग में प्रत्येक देश में इसी पृथ्वी पर स्वर्ग उतारना चाहा है। वैष्णव भक्तों का स्वर्ग आज भी उतना ही आकर्षक है जितना उनके युगों में था। इस स्वर्ग में सब कुछ है। जो यहाँ है वह इससे अच्छे रूप में कहीं नहीं मिलेगा। जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है। इतनी बड़ी भाव-विभूति, इतनी बड़ी प्रेम और विरह की साधना, इष्टदेव का इतना ऐश्वर्य, कल्पना और कला का इतना विलास, संगीत की इतनी माधुरी, दर्शन की इतनी नभ-चुंबी उड़ान—इतनी बड़ी विभूति को कैसे आँका जाये, यही समस्या है। जो हो, यह निश्चित है कि हमारी काव्य-परंपरा की सबसे सुन्दर मणि भक्तों और संतों का काव्य ही है। मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति का हृदय-मन जैसा इस साहित्य में प्रतिविंवित है, वैसा और कहाँ मिलेगा ?

इस वैष्णव भक्तिकाव्य के कई अंग हैं। नीचे हम इन अंगों की अलग-अलग विवेचना करेंगे और साहित्य में उनका स्थान निर्धारित करने का भी प्रयत्न करेंगे।

(क) राम

रामोपासना का प्रचार कदाचित् अत्यंत प्राचीन काल से व्यापक रूप से चला आ रहा है। मध्ययुग से पहले उसके संप्रदाय की प्रतिष्ठा भले ही नहीं हुई हो, परंतु ऐतिहासिक खोजों से यह पता चलता है कि शताब्दियों पहले भारत

की धर्मभावना और चिंतन-धारा राम को लेकर चलती थी। वैष्णवभक्ति में रामभक्ति सबसे प्राचीन है।

रामपूर्वतापनीय और उत्तरतापनीय उपनिषदों से इसी रामोपासना का प्राचीनतम रूप मिलता है। महाभारत और पुराणों से भी यही बात सिद्ध होती है। अगस्त्य-सुतीक्ष्ण संवाद संहिता भी प्राचीन ग्रंथ है। राम को लेकर जितना साहित्य लिखा गया है, उसका दशमांश भी कृष्ण को लेकर नहीं लिखा गया। इससे रामोपासना की व्यापकता और प्राचीनता का पता चलता है। काव्य के रूप में जिस ग्रंथ की रचना हुई है वह केवलमात्र वाल्मीकि रामायण है। अन्य ग्रंथ संवाद की पौराणिक शैली ग्रहण करते हैं। प्रसिद्ध अध्यात्मरामायण ब्रह्मपुराण का एक अंशमात्र है और उसमें रामकथा शिवा-शिव के संवाद के रूप में प्रकाशित की गई है। संवृत्त रासायण (नारद), अगस्त्य रामायण (अगस्त्य), लोमस रामायण (लोमस ऋषि), मंजुल रामायण (सुतीक्ष्ण ऋषि), सौमध रामायण (अत्रि ऋषि), रामायण महामाया (शिवपार्वती-संवाद), सौहार्द्र रामायण (शरभंग ऋषि), रामायण मणिरत्न (वशिष्ठ-अनुरंधती), सौर्य रामायण (हनुमान-सूय), चांद्र रामायण (हनुमान-चंद्रमा), मैन्द्र (मैन्द्र-कौरव), स्वयंभुव (ब्रह्मा-नारद), सुब्रह्मण सुवर्चस (सुग्रीव-तारा), देव (इन्द्रजीत), श्रवण (इन्द्र-जयंत), दुरन्त (वशिष्ठ-जनक) और रामायण-

चंमू (शिव-नारद) कुछ प्रसिद्ध रामायणें हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक पुराण में रामावतार की कथा है। अध्यात्मरामायण और योग-वासिष्ठ महारामायण अद्वैतवादी ग्रंथ हैं। उपनिषदों और रामायण के राम परात्पर ब्रह्म हैं।

मध्ययुग में रामावत उपासना को रामानंद (मृ० ति० १४११ ई०) ने बलवती किया। उनसे पहले रामानुज ने भी रामोपासना की व्यवस्था दी थी, परंतु वह ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादी विशिष्टाद्वैती थे। वह राम को विष्णु और नारायण का अवतार मानते थे। रामानंद ने राम की उपासना परब्रह्म के रूप में चलाई। वे भी विशिष्टाद्वैतवादी थे परंतु अपने मत का प्रतिपादन नए ढंग से करते थे। रामानंद के समकालीन ही नामदेव और त्रिलोचन ने महाराष्ट्र में रामोपासना का प्रचार किया। उत्तरभारत में सदन और बेनी ने इसी प्रकार का काम किया। रामानंद की अधिकांश शिक्षा मौखिक थी, अतः उनके शिष्यों के मतवादों से हम उसकी रूपरेखा स्थिर कर सकते हैं। रामानंद ने कोई संप्रदाय-विशेष खड़ा नहीं किया, परंतु उनकी रामोपासना-रीति उनकी सहिष्णुता के कारण स्मार्त-संप्रदाय में बिना संप्रदाय-भेद के फैली।

परंतु रामानंद के निर्गुणी शिष्यों ने राम को नये ही अर्थ दिये और अवतारवाद पर चोट की। परब्रह्म के रूप में राम उन्हें अवश्य मान्य थे—यह निश्चित है, परंतु रामानंदियों

में अगस्त्य-सुतीक्ष्णसंवाद और अध्यात्मरामायण के प्रचार से रामभक्ति का भी इंगित मिलता है।

रामकथा का आदिस्रोत बाल्मीकि रामायण माना जाता है। विद्वानों ने इस पर अपनी गवेषणाएँ उपस्थित की हैं और उसे अनेक प्रकार से परखा है। उनका कहना है कि उसकी रचना ६०० पू० ई० से ४०० पू० ई० तक हुई है। यह भी कहा जाता है कि पहला और सातवाँ कांड प्रक्षिप्त है। बाल्मीकि का कोई भी पाठक यह समझ जाता है कि रामकथा राम के राज्याभिषेक पर समाप्त हो जाती है और लवकुश और सीता के द्वितीय बनवास की कथाओं का कोई भी इंगित इसमें नहीं मिलता। प्रथम कांड में हमें अवतार कथाओं की एक बड़ी भीड़ मिलती है और साथ ही राम में अवतार की वैष्णव भावना। बाल्मीकि स्पष्ट ही नरकाव्य लिख रहे हैं, अतः इस प्रकार की भावनाएँ स्पष्टतः प्रक्षिप्त मानी गई हैं।

इसी समय की राम-संबंधी लोक-कथाओं का रूप हमें बौद्ध और जैन कथाग्रंथों में मिलता है। बौद्ध कथा 'दशरथ-जातक' प्रसिद्ध है। इन लोककथाओं से बाल्मीकि की राम-कथा का अंतर चिंत्य है। कुछ लोगों का कहना है कि बाल्मीकि की रामकथा का मूल स्रोत दशरथ-जातक ही है। राहुल सांकृत्यायन का यही मत है। वह बाल्मीकि को शुंग वंश (पुष्य मित्र) का आश्रित कवि अनुमान करते हैं। ईसा के २०० वर्ष पूर्व

इसी शुंग वंश ने साकेत (अयोध्या) को अपनी राजधानी बनाया था। तब तक अयोध्या नाम ही नहीं पड़ा था। अतः उनका अनुमान है कि इसी साकेत के शुंगवंशीय वैभव का चित्रण रामकथा में हुआ है। शुंग वंश के समय में बौद्ध धर्म का प्राबल्य था और बुद्ध में देवत्व की स्थापना हो चुकी थी। प्रक्षिप्त अंश ५०० पू० ई० माना गया है। इस समय वायुपुराण के रचनाकाल तक राम में देवत्व की स्थापना हो चुकी थी। बाद के पुराणों में रामकथा अनिवार्य रूप से चलती है। भागवत (८ वीं – ६ वीं शताब्दी) तक पौराणिक रामकथा हमें प्राप्त है। साथ ही राम-सीता तत्त्व के निरूपण के लिए भी कुछ ग्रंथ लिखे गये हैं। इनमें दो प्रसिद्ध हैं—रामपूर्वतापनीय उपनिषद् और राम उत्तरतापनीय उपनिषद्। इनमें राम ब्रह्म हैं, सीता शक्ति। ये राम के प्रति लोकोतर-भावना के विकास को स्पष्ट करते हैं। अध्यात्मरामायण और अगस्त्य-सुतीक्ष्ण संवाद संहिता ने राम के विष्णु और ब्रह्म-पर रूप को और आगे बढ़ाया। पौराणिक रचनाओं के अतिरिक्त नाटक (हनुमन्नाटक, प्रबुद्धराघव, प्रसन्नराघव, प्रगल्भराघव, अनर्घ राघव), महाकाव्य (सेतुबंध, रावण-विजय) और खंडकाव्य (भक्तिकाव्य) के रूप में भी रामकथा लिखी गई। १४ वीं शताब्दी तक रामकाव्य भक्तिकाव्य नहीं बना था। इस शताब्दी से हमें रामानंद के दर्शन होते हैं। इन्होंने ही राम-सीता को उपास्य देव मान कर भक्ति का उपदेश किया। इन्होंने अध्यात्म

अगस्त्य, सुतीक्ष्ण-संहिता और श्रीरामार्चनपद्धति को प्रधानता दी। फल यह हुआ कि राम का ब्रह्म-पर रूप दर्शनक्षेत्र से निकल कर भक्तिक्षेत्र में आ गया। कहते हैं, प्रचलित रामरक्षा-स्तोत्र की भी उन्होंने रचना की, परंतु उनकी भाषा आदि से हम किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सकते। संभव है, वही पहले रामस्तोत्र के लेखक रहे हों। इनके अधिकांश ग्रंथ संस्कृत में हैं, केवल दो हिन्दी रचनाएँ ग्रंथसाहब द्वारा प्राप्त हैं। इनमें से एक पद हनुमान की विनय से संबंधित है। अतः वह हनुमानोपासक जान पड़ते हैं। सगुणोपासना को वह निंदनीय नहीं समझते। परंतु इसी ग्रंथ में उनका जो दूसरा पद है उससे उनका निर्गुण निराकार की उपासना में भी विश्वास प्रकट होता है—

कत जाइये रे घर लागो रंग
मेरा चित न चलै मन भयो पंग
एक दिवस मन भई उमंग
घसि चोआ चंदन बहुग सुगंध
पूजन चली ब्रह्म ब्रह्म ठाँय
सो ब्रह्म बतायो गुरुमंत्रहिं माँहि
जहँ जाइये तहँ जल परवान
तू पूर रह्यो है सब समान

वेद पुरान सब देखे जोय
उहाँ तो जाइये जो इहाँ न होइ
सतगुर मैं बलिहारी तोर
जिन सफल निकल भ्रम काटे मोर
रामानंद स्वामी रमत ब्रह्म
गुरु का सबद काटे कोटि करम

इस पद से रामानंद की निर्गुण-प्रवृत्ति साफ हो जाती है। ब्रह्म गुरु में ही है। गुरु का शब्द ही ब्रह्म है। उसे ढूँढ़ने के लिए कहीं जाना नहीं पड़ता। पद का अर्थ इस प्रकार होगा— "कहाँ जाऊँ ? कैसे जाऊँ ? मेरे घर में आज स्वयम् ही उत्सव हो रहा है। चित्त ने स्थितप्रज्ञ अवस्था प्राप्त कर ली है, मन पंगु हो गया है। एक दिन मन में उमंग उठी कि अगरु-चंदन-धूप लेकर ब्रह्म की आरती की जाय तो गुरु ने बताया कि ब्रह्म तो 'मंत्र' (ज्ञानोपदेश) में ही है। वह तो जल के समान सब जगह है—समान रूप से सबमें व्याप्त। वेद-पुरान में तो उस ब्रह्म को वह खोजे जो यहाँ (आत्मा में) उसे नहीं पा सके। सतगुरु ने मेरा भ्रम काट दिया। जीवन सफल कर दिया। मैं उनकी बलिहारी। वे सतगुरु हैं रामानंद स्वामी जो रमते हुए (जीवित-जाग्रत) ब्रह्म हैं। गुरु (रामानंद) का शब्द (उपदेश) कोटि-कोटि कर्मबंधन काट देता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानंद के उपदेश में निर्गुण राम और हनुमान की भक्ति की

झलक है। हनुमत्भक्ति रामानंदी संप्रदाय की विशिष्टता है। हनुमान परमभक्त थे। इसलिए उनकी भक्ति रामभक्तों के लिए आदर्श और रामभक्ति का साधन है। रामानंद की पद्धति का आभास 'वैष्णव मतांतर भास्कर' और उनके गुरु राघवानंद की सिद्धांत पंचमात्रा में मिलता है। डा० बड़थ्वाल का अनुमान है कि राघवानंद और रामानंद ने योग और भक्ति का समन्वय उपस्थित किया ('योग प्रवाह', पृ० १७)। "ऊपर की सब बातों का तारतम्य स्थापित करने से यह अनुमान होता है कि जिस समय दक्षिण से आकर श्री यामुनाचार्य और रामानुज की वैष्णव भक्ति का उत्तर में प्रचार हुआ उस समय वहाँ योग-संप्रदाय का बहुत प्रसार था। इन नवीन भक्ति के प्रभाव में योग-संप्रदाय के बहुत से लोग आ गये। परन्तु साथ ही इन लोगों ने पुराने मार्ग की बातों को जो उनके अस्तित्व के अभिन्नांश हो गये थे, त्यागा नहीं। उन्हें नई परिस्थितियों के साथ समन्वित कर लिया। इसीलिए हमें रामानंद, कबीर, रैदास आदि उनके उत्तराधिकारियों में योग और भक्ति का पूर्ण समन्वय मिलता है।" (वही पृ० १६-१७) नाभाजी के अनुसार राघवानंद भक्ति-आंदोलन के बड़े भारी नेता थे। उन्होंने दक्षिण से उत्तर में आकर राममंत्र का प्रचार किया और काशी में बस गये। रामानुज से आरंभ कर उनकी परंपरा इस प्रकार है: -

रामानुज
|
देवाचार्य
|
हरियानंद (हर्यानंद)
|
राघवानंद
|
रामानंद (१२६६-१४११)
|
- [निर्गुण राम]
  - कबीर (१३६८-१५१८)
  - रैदास
  - धन्ना
  - पीपा
  - सेना
  - सदना
- [सगुण राम]
  - ⋮ तुलसीदास (१२३५-१६२३)
  - ⋮ मिहीलाल (१७ वीं शताब्दी)

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानंद हिन्दी की दो विशिष्ट रामधाराओं के आदि में आते हैं।

रामानंद के बाद वैष्णव रामकाव्य के दो रूप हिंदी भाषा

में प्रचलित हुए। एक में उनके निर्गुण राम को अपनाकर कबीर ने अपना ब्रह्मवाद स्थापित किया। इसमें राम परब्रह्म से भी परे हैं, परंतु सगुण दाशरथि राम को अस्वीकार करने के कारण रामकथा का उपयोग ही नहीं हुआ है। दूसरी परंपरा का तुलसी-पूर्व रूप अभी अंधकार के गर्भ में है। तुलसी के पूर्व की रामकथा का थोड़ा-सा अंश सूरदास के काव्य में मिलता है। इसके बाद तुलसी का विपुल राम-साहित्य है जो अनेक भावनाओं के साथ प्रकाशित हुआ है। रामचरितमानस (१५७४ ई०) उनका सर्वोत्तम ग्रंथ है। तुलसी के बाद उनके समय में ही कुछ महत्त्वपूर्ण रामकथा-ग्रंथ सामने आये – केशवदास की 'रामचंद्रिका' (१६०१ ई०) और मुनिलाल का 'रामप्रकाश' (१५८५ ई०)। तुलसी के पहले सूरदास के सूरसागर में राम-कथा पदों के अंतर्गत लिखी जा चुकी थी और तुलसी उससे परिचित अवश्य थे। कदाचित् सूर से पहले पदों में रामकथा का प्रकाशन नहीं हो पाया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के पहले हिंदी साहित्य में रामकथा बहुत थोड़ी थी, केवल सूर के कुछ पदों को छोड़ कर शेष में भक्ति-भावना नहीं थी। तुलसी की प्रतिभा ने इस छोटी-सी नींव पर राम-कथा का विराट मंदिर उठाया। उनके बाद उनके समय में रामकथा की ओर कवियों का आकर्षण बढ़ा, परंतु परवर्ती कवि भक्ति की अपेक्षा काव्यशास्त्र से अधिक प्रभावित थे और उन्होंने संस्कृत काव्य-साहित्य के

अनुकरण में रामकथा को लेकर अलंकार, रस और पिंगल ग्रंथों की रचना की। इन ग्रंथों में जहां भक्ति की झलक है भी, वह सामयिक वातावरण का प्रभाव है। कवि का अपना दृष्टिकोण भिन्न है। रामभक्ति का संबंध मुख्यतः हिंदी के पूर्वी प्रदेश से है। पूर्वी प्रदेश के समस्त आंदोलनों में मूलतः धार्मिक एवं सामाजिक सुधार की नीतिपरक भावना सन्निहित थी। वे लोक-संग्रह की भावना से परिचालित थे। तुलसी का काव्य इस प्रदेश की लोकसंग्रह-वृत्ति का उत्तराधिकारी है। रामभक्ति की प्रतिष्ठा इसी प्रदेश में रामानंद ने की थी परंतु युग की विशेष परिस्थितियों के कारण उनके बाद उनके सगुण राम को संतों ने निर्गुण राम का रूप दे दिया और साहित्य में वह इसी रूप में अधिक दृष्टिगोचर हुआ। परंतु रामचरित की महत्ता बराबर स्थापित रही, भले ही साहित्य में उसके चित्र न मिलते हों।

इसमें संदेह नहीं कि रामकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं। उनका 'रामचरितमानस' मध्ययुग का सबसे श्रेष्ठ ग्रंथ है। वह एक ही साथ बहुत कुछ है—धर्म-ग्रंथ, महाकाव्य, चरित्रकाव्य, व्यवस्था-ग्रंथ (शास्त्र), भक्तिकाव्य, दर्शन। वह गीतिपाठ के लिए भी है जैसा उसकी कितनी ही चौपाइयों से निर्दिष्ट है। इसी से उसका निर्माण प्रचलित पुराण-पद्धति पर हुआ है। इस पद्धति में कथा की रचना संवाद-रूप में होती है। रामकथा जहाँ-जहाँ पौराणिक रूप में मिलती है,

जहाँ-जहाँ वह संवाद-रूप में ही हमारे सामने आई है। इसी से तुलसी ने यही रूप ग्रहण किया।

तुलसी के काव्य की विशेषता यह है कि वह किसी विशेष संप्रदाय के भीतर से नहीं आया है। इसी से उसमें किसी विशेष संप्रदाय के विशेष धार्मिक एवं दार्शनिक मतवाद का पोषण नहीं किया गया है। अनेक स्थानों पर कवि ने आश्चर्य-जनक समन्वय-बुद्धि का परिचय दिया है। इन्हीं कारणों से उनका ग्रंथ सभी सम्प्रदायों को मान्य रहा है। प्रत्येक संप्रदाय 'मानस' को अपने ढंग पर अपनाता और अपने मत का उस पर आरोप करता रहा है। इतना होने पर भी यह आश्चर्य की बात है कि मानस के प्रधान अर्थ में किसी भी प्रकार की विकृति नहीं हुई है। यह प्रधान अर्थ है भक्तिरस-निरूपण। 'मानस' में कथा-प्रसंग के अंतर्गत जितने भी रस आये हैं उन सब का उपसंहार भक्ति-रस में हुआ है। सारा ग्रंथ राम की ब्रह्म-भावना से ओतप्रोत है। राम ब्रह्म हैं। सीता शक्ति हैं। उनका लौकिक जीवन लीला-मात्र है। संसार माया है। उन्हीं के इंगित से वह मनुष्य को नचाती है। मनुष्य माया-जन्य भ्रम के कारण परिस्थितियों पर सुख-दुख का आरोप करता है। सच्ची वस्तुस्थिति को वह समझता नहीं। माया का नाश भगवान की कृपा से ही हो सकता है। राम की कृपा का एकमात्र साधन भक्ति है। यह तुलसी का मौलिक मत है।

हिंदी साहित्य में तुलसी ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपने

समय की दो मुख्य काव्य-भाषाओं का अत्यंत उत्कृष्ट प्रयोग किया, अपने समय की सभी प्रचलित शैलियों में रचना की, अनेक छंदों पर सरलता से लेखनी चलाई और उसमें से प्रत्येक में रस, अलंकार और ध्वनि भरने में सफल हुए। उनके साहित्य में लोक और परलोक, काव्य और धर्म, मृत्य और अमृत्य की सीमाएँ आ जुड़ी हैं। तुलसी हिंदी काव्य के महाकवि हैं, भक्तों मे शिरोमणि हैं और नैतिक क्षेत्र में धर्मगुरु हैं। उनका महत्त्व अद्भुत है। उन्होंने अपने से पहले के सारे संस्कृत और हिंदी काव्य से लाभ उठाया है। 'नाना पुराण निगमागम सम्मत:'—वात प्रत्येक प्रकार से ठीक है। कथा-सौष्ठव चाहे उनका हो, परंतु वे कथा के लिए अवश्य ही बाल्मीकि, अध्यात्मकार, प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक के ऋणी हैं। विषय विस्तार के समय उन्होंने संस्कृत के सैकड़ों सुभाषितों को हिंदी में गूँथ दिया है। अकेले मानस पर दो-ढाई सौ संस्कृत ग्रंथों का ऋण है। स्वयं तुलसी ने कम नहीं दिया है परंतु उन्होंने संस्कृत काव्य का मंथन भी किया है जिससे मानस संस्कृतज्ञों का भी दीत रहा है। २० वर्ष बाद जब केशवदास को रामचरित पर कथा लिखने की सूझी तो वे तुलसी के काव्य से इतने दबे हुए थे कि उन्होंने संस्कृत के राम काव्य से विशेष सहारा लेना उचित न समझा और सारी रचना को मौलिक योजना पर खड़े करने के प्रयास के कारण वे असफल रहे । तुलसी के बाद रामकाव्य का कोई भी

पक्ष आगे नहीं बढ़ सका—इतना कुछ तुलसी स्वयं कर गए थे। परवर्ती कवियों को कोई नवीन दिशा ही न सूझी।

परंतु केवल 'मानस' ही तुलसी ने नहीं दिया। उन्होंने पूर्ववर्ती और समसामयिक सभी काव्यधाराओं में थोड़ा-बहुत योग दिया परंतु राम के माध्यम से। कबीर का संत-ज्ञान लगभग उसी भाषा में 'वैराग्य-संदीपिनी" में मिलेगा। वीर रसपूर्ण कवित्त-सवैयों की परंपरा में "कवितावली" का विशिष्ट स्थान है विशेष कर उसके सुन्दरकांड का शौर्य और ओज और उसकी रसपुष्टता भूषण के कवित्त-सवैयों में भी न मिलेगी। सूर के काव्य का तुलसी ने विशेष रूप से अध्ययन किया था। हम सूर के काव्य को दो भागों में बाँट सकते हैं—विनयावली और कृष्णकथा को तुलसी ने विनयावली के स्थान पर उससे कहीं पुष्ट और कहीं अधिक कथासौष्ठवपूर्ण विनयपत्रिका दी। सूर की कृष्णकथा के समकक्ष 'रामगीतावली' में पदबद्ध रामकथा लिखी। उसकी वात्सल्य रस और शृंगार की योजना के लिए वे एकांततः सूर के आश्रित हैं। पद-लालित्य की सृष्टि के लिये भी उन्हें भाषा, भाव, शब्दकोप—सब में बहुत कुछ सूर से लेना पड़ा है परंतु यह सब लेकर उन्होंने रामकथा को सर्वग्राही, सर्वहारी बना दिया है। "कृष्णगीतावली" में सूर का ऋण उनके सिर पर चढ़ कर बोल रहा है। संभव है तुलसी ने विनयपत्रिका में श्रीकृष्णस्तोत्र दिया हो, और उनके शिष्यों और प्रशंसकों ने सूर के पद उसके आगे-पीछे

जोड़ कर उनके नाम पर चलाये हों या उन्होंने कुछ अपनी रचनाओं को इस स्तोत्र के साथ सूर की रचनाओं में जोड़ दिया हो। जो हो, परिस्थिति स्पष्ट है। 'कृष्णगीतावली' में कथा विशृंखल है, सूर के क्षेत्र में तुलसी असफल ही नहीं हैं, वे उनकी ही वाणी प्रतिध्वनित कर रहे हैं। सतसई-परंपरा में तुलसी ने 'सतसई' लिखकर योग दिया और खंडकाव्य की परंपरा को 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' दिये। दोनों मंगलों की रचना विवाह-समय के गीतों का स्थान लेने के लिए की गई हैं। इससे स्पष्ट है कि तुलसी जनसमाज पर तीव्र दृष्टि रखते हैं और अपने कुछ काव्यों में जहाँ उन्होंने पंडित वर्ग का ध्यान रखा है वहाँ निम्न वर्गों के संस्कारों और रीति-रिवाजों को राममय बनाने से भी नहीं चूके हैं। प्रचलित लोकछंदों—सोहर और बरवै—का प्रयोग इस बात को स्पष्ट करता है। 'रामलला नहछू' की अश्लील श्रृंगारिकता, जिसके लिए कवि लांछित किया जाता है, कवि के जन-हृदय तक पहुँचने की जीवंत चेष्टा मात्र है। 'बरवै' का इतिहास चाहे जो रहा हो, इस छंद में राम-कथा ढाल कर तुलसी ने जन-हृदय को ही स्पर्श किया है। 'रामाज्ञा-प्रश्न' और 'रामशलाका' में हम उन्हें अपने युग के कवि-कर्म को पूरा करते पाते हैं।

तुलसी और उनकी कृतियों का महत्त्व क्या है? तुलसी का जन्म ऐसे युग में हुआ था जब हिंदू जाति देवभाषा संस्कृत को खो चुकी थी। जनसाधारण के सामने नैतिक और सामाजिक

व्यवस्था रखने वाला कोई ग्रंथ जनता की भाषा में नहीं लिखा गया था। फल यह हुआ कि चारों ओर अराजकता थी। देश विलासिता और अकर्मण्यता में डूब रहा था। हिंदू आचार-विचारों पर इस्लामी संस्कृति और सूफ़ी मत का रंग था। कुछ इसलिए कि इस्लाम इस समय राजधर्म था, कुछ इसलिए कि तुलसी के अग्रगामी अवधी के सूफ़ी कवियों (जायसी आदि) और संतों ने 'कहानो, आख्यान' कह कर एक बीच की लीक चलाई थी जो विजेता के मत की ओर अधिक झुकती थी। भक्ति का आविर्भाव तो हो गया था परंतु उसका जो रूप व्रज में बल्लभ-सम्प्रदाय द्वारा प्रचार पा रहा था उसमें कर्तव्य-परायणता और सदाचार के उच्च आदर्शों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। उसकी जड़ लौकिकता में नहीं थी। उसमें मोह और आसक्ति की प्रधानता होने के कारण वह कभी भी कलुषित हो सकता था। गोस्वामी जी ने मर्यादापुरुषोत्तम राम का चरित्र जनता के सामने रखा। उनके राम मर्यादा के पालने वाले थे। अपने युग की उच्छृंखलता के आगे तुलसी ने आदर्श की सौम्य परंतु तेजस्वी मूर्ति खड़ी की। उन्होंने राम का पाठ पढ़ाया। हमारे लौकिक संबंधों को कैसा होना चाहिये ?—राम-सा पुत्र हो, भरत-सा भाई हो, लक्ष्मण-हनुमान-सा सेवक हो। पत्नी का आदर्श सीता और मंदोदरि, पिता के आदर्श दशरथ, प्रजापालक राजा के आदर्श राम। उन्होंने रोग को पहचाना और ठीक उपचार किया। पिछली तीन शताब्दियों में तुलसी

की कृतियों की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। राजमहलों से लेकर मज़दूरों की कुटियों तक—जहाँ हिंदू-हृदय है, वहीं तुलसी और उनकी रचनाओं का स्थान है। उनकी प्रतिभा देश, काल, पात्र के परे सारे संसार की चीज़ हो गई है।

(ख) कृष्ण

कृष्ण-काव्य की भाषा ब्रजभाषा है और वह प्रधानतय: पुष्टि-मार्ग (बल्लभ संप्रदाय) से होकर हिंदी में आया है। जिस रूप में वह हिंदी-साहित्य में उपलब्ध हुआ है उस रूप में उसकी सत्ता जयदेव के 'गीत-गोविंदम्' को छोड़ कर संस्कृत साहित्य में नहीं थी, यद्यपि राधाकृष्ण के मूल और विकास के लिए हमें संस्कृत के पुराणों और संस्कृत-काव्य साहित्य के पृष्ठ भी उलटने पड़ेंगे। जो हो, संस्कृत में राधाकृष्ण संबन्धी काव्य न इतना व्यापक है, न इतना रसपुष्ट,। न अध्यात्म की इतनी ऊँची भूमि पर उठा हुआ जितना हिंदी का कृष्णकाव्य।

हिंदी कृष्णकाव्य का मूलाधार श्रीमद्भागवत पुराण है। राधाकृष्ण की प्रेम-कथा हमें पहली बार ब्रह्मवैवर्त पुराण में मिलती है। यह कथा भागवत में नहीं है। भागवत में गोपियों और कृष्ण के प्रेमचित्रण की प्रधानता है, राधा है ही नहीं। वहाँ एक विशिष्ट गोपी अवश्य है जिसका कथन रास के प्रसंग में मिलता है। परंतु हिंदी कवियों ने यह कथा ब्रह्मवैवर्त पुराण से नहीं ली। कदाचित् यह उनकी मौलिक उपज है अथवा लोकगीतों आदि के रूप में उसका प्रचार पहले भी था। हिंदी

के कृष्णकाव्यों में कृष्ण के प्रेम के दो केन्द्र हैं : गोपियाँ और राधा। राधा सचमुच हिंदी की अनमोल सृष्टि है जिसके प्रति इस युग की भावुकता ने अश्रु-हास-समन्वित अपने हृदय की सारी विभूतियाँ अर्पित की हैं।

परंतु कृष्णकाव्य कथाकाव्य या चारित्रकाव्य नहीं है। यह अवश्य है कि सूरसागर जैसे ग्रंथ में (कम-से-कम जिस रूप में वह प्राप्त है) कथा का क्षीण सूत्र दौड़ रहा है, परंतु उसका रूप मुक्तक ही है। वह गीतिकाव्य है। इसी मुक्तक के रूप में उसका निर्माण हुआ है। धार्मिक संस्कृति के नित्य और नैमित्तिक कर्मों ने भी उसके निर्माण में उतना ही योग दिया है जितना कवियों की अध्यात्म-भावना और उनकी काव्यानुभूति ने। परंतु साथ ही यह कहना भी गलत न होगा कि कृष्णकाव्य के एक बड़े भारी अंश की कल्पना खंडकाव्य के रूप में ही की गई है। हमारा तात्पर्य खंडकाव्य से केवल इतना है कि कवि ने मुक्तक पदों की रचना करते समय कभी किसी एक विशेष परिस्थिति को ही लिया, कभी दूसरी को। इन परिस्थितियों की परिपाटी भी शीघ्र ही बन गई। इन परिस्थितियों को हम इन शीर्षकों में दे सकते हैं :

१ – बाललीला

२ – राधाकृष्ण – प्रेमलीला

३—मानलीला (छोटी)

४ – .. (बड़ी)

५ – रास

६ – जलविहार

७ – भ्रमरगीत

८ – राधाकृष्ण का पुनः संयोग

'भागवत' में गोपियों और कृष्ण के प्रसंगों के अंतर्गत इनके संक्षिप्त वर्णन हैं, परंतु वे कथात्मक हैं। रस की दृष्टि से उन्हें हिंदी कथाकाव्य ने पहली बार उपादेय बनाया है। कुछ कवियों ने इनमें से कुछ प्रसंगों को वर्णनात्मक कथाकाव्य (खंडकाव्य) का रूप दिया है जैसे नंददास, सोमनाथ प्रभृति कवियों ने अपनी 'रासपंचाध्यायियों' में। वास्तव में कृष्णकवियों को रास, मान और भ्रमरगीत के प्रसंग अथवा उपालंभ वाले अंश ही अधिक प्रिय रहे हैं। यही वे स्थल हैं जो पूर्णतः आध्यात्मिक रूपक माने जा सकते हैं। जिन प्रसंगों में भक्तिकाव्य और आध्यात्मिक रूपक का अंश नहीं था, उनमें उनकी रुचि नहीं जगी। असुर-बध के प्रसंगों को सूरदास आदि कवियों ने केवल कहने भरने के लिए कह दिया है।

यह ध्यान देने की बात है कि संस्कृत-साहित्य में महाभारत जैसे महाकाव्य में कृष्ण का महान् व्यक्तित्व चित्रित है परन्तु भक्तों की दृष्टि इस ओर नहीं गई। उन्होंने भागवत तक ही अपनी दृष्टि सीमित रखी। उनका भक्त-हृदय कृष्ण के किशोर और प्रेमी रूप पर ही मुग्ध रहा। हाँ, भक्तों के सिवा जिन कुछ और कवियों ने कृष्ण-साहित्य की ओर दृष्टि की,

उन्होंने 'रुक्मिणी-हरण' को कथा का विषय चुना और 'रुक्मिणी-मंगल' नाम से इस विषय पर अनेक खंडकाव्य लिखे गये।

कृष्णकाव्य कई दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है। वह पूर्णतः मानवीय नहीं है तो बहुत अंशों में मानवीय अवश्य है। उसमें नर-नारी के प्रेम और विरह के अत्यंत सजीव चित्र हैं। तन्मयता, सौन्दर्य, माधुर्य, प्रवाह और भाषा-प्रांजलता की दृष्टि से वह रहस्यकाव्य की ऊँची भूमि तक उठ जाता है, परंतु हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि कृष्णभक्त कवियों ने कृष्ण पर सदैव ही परमसत्ता का आरोप नहीं किया है। उन्होंने उसे जीवन के इतने समीप ला खड़ा किया था कि कृष्ण उनके लिए अलौकिक होते हुए भी पूर्ण लौकिक थे। उन्होंने अपने आराध्य को मानव-जीवन के दुःखों-सुःखों के बीच में ही स्थापित किया। कहीं-कहीं जैसे सूर के काव्य में अध्यात्म-संकेत भी हैं, परंतु वह अधिक स्पष्ट नहीं। वास्तव में कृष्ण-कवि अध्यात्म के ज्ञाता थे, परन्तु अपनी साधना की तन्मयता में उस बात को भूल सकने की तन्मयता भी उनमें थी। यही अद्भुत बात कृष्ण-काव्य के आलोचकों को आश्चर्य में डाल देती है।

कृष्णकाव्य को समझने की एक दूसरी दृष्टि यह है कि कृष्णकवियों ने राधा-कृष्ण के संयोग-वियोग को लीला के रूप में देखा है। उन्होंने कृष्ण के सखा और राधा की सहचरी बनकर उनके जीवन के वर्जित कोनों में झाँक लिया है। हम

कह सकते हैं, उन्होंने मनुष्य की वासना को ईश्वरोन्मुख कराने में सहायता दी है। उनके काव्य में अलौकिक के साथ लौकिक और ऐन्द्रियता के साथ अध्यात्म का सुन्दर गठबंधन हुआ है।

हिन्दी कृष्णकाव्य हमें सर्वप्रथम मैथिल कवि विद्यापति में मिलता है। इसका रूप मुक्तक है। यह फुटकर पदों में है। राधा की वयःसंधि, यौवनागम, राधाकृष्ण का प्रथम परिचय, पूर्वराग, दोनों ओर की दूतियों का चातुर्य-व्यवहार, मिलन, मान, मानमोचन, संयोग-वियोग, राधा का विप्रलंभ, कृष्ण का मथुरा से लौट कर राधा से मिलना (या मानसिक मिलन), राधा का भावोल्लास—संक्षेप में ये विद्यापति-पदावली के विषय हैं।

विद्यापति के राधाकृष्ण-प्रेमनिरूपण में काव्य का प्रभाव अधिक है। रीतिकाव्याचार्यों ने नायक-नायिका को मिलाने के लिए दूतो की कल्पना को, उसके विभेद किये, नायिकाओं के अभिसारों के प्रकार गिनाये, स्वयं नायिकाओं के भेद किये। विद्यापति का काव्य इनसे भरा है। वह रीतिकाव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है, परन्तु उसने अनेक स्थलों पर कृष्ण-राधा को आत्मा-परमात्मा का प्रतीक भी माना है और विप्रलंभ के अनेक पदों में कवि प्रेम और तन्मयता के इतने ऊँचे स्तर पर उठ जाता है कि वह माधुर्यभाव के उपासकों की श्रेणी में आ जाता है।

विद्यापति का काल १४ वीं शताब्दी का अंत और १५ वीं शताब्दी का आदि है। इस समय से बहुत पहले (१२ वीं शताब्दी के अंत में) जयदेव गीत-गोविंद की रचना कर चुके थे जिसमें संस्कृत पदों में राधा को आठ प्रकार की नायिकाओं की शृंखलाओं में बाँधकर अंत में मिलन रख काव्य में एक नई परिपाटी चलाई गई थी। जयदेव का मिलन-वर्णन अत्यंत स्थूल है। कुछ इसी तरह की बात विद्यापति में भी है। वह स्पष्टतयः जयदेव से प्रभावित हैं। उनके अनेक पद जयदेव के पदों की ही आवृत्ति हैं। जयदेव लिखते हैं—

ललित लवंगलता परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुंज कुटीरे ॥
विहरति हरिरह सरस बसन्ते।
नृत्यति युवति जनेन सहे सखि विरहि जनस्य दुरन्ते ॥

विद्यापति का पद है—

नव वृंदावन नविन तरुगन नवनव विकसित फूल।
नविन बसंत, नविन मलयानिल, मातल नव अलि कूल ॥
विहरहिं नवल किशोर।
कालिंदी तट, कुंज नव शोभन, नवनव प्रेम विभोर ॥
नविन रसाल, मुकुल मधुमातल, नव कोकिल कुल गाय।
नव युवती जन, चित उनमातइ, नव रस कानन धाय ॥

जयदेव का पद है—

हरिर अभिसरति वहति मधुपवने : ।
किम अपरम अधिक सुखम सखि भवने : ?
माधव मा कुरु मानिन मानम् – ए
ताल फलद् अपि गुरुम् अति सरसम्
किम विफलीकुरुशे कुच कलशम् ।
माधवे०

विद्यापति का पद है—

माधव करिय सुमुखि समधाने
तुव अभिसार कयलि जत सुन्दरि कामिनि करु के आने
बरिसि पयोधर धरनि वारि भर, रहइनि महाभय भीमा
तइओ चललि धनि तुअ गुन मन गुनि, तसु साहस नहिं सीमा
देखि भवन भिति लिखल भुजंगपति, तसु मन परम तरासे
से सुवदनि कर झपइति फनि मनि, विहुसि आइलि तुव पासे

कितना साम्य है । परन्तु वैभिन्न्य भी कम नहीं है । जयदेव ने नायिकाभेद का आश्रय लिया है, विद्यापति ने उसको प्रमुख स्थान दिया है । वास्तव में विद्यापति में जैसा विप्रलंभ है, उसमें मानवी वियोग-भावना की जैसी स्थापना है, वैसी जयदेव में कहाँ ! विद्यापति ऐसे ही पदों में जयदेव की काव्य-भूमि से ऊपर उठ जाते हैं । कुछ पद लीजिये—

१ – चानन भेल विषम सर भूषन भेल भारी
सपनहुँ हरि नहिं आयल रे गोकुल गिरधारी

२—कै पतियाँ लै जायत रे मोर प्रियतम पास ।
हिय नहिं सहय असह दुख रे भेल साओन मास ॥
एकसरि भवन पिय बिनु रे मो रहलो न जाय ।
सखि अनकर दुख दारुण रे जग के पतिआय ॥

३—सजनी को कहु आयव कन्हाई ।
विरह—पयोधि पार किन पायब मो मन नहिं पतियाई ॥
एखन नखन करि दिवस गँवायनु दिवस दिवस करि मास ।
मास मास करि बरिख गवायनु खोयनु में तनु आस ॥
हिमकर किरन नलिनि यदि जारव कि करबि माधवि मास ।
मन विद्यापति सुन बर युवती अब नहिं होहु निरास ॥

४—विछोह विकल भेल दुहुक परान ।
गर गर अन्तर झरए नयान ॥
दुहू मन मनसिज जागि रहू ।
तिल बिसरन नहिं केहु काहू ॥
निःशब्दे सूतल नींद नहिं आय ।
वियोग वियाधि विथारल गाय ॥
दुहुक दुलह नेह दुहु भल जान ।
दुहु जन मिलन मथत पचवान ॥

विद्यापति सौन्दर्य और प्रेम के अन्यतम कवि हैं । उन्होंने प्रथम बार शृंगार रस के माधुर्य से ओतप्रोत रचनाएं उपस्थित की हैं । सूरदास के काव्य पर उनकी रचना का प्रभाव पड़ा है, यह उनके लिए क्या कम गौरव की बात है ?

विद्यापति के बाद हमें बहुत समय तक हिन्दी में कृष्णकाव्य के दर्शन नहीं होते, परन्तु बंगाल में चंडीदास-प्रभृति कृष्ण-भक्त तो नहीं, सहजिया मतावलंबी कवियों ने रचना की। १५ वीं शताब्दी के अन्त में वृंदावन बंगाली कृष्णोपासकों का केन्द्र हो गया था और अनेक नये मंदिरों की स्थापना होने लगी थी।

परंतु ष्णकाकृव्य को अन्यतम प्रगति श्री बल्लभाचार्य ने दी। उन्होंने ब्रजप्रदेश में गोवर्धन पर श्रीनाथजी (नवनीत-प्रिय) का मन्दिर बनवाया और उसमें कृष्णपूजन और कीर्तन का प्रबंध किया। उन्होंने कृष्णभक्ति को एक नई दार्शनिक पृष्ठभूमि दी, साथ ही उसे साम्प्रदायिक रूप भी दिया। उन्होंने पुष्टिमार्ग की प्रवर्तना की जिससे भक्ति का रूप और भी सरस, मधुर हृदयग्राही, और भी काव्योपयोगी हो गया। आगे चलकर उनके पुष्टिमार्ग ने हिंदी साहित्य को कई शताब्दियों तक प्रभावित किया। पुष्टिमार्ग के सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास हैं। सूरदास और अन्य सात कवियों को लेकर आचार्य बल्लभ के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने 'अष्टछाप' की स्थापना की थी। इनमें से चार महाप्रभु बल्लभाचार्य के शिष्य थे—सूरदास, कृष्णदास, परमानंद और कुंभनदास और चार स्वयं गोस्वामी विट्ठलनाथ के—नंददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविंदस्वामी। इन आठों कवियों का काव्य हिंदी कृष्णकाव्य की श्रेष्ठतम सम्पत्ति है। इनमें

सूरदास, नंददास और परमानंददास का काव्य ही प्रचुर मात्रा में है। शेष कवियों के २००-२५० से अधिक पद नहीं मिलते।

अनेक ग्रंथ सूरदास के लिखे हुए कहे जाते हैं। परंतु सूरसागर ही उनका सबसे लोकप्रिय ग्रंथ है और इस एक ग्रंथ में ही उनके सारे ग्रंथों का समाहार हो जाता है। 'साहित्यलहरी' और 'सूरसागरवली' सूर के अन्य दो ऐसे ग्रंथ हैं जिनके संबंध में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि ये सूरसागर से अलग स्वतंत्र ग्रंथ हैं परंतु इनकी प्रामाणिकता के संबंध में अभी भी बड़ा सन्देह है। परंतु केवल सूरसागर के ७-८ हजार पदों के बल पर ही सूरदास को तुलसीदास के साथ हिंदी का सर्व-श्रेष्ठ कवि मान लिया जाता है।

सूरसागर का केन्द्र राधाकृष्ण के प्रेम-विकास और विरह-मिलन की कथा है। यह कथा भागवत, ब्रह्मवैवर्त पुराण, गर्ग संहिता, जयदेव और विद्यापति की कथाओं को स्वीकार करके आगे बढ़ती है। वस्तुत: उनकी कथा में अद्‌भुत पूर्णता है। उसकी स्थापना मौलिक खंडकाव्य के रूप में हुई है और उस पर रीतिशास्त्र का कुछ भी प्रभाव नहीं है गोपीकृष्ण की कथा आध्यात्मिक भूमि पर प्रतिष्ठित है। परंतु कुछ अंशों में स्पष्टत: रीति-शास्त्र से सहारा लिया गया है। इससे कथा और भी हृदयग्राही हो गई है। राधा के संबंध में कुछ सामग्री सूर को मिली थी, परंतु गोपियों और कृष्ण के

प्रेमविकास को कथा उनकी मौलक चीज़ है। भागवत की गोपियों में बालकृष्ण के प्रति रतिभाव नहीं है, न कृष्ण की गोपियों से कामकेलि का उल्लेख है। केवल चीरहरण, रास और गोपिका-विरह ही भागवत में हैं। इन स्थलों के अतिरिक्त सूर ने अनेक स्थलों का स्वयं आविष्कार किया है। उन्होंने गोपियों और कृष्ण के संबंध को भागवत की अपेक्षा कहीं अधिक वृहद् चित्रपटी पर रखा है। इस मौलिकता के द्वारा ही सूर की सख्य और मधुर भक्तिभावना का प्रकाशन हो सका है।

सूरदास के काव्य में वात्सल्य, सख्य और मधुर भक्ति का ही राजमहल खड़ा है। जहाँ एक ओर सूरदास की कृष्णकथा नंद-यशोदा, गोपी-गोप, राधाकृष्ण इत्यादि की कथा है, वहाँ दूसरी ओर इस कथा के द्वारा सूर ने अपनी तीन प्रकार की भक्ति-भावनाओं को पुष्ट किया है। नंद-यशोदा और गोपी-गोप के प्रसंगों में सूर के वात्सल्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है; सुबल-सुदामा आदि गोप-बालकों को लेकर सूर का सख्य-भाव प्रकट हुआ है और राधाकृष्ण एवं गोपीकृष्ण को लेकर मधुरभाव की भक्ति चरितार्थ हुई है। अनेक पद ऐसे हैं जिन्हें हम संदर्भ से हटा कर सीधे सूर के मुँह में रख सकते हैं जैसे :

सोभित कर नवनीत लिए
घुटुरुन चलत रेनुतनमंडित मुख दधि लेप किए

चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिए
लट लटकनि मनौ मत्त मधुपजन मादक मदहिं पिए
कठुला कंठ वज्र केहरि नख राजत रुचिर हिए
धन्य सूर एकौ पल यह सुख का सत कल्प जिए

हरि जू की बालछवि कहौं वरनि
सकल सुख की सींव कोटि मनोज-सोभा-हरनि
भुज भुजंग, सरोज नयननि, बदनविधु जित लरनि
रहे बिबरनि सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि
मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूषन भरनि
मनौ सुभग सिंगार सिसुतरु फल्यौ अद्भुत फरनि
चलत पद प्रतिबिंब मनि-आँगन घुटुरवनि करनि
जलज-संपुट सुभग छवि भरि लेत उर-जनु धरनि
पुन्यफल अनुभवनि सुतहिं विलोकि के नंदघरनि
सूर प्रभु की बसी उर किलकनि मधुर लरखरनि

(वात्सल्य)

छबीले मुरली नेक बजाउ
बलि-बलि जात सखा यहि कहि-कहि
अधर-सुधा रस प्याउ
दुर्लभ जन्म, दुर्लभ वृंदावन,
दुर्लभ प्रेम तरंग
ना जानिये बहुरि कब ह्वैहै
श्याम तुम्हारो संग (सख्य)

श्याम सौं काहे की पहिचानि
निमिष निमिष वह रूप न वह छवि रति कीजै जेहि जानि
इकटक रहत निरंतर निसदिन मन मति सौं चित सानि
एकौ पल सोभा की सीवा सकतिन उर महँ आनि
समुझि न परे प्रगट ही निरखत आनँद की निधि-खानि
सखि, यह विरहसंजोग कि समरस दुख-सुख लाभ कि हानि
मिटति नघृत तैं होम-अग्नि रुचि सूर सुलोचन बानि
इत लोभी उत रूप परमनिधि कोउ न रहति मिति मानि
(शृंगार)

सारे सूर-सागर में इन्हीं तीन भावों से सूर विराजमान हैं। कहीं नंद-यशोदा के रूप में, कहीं गोप-बालकों के, कहीं गोपियों के। जिस तन्मयता से सूर ने पद रचे हैं, उससे परिचित होकर कोई भी यह नहीं कह सकता कि सूर ने तटस्थ-भाव से चरित्रों के मुँह में उन्हें रख दिया है। इसी तन्मयता और सूर की व्याप्ति के कारण सूरसागर में चरित्रों का कोई विशिष्ट रूप खड़ा नहीं होता जैसा रामचरितमानस में या किसी भी चरित्र-काव्य में। सारे चरित्र तीन विभागों में बँट जाते हैं जिनका चरित्र-नायक से क्रमशः वात्सल्य, सख्य और मधुर प्रेम का नाता है। उनमें परस्पर किसी प्रकार की श्रेणी या विभाजन संभव नहीं है। सब कृष्ण के संग से सुखी हैं, उनके विछोह में एक ही प्रकार सब दुःखी हैं। इसी से हम कहते हैं कि सूरसागर में कृष्ण के संयोग-

वियोग-शृंगार के सुख-दुःखपूर्ण वर्णन हैं। सूर की अपनी भावना इन वर्णनों में इतनी मिल जाती है जैसे वे ही उस संयोग और विछोह का अनुभव कर रहे हों।

परंतु सूरसागर केवल सूरदास की साधना को ही हम तक नहीं पहुँचाता। जहाँ एक ओर कवि धर्म की उच्चतम भावभूमि को स्पर्श करने में सफल हुआ है, वहाँ दूसरी ओर उसमें विशेष संप्रदाय (पुष्टिमार्ग) की धार्मिक मान्यताओं पर ही उसका ढाँचा खड़ा किया गया है एवं उसी संप्रदाय की पूजा-पद्धति से उसे सरस बनाया गया है। इससे उसका ग्रंथ एक विशेष संप्रदाय की सम्पत्ति भी है और व्यापक रूप से वह सभी कृष्णभक्तों के लिए भी है। यही नहीं, उसने परवर्ती पुष्टिमार्ग की पूजापद्धति के विकास में भी पूर्ण योग दिया है। शुद्धाद्वैत की सारी दार्शनिक मान्यताएँ सूरदास के काव्य में रूपक बनकर उपस्थित होती हैं।

काव्य की दृष्टि से सूरदास ने वात्सल्य और शृंगार कथाओं में साहित्य-शास्त्र का सहारा लेकर नई सृष्टियाँ उपस्थित की हैं जैसे नेत्रों और मुरली के प्रति कहे पद, दृष्टकूट, संचारी भावों के साथ रसपुष्टि की चेष्टा, भ्रमरगीत, गोपिका-विरह गीत। यहाँ भावना की गहराई और तीव्रता के कारण कवि एक साथ ही काव्य और अध्यात्म को छूता है। परंतु हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि सूरदास का ध्येय आध्यात्मिक साधना ही अधिक है, काव्य-रचना गौण है। फिर भी सूरदास के

काव्य में कविता के सर्वोत्कृष्ट गुण मिलते हैं। उसके प्रभाव के संबंध में तो परवर्ती साहित्य और आज भी मानव-हृदय साक्षी है। उसमें उक्ति, चोज्ञ, अनुप्रास, वर्ण-स्थिति, वचन-निर्वाह, प्रीति-निर्वाह, अर्थनिर्वाह, तुक (पदों के विषयों की अनेक प्रकार से पुनरुक्ति) सब कुछ है। सूरसाहित्य में इन सभी अंगों की पुष्टि बड़ी सुन्दरता से हुई है। सूरदास ने एक ही साथ विद्यापति और चंडीदास की काव्यमाधुरी को हिंदी में उपस्थित किया है। विद्यापति का रचना-चातुर्य, प्राकृतिक चित्रांकन, शब्दविन्यास एवं पांडित्य और चंडीदास का सहज भाव-प्रकाशन। हिंदी काव्यसाहित्य में वे अद्वितीय हैं।

अष्टछाप के कवियों के उपलब्ध साहित्य को देखने से यह स्पष्ट है कि उनमें से केवल सूरदास, चतुर्भुजदास और गोविंद स्वामी ने वात्सल्य-भक्ति को अपनाया है। शेष में माधुर्य-भक्ति की प्रधानता है। इनके कुछ अन्य विषय हैं: गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति, गोकुल-वृंदावन-प्रेम, विनय, विरह-भक्ति-महिमा, सांसारिक ऐश्वर्य से वैराग्य। वास्तव में अष्टछाप के कवियों का गोकुल और उसके प्राकृत ऐश्वर्य से बड़ा प्रेम था। और उनके काव्य में यह प्रेम बड़ी सुन्दर रीति से प्रकट हुआ है। अष्टछाप के इन कवियों में हमें नंददास के संबंध में विशेष रूप से कहना है। सूरदास के बाद उन्हीं का स्थान है।

पुष्टिमार्ग के कवियों में केवल नंददास के काव्य में पंथ के धार्मिक एवं सांप्रदायिक सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन

मिलता है। इन सिद्धांतों के अध्ययन के लिए सिद्धांत-पंचाध्यायी, विरहमंजरी, रूपमंजरी, रसमंजरी और रसपंचाध्यायी विशेष रूप से पठनीय हैं। इन ग्रंथों में भी रासपंचाध्यायी प्रमुख है। इसमें रामकथा के रहस्यात्मक एवं आध्यात्मिक रूप को विशेष रूप से स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। परंतु नंददास के कवि-रूप के अध्ययन के लिए हमें पद-साहित्य, भँवरगीत और रासपंचाध्यायी को ही लेना होता है। नंददास की कवि-कीर्ति का आधार ही यही ग्रंथ हैं। वैसे मानमंजरी और अनेकार्थ-मंजरी नाम से उन्होंने कोषग्रंथ भी उपस्थित किये हैं और दशम् स्कंध में भागवत का दोहा-चौपाई अनुवाद भी लिखा है। परंतु साहित्य की दृष्टि से यें कृतियाँ महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

नंददास का पदसाहित्य अधिक नहीं है। अभी उसका कोई निश्चित प्रामाणिक संस्करण भी तैयार नहीं किया गया है। २००—२५० से अधिक पद अभी प्राप्त भी नहीं हैं। फिर नंददास अपने पदों के लिए न प्रसिद्ध हैं, न उनके पद साहित्यिक एवं साम्प्रदायिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। नंददास के पदों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कृष्णकथा को उस प्रकार कथात्मक रूप में नहीं लिखा है, जिस प्रकार सूरदास ने लिखा है। वे दशम् स्कंध में इस प्रकार की कथा भागवत के आधार पर लिख चुके थे। उनमें नवीन कथासृष्टि की प्रतिभा नहीं थी। अतः उन्होंने न कृष्णकथा को कथा-रूप

में लिखा, न कथा के सब प्रसंगों पर पदों की रचना की। अलौकिक प्रसंगों में केवल गोवर्धन लीला पर दो-एक पद मिलते हैं। परंतु अधिकांश पद उन्हीं प्रसंगों पर हैं जो या तो अष्टछाप के नित्य और नैमित्तिक कीर्तन के लिए मान्य थे, या जिनमें काव्यरस की दृष्टि से नंददास की शृंगारिक वृत्ति रुचि ले सकती है। दूसरे प्रकार के कई प्रसंग हैं – पनघट-लीला, रास, फाग, खंडिता, मान और मानमोचन। जिन सांप्रदायिक प्रसंगों का संबंध उपरोक्त विषयों से था जैसे हिंडौला, फूलडोल आदि, वे भी अच्छे बन पड़े हैं। फिर भी अधिकांश पदों में न कला का वह रूप मिलता है, न भाषा का, जो भँवरगीत, रास-पंचाध्यायी और प्रौढ़ रचनाओं की विशेषता है।

'भँवरगीत' की कथा का आधार भागवत दशम् स्कंध अध्याय ४७ की कथा है। नंददास ने इस सारी कथा को एक नये कलात्मक ढंग से उपस्थित किया है। भागवत की भ्रमरगीत कथा से नंददास के 'भँवरगीत' की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नंददास ने सारी सामग्री को नये ढंग से ही नहीं रखा है, उन्होंने अनेक अंगों का नवीन रूप से स्वतंत्र विकास किया है। नंददास के भँवरगीत का बीज आधार है –

(१) निर्गुण पर सगुण की विजय की तर्कपूर्ण स्थापना।

(२) योगमार्ग और ज्ञानमार्ग की निष्फलता की घोषणा और इन पर प्रेममार्ग की विजय।

(३) गोपियों की रूपासक्ति और प्रेमासक्ति का विशद चित्रण। इन नये आधारों के कारण उनकी कथा का रूप ही बदल गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि नंददास से पहले ही 'भँवरगीत' का वर्ण्य विषय सूरदास-द्वारा अनेक छंदों में अनेक प्रकार से विकसित हो गया था। नंददास ने यही किया कि उस विचार-विकास को ग्रहण किया और उसे एक सुन्दर सौष्ठवपूर्ण रचना में कला का रूप दे दिया। बाद को कितने ही 'भ्रमरगीत' लिखे गये, परंतु कोई उस एकता, कलाकुशलता और मार्मिक व्यंजना को न पा सका जो नंददास के भँवरगीत के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

रासपंचाध्यायी की कथावस्तु भागवत दशमस्कंध २९ – ३३ अध्यायों की सामग्री है। जिस सामग्री का उपयोग किया गया है, वह कहीं संकुचित है, कहीं परिवर्द्धित – अधिकांश स्थलों पर कवि भावानुवाद करता हुआ आगे बढ़ा जा रहा है। स्थान-स्थान पर व्याख्या के रूप में उसने मौलिक रचना भी उपस्थित की है। परंतु रासपंचाध्यायी को जो चीज़ विशेष महत्त्व देती है वह उसकी कला है। उदाहरण के लिए यह चित्र देखिये –

कुसुम धूरि धूमरी कुंज मधुकरिनि पुंज जहँ
ऐसेहु रस आवेस लटकि कीनी प्रवेश तहँ

नव पल्लव की सैनी अति सुखदैनी सरसैं
सुन्दर सुमन सीस निरखत अति आनंद हिय बरसैं

इस चित्र की कोमलता और नाद-व्यंजना देखने की वस्तु है। शब्दचित्रों से नंददास ने मधुर ब्रजभाषा को और भी मधुर बना दिया है। पंक्तियों में न तो संयुक्ताक्षर हैं और न लंबे-चौड़े समास ही। शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश करती है। जो कुछ कहा गया है, वह भी बहुत थोड़े शब्दों में और सुन्दरता के साथ। माधुर्य और प्रसाद-गुण, समास-पद्धति, वर्णों के नादात्मक प्रयोगों द्वारा शब्दचित्र और मूर्तचित्र उपस्थित करने एवं ह्रस्व वर्णों के कलापूर्ण प्रयोग में नंददास अद्वितीय हैं। इस संबंध में केवल विहारी का नाम ही उनके साथ लिया जा सकता है। जयदेव के 'गीतिगोविंदम्' के बाद इतनी श्रुति-मधुर और कोमल पदावली नंददास के काव्य में भी नहीं मिल सकेगी। अकथ परिश्रम से कवि ने भाषा के एक नये राजमहल का निर्माण किया है। वास्तव में नंददास का कलापक्ष सूरदास से भी अधिक पुष्ट है। कला के इस पग-पग पर अनुरोध के कारण ही जनता ने उन्हें 'जड़िया' कहा। इस 'जड़िया'-वृत्ति के कारण जहाँ 'काव्य' का और कोई गुण नहीं है, वहाँ भाषा-शैली ही हमें अटकाये रखने में समर्थ है, परंतु जब वहाँ उसके साथ भाव, सौन्दर्य और काव्यगुणों का भी समावेश हो जाता है, तो नंददास का काव्य इस पृथ्वी की चीज़ नहीं रह जाता।

परंतु फिर भी सूरदास सूरदास हैं, नंददास नंददास। सूरदास के काव्य में काव्यतत्त्व गौण है, मुख्य है भक्ति और धर्म। अतः वह भक्तिभाव द्वारा पहले हमें छूते हैं, फिर काव्य-छटा द्वारा। नंददास के काव्य के विषय में ठीक उससे उलटी बात कही जा सकती है। सूरदास के काव्य में बल्लभाचार्य के सिद्धांत इतनी सुन्दरता से गूँथ दिये गये हैं कि हम मुग्ध हो जाते हैं। नंददास के सम्बन्ध में हम यह बात नहीं कह सकते। उनका दर्शन-भाग काव्य और भक्ति के अंगों से अलग जा पड़ता है।

परमानंददास के पदों की संख्या ढाई-तीन हज़ार के लग-भग है। इन पदों की सामग्री एक ही ग्रंथ के रूप में अभी प्रकाशित नहीं हुई। परंतु उसमें सूरदास के विषयों पर ही लिखा गया है। अनेक पदों पर मूर्तिमत्ता, भाषा और अर्थ-सौष्ठव में सूरदास की छाप ही स्पष्ट मिलेगी। शेष अष्टछापी कवियों (कृष्णदास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविंदस्वामी) ने सब मिलाकर भी इतने पदों की रचना नहीं की। अधिकांश कवियों के २००—२५० गीत हमें प्राप्त हैं। इन्हीं के आधार पर उनकी काव्यप्रतिभा के संबंध में कुछ कहना असम्भव है। ये सब कवि एक ही समान उच्चकोटि के कवि भी नहीं थे। हाँ, वे सब अच्छे गायक अवश्य थे। सूरदास और परमानंददास गायनकला के विशेष मर्मज्ञ जान पड़ते हैं। अन्य कवियों की रचनाओं में भी संगीत के बहुत

से तत्त्व हैं। वास्तव में इन कवियों में दो पीढ़ियाँ स्पष्ट हैं। दूसरी पीढ़ी पहली पीढ़ी की समानता नहीं कर सकती। परंतु उसका अपना निश्चित क्षेत्र है और उस क्षेत्र के भीतर उसे पर्याप्त सफलता भी मिलती है।

जो हो, यह निश्चित है कि 'अष्टछाप' के काव्य का हिंदी काव्यधारा में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन कवियों में सूरदास सबसे ऊँचे हैं। वे जैसे कविता के कैलाश हों जिनके सामने ऊँचे-ऊँचे शैल-शिखरों की प्रतिभा फीकी पड़ जाती है। यदि हिंदी काव्य-साहित्य से अष्टछाप का काव्य निकाल लिया जाय तो प्राचीन काव्य-साहित्य में जो बचेगा, वह आधा महत्त्वपूर्ण भी नहीं रह जायेगा। पौराणिक कथा, संगीत, भाषा-सौन्दर्य और कल्पना का इतना सुन्दर समन्वय हिंदी कविता के सारे इतिहास में बेजोड़ है।

संप्रदायों के भीतर से जो कृष्णकाव्य हमारे सामने आया है उसमें राधावल्लभी संप्रदाय के संस्थापक हितहरिवंश और निंबार्क सम्प्रदाय के स्वामी हरिदास प्रमुख हैं। हितहरिवंश का 'हितचौरासी' प्रसिद्ध है। उसमें ८४ पद हैं। ललित पदावली तो इस ग्रंथ में गीतगोविन्द के जोड़ की है। हरिदास जी के पद उनके शिष्य तानसेन और बैजू बावरा द्वारा शताब्दियों से हिंदू-मुसलमान गायकों के कंठहार रहे हैं। इन दोनों महात्माओं की शिष्य-परंपरा एवं इनके सत्संग से अनेक भावुक कवियों प्रेरणा मिली। हरिअंस अली, व्यास, सेवक,

नागरीदास, विहारीदास, भट्ट, गदाधरभट्ट, हितरूपलाल, विट्ठल विपुल और भगवान हित इनमें उल्लेखनीय हैं। इनमें से कई ने कई-कई ग्रंथ लिखे हैं। १६ वीं शताब्दी में महात्मा अग्रदास भी कृष्णभक्त कवि हो गये हैं। 'भक्तमाल' के लेखक नाभादास इनके शिष्य थे।

सत्रहवीं शताब्दी में भी कृष्णभक्ति-धारा प्रबल वेग से चलती रही यद्यपि यह रीतिधारा से बड़ी दूर तक प्रभावित थी। इस शताब्दी के कवि पूर्वकवियों द्वारा स्थापित काव्य-परंपराओं से प्रभावित थे। इस समय प्रियादास ने 'अष्टयाम' की रचना की, रसखान ने कवित्तछंद में ब्रजभाषा की सारी माधुरी इकट्ठी कर उसे एकांतिक भाव से कृष्णार्पण कर दिया। उनके ग्रंथ 'सुजान रसखान' और 'प्रेमबाटिका' सत्रहवीं शताब्दी की अनमोल वस्तुएँ हैं। वे साधना के उस रूप के साक्षी हैं जिसने एक साथ ही हिन्दू-मुसलमानों को अपनी ओर आकर्षित किया था।

रीतिकाल के कवियों ने प्रेमरस को प्रधानता देते हुए रस, अलंकार, ध्वनि आदि शास्त्रीय अंगों पर दृष्टि रखकर जो रचनाएँ उपस्थित की हैं, उनके मूल में, समय के दूषित प्रभावों से प्रभावित होते हुए भी, राधाकृष्णभक्ति का स्रोत ही बह रहा है। यह अवश्य है कि उनके काव्य के पीछे साधना का उतना बल नहीं जितना पिछली शताब्दी के कवियों के काव्य के पीछे था। उसमें न वह तल्लीनता है, न उतनी उत्कृष्ट

कल्पना। परन्तु हमें यह समझ रखना चाहिये कि इस शताब्दी में काव्य धीरे-धीरे भक्ति-भावना से अलग होता जा रहा था। अध्यात्म-साधना और काव्य भक्तिकाव्य में साथ-साथ चलते हैं। रीतिकाव्य के कवि प्रधानतः नहीं, मूलतः भी कवि हैं। उनकी भक्तिपरक रचनाएँ परिपाटी-बद्ध हैं। जहाँ उत्कृष्ट कविप्रतिभा या साधना का पुट मिल जाता है, वहाँ वे चमक उठती हैं, नहीं तो वे केवल अपने काव्य-गुण के बल पर ही अपना स्थान बना लेती हैं। भिखारीदास के शब्दों में, इन रचनाओं के कवियों की भावना इस प्रकार थीः

आगे कै कवि रीझिहैं तो कविताई वरु
राधाकृष्ण नाम सुमिरन को बहानौ है

कवियों की इस द्वैध स्थिति ने, इस आंतरिक संघर्ष ने उनके काव्य को अस्पष्ट, भ्रामक और काव्यचेतनाहीन बना दिया है। कवि चाहे कितने उत्साह से राधाकृष्ण का नाम ले, उसे भक्तिकाव्य कहा ही नहीं जा सकता। आज हम उसका 'बहाना' समझ गये हैं और उसके छल में आना हम अस्वीकार करते हैं। जब केशव कहते हैं—

आजु विराजत हैं कवि केशव श्रीवृषभानु कुमारि कन्हाई
बनी विरंचि वही रस काम रची जो बरी सोर बधू न बनाई
अंग विलोकि त्रिलोक में ऐसी को नारि निहारनि बार लगाई॥
मूरतिवंत शृंगार समीप शृंगार कियो जानौ सुन्दरताई॥

तो हम जानते हैं, उनकी रसिकता ही उन्हें ऐसा कहने को

विवश कर रही है, उनकी भक्ति-भावना नहीं। भक्ति के मूल में जिस अलौकिक अतीन्द्रिय प्रेमभाव और श्रद्धा की भावना है, वह यहाँ किंचित् भी नहीं है। धीरे-धीरे राधाकृष्ण नरनारी-मात्र रह गये हैं। प्रेम और विलास की भक्तिभाव पर विजय हुई।

आधुनिक युग में एक बार फिर वैष्णवभक्ति-भावना को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया गया है। मैथिलीशरण गुप्त की रचनायें इस युग की भक्तिभाव की सबसे निकट की चीज़ें हैं। इन रचनाओं में इष्टदेव को मानवीय धरातल पर उतारा गया है। मध्ययुग के वैष्णव भक्तों का विह्वल भक्तिभाव यहाँ नहीं मिलता। सच तो यह है कि आधुनिक युग अविश्वास और नास्तिकता का युग है। वैज्ञानिक भौतिकवाद ही इस युग का दर्शन है। आज प्रेम, प्रकृति और राष्ट्रीयता की पुकार है, न पिछले युगों का श्रद्धा है, न उन युगों का भक्तिभाव।

(ग) राधा

हिन्दी साहित्य का एक बड़ा अंश राधा की कथा को लेकर खड़ा किया गया है। यों तो राधा-कृष्ण दोनों अविच्छिन्न हैं, राधा-कृष्ण का युग्म कृष्णकाव्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित है ही, परन्तु इकेली राधा भी अनेक रूपों में हिन्दी साहित्य को पुष्ट करती है। हिन्दी साहित्य में राधा के इतने रूप मिलते हैं :

(१) कृष्ण की सहचरी, प्रियतमा

(२) सामान्य नायिका

(३) आराध्या

(४) पतिगर्विता, परित्यक्ता, वियोगिनी

कदाचित् किसी एक स्त्रीचरित्र ने हिन्दी साहित्य को इतना प्रभावित नहीं किया है जितना राधा ने। सच तो यह है कि राधा उतनी पौराणिकों की सृष्टि नहीं है जितनी हिन्दी कवियों और भक्तों की। श्रीमद्भागवत में 'राधा' शब्द तो आया है, परन्तु राधा पात्री के रूप में एक बार भी नहीं आई। एक विशेष प्रिय गोपी अवश्य है। वही कदाचित् 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण में विकसित होकर राधा बन गई है। हरिवंशपुराण और विष्णु पुराण में भी राधा के दर्शन नहीं होते। ईसा की दूसरी शताब्दी में लिखे भास के नाटकों में भी राधा का नाम नहीं आया है। कृष्ण की बाललीला के संबंध में भास का एक नाटक है 'बाल-चरित्र'। भाषाकाव्य में सबसे पहले 'राधा' शब्द प्राकृत की 'गाथा-सप्तशती' में पाया जाता है जिसका निर्माणकाल विक्रम संवत् के आविर्भाव के निकट है। पहले शताब्दी के 'पंचतंत्र' ग्रंथ में राधा नाम आता है। संस्कृत के जिन ग्रंथों में पहली बार राधा का नाम मिलता है वे आर्यासप्तशती और जयदेव के गीतगोविन्दम् हैं। आर्यासप्तशती की मंगलाचरण की आर्या में राधा की ही वंदना है। इसी तरह गीतगोविंद में राधा-माधव के मिलन-प्रसंग को वंदना का रूप दे दिया गया है।

जयदेव के ग्रंथ में राधा को जो केलिविलासमय चित्र उपस्थित होता है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में राधा की प्रतिष्ठा नायिका के रूप में हो गई थी। साथ ही वे कृष्ण के साथ पराशक्ति के रूप में भी प्रतिष्ठित थीं। इस समय तक कृष्ण की बाललीला के साथ राधा का संबंध नहीं जुड़ा था। इससे पहले राधा को वैष्णवधर्म की उपासना-पद्धति में स्थान नहीं मिला था। निंबार्क ने इसी समय द्वैताद्वैत मतवाद की प्रतिष्ठा की। उन्होंने राधा को कृष्ण की मूल प्रकृति कहा है। जयदेव के कुछ ही परवर्ती आनंदवर्धनाचार्य ने 'ध्वन्यालोक' में राधा के सबंध में दो श्लोक लिखे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राधा का व्यक्तित्व ऐतिहासिक नहीं है। पहली शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक राधा के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है।

चौदहवीं शताब्दी में भागवत संप्रदाय का नये रूप में विकास हुआ। निंबार्क ने राधाकृष्ण को राम-सीता, विष्णु-लक्ष्मी और हर-गौरी की तरह उपासना-क्षेत्र के युग्म के रूप में उपस्थित किया था। चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी तक राधा-कृष्ण उपास्य के रूप में पूर्णतः मान्य हो गये। इसी समय 'गोपालतापनी' जैसे उपनिषदों की रचना हुई जिसमें राधा का वर्णन कृष्ण की प्रेयसी के रूप में हुआ है। पंद्रहवीं शताब्दी के प्रमुख कवि विद्यापति, उमापति और चंडीदास थे और इन्होंने लगभग अनिवार्य रूप से

राधा को अपना विषय बनाया है। ये तीनों कवि जयदेव से प्रभावित थे, यह स्पष्ट है, क्योंकि जयदेव की तरह इन्होंने भी पदावली साहित्य का निर्माण किया है। पं० रामचंद्र शुक्ल ने कहा है कि कदाचित् सूरदास का काव्य किसी पूर्व परंपरा का फल है। जान पड़ता है, लोकसाहित्य में कदाचित् पदों के रूप में ही राधाकृष्ण की प्रेमकथा चल रही थी। इन कथा का साहित्यिक रूप हम जयदेव में पाते हैं। संस्कृत साहित्य में पदावली की कोई परम्परा नहीं है, अतः स्पष्ट ही जयदेव का काव्य लोक-साहिय से प्रभावित है। सम्भव है, कृष्ण धमार और शुक्ल धमार जैसी लोक-संगीत परंपराओं ने जयदेव के काव्य को प्रभावित किया है। हरिदास, तानसेन और सूरदास का काव्य तो निश्चय ही इस संगीत-पद्धति से प्रभावित है।

जयदेव की राधा प्रेमविह्वला है। कृष्ण की अनेक गोपियों में से एक वह भी है। वह जानती है कि उसके कृष्ण विलास-चतुर हैं। उनके सौन्दर्य पर वह रीझ गई है। वह जानती है कि कृष्ण अनेक सुन्दरियों के साथ रमण करते हैं। परंतु उसे उनसे कोई ईर्ष्या नहीं, वह यह सब सहन कर लेती है। उसे केवल कृष्ण चाहिये जिसके सौन्दर्य और विलास-चातुर्य ने उसे मुग्ध कर लिया है। वह स्वयं विलास केलिप्रिय है। वह प्रगल्भा है परंतु प्रेमाधिक्य के कारण उसकी लज्जा बाढ़ के टूट जाने पर नारी के जल की तरह

उच्छृंखल रूप से बह जाती है। उसके प्रेम का वेग अबाध है, अगाध है अतः उसकी निरंकुशता भी उसका सौन्दर्य है। जिस प्रकृति के बीच में जयदेव ने राधाकृष्ण की विलास-लीला का चित्रण किया है वह विलास और काम की उद्दीपन-सामग्री से भरी पड़ी है। इस प्रकार वह राधाकृष्ण की लीला के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि उपस्थित करती है।

जयदेव ने विलासिनी, प्रेमाकुला और यौवनप्राप्त राधा का चित्रण किया है। विद्यापति अपनी राधा को वयः-संधि की अवस्था में उपस्थित करते हैं। उनकी यह सृष्टि अद्भुत है। इस समय राधा भोली किशोरी है। कुछ समय बाद वह अज्ञात-यौवना हो जाती है। उसी समय उसका परिचय कृष्ण से होता है। यह मिलन भी अद्भुत है। इससे राधा-कृष्ण के अनेक संयोग-वियोग के चित्र हमारे सामने उपस्थित होते हैं। विद्यापति ने दूतीकर्म का विस्तृत चित्रण किया है। कृष्ण के मिलन और विरह दोनों अवसरों पर दोनों ओर की दूतियाँ अपने काम में बड़ी तत्परता से लगी दिखलाई देती हैं। अंत में जब राधा-कृष्ण का मिलन होता है तो राधा के आनंद का पूछना ही नहीं। वह चिल्ला

कि कहब रे सखि आनंद ओर
चिरदिने माधव मंदिर मोर

संक्षेप में, विद्यापति की राधा आरंभ में किशोरी है, बीच

में मुग्धा एवं विलास-प्रिय है, अंत में हृदय-मन से कृष्णमय हो गई है। उस समय उसकी परिसमाप्ति उल्लास में हुई है। वह कृष्ण के लीलामय क्रीड़ानंद-प्रधान रूप का अविभाजित अंग है।

चंडीदास की राधा जयदेव और विद्यापति की राधा से भिन्न है। उसका निर्माण अधिक कोमल एवं भावुक तत्त्वों से हुआ है। आदि से अंत तक वह अश्रु से गढ़ी हुई मूर्ति है। उसके प्राण कृष्ण में हैं। उसकी प्रीति अद्भुत है। वियोग की तनिक-सी आशंका वह से पागल हो जाती है। उसे कृष्ण की अनंतसंगिनी होने की अभिलाषा है। उनके साथ विलास-रत होने की नहीं। चंडीदास ने राधा-कृष्ण के मिलन में गुरुजन, ननद आदि द्वारा बाधा करने की कल्पना करके राधा को परकीया बना दिया। परंतु इन्हीं बाधाओं के कारण राधा के प्रेम में जिन अत्यंत कोमल और सूक्ष्म मानसिक परिस्थितियों और हृदयगत भावों का चित्रण हो सकता है, वे विद्यापति में नहीं हैं। चंडीदास की राधिका तन्मयता में अद्वितीय है। कलंकभय, गुरुजन-बाधा, स्वावजन्य आशंकाओं, मिलन-भय और भावी संयोगानंद की कल्पना ने ही उसके प्रेममय व्यक्तित्व का निर्माण किया है। विद्यापति की चंचल, मधुर तथा नवयौवना राधा से चंडीदास की प्रेम गंभीर, व्याकुल और कलंकभय से पद-पद पर आशंकित राधा का चित्र अधिक उज्ज्वल और अलौकिक हुआ है।

इसमें परमात्मतत्त्व के लिये व्याकुल जीवात्मा की व्यंजना बड़ी सफलता के साथ प्रस्फुटित हुई है। चंडीदास की राधा कृष्ण की प्रेयसी ही नहीं है, उनकी भक्त भी है। अधिकांश काव्य में वह भक्त को छोड़कर और कुछ नहीं। वह कहती है—

१- एह भय उठे मने एह भय उठे—
ना जानि कानूर प्रेम तिले जनि छुटे—
२- गोप गोपालि की हाय अति दिना ना जानि
भजन-पूजन
पीरीति रस ते, ढालि तनु-मन दियछि तोमार पाय

हिंदी का राधा-संबंधी काव्य हितहरिवंश और सूरदास से आरंभ होता है, यद्यपि मैथिल भाषा में विद्यापति पहले ही इस प्रकार की रचना उपस्थित कर चुके थे। इसका प्रारंभिक काल हम १५०० ई० के आसपास रख सकते हैं। व्रजप्रदेश इस काव्य का केन्द्र था। सबसे पहले माधवेन्द्र पुरी ने वृंदावन को अपना प्रचार-स्थान बनाया और शीघ्र ही अनेक बंगाली वैष्णव वहाँ आकर बसने लगे। माधवेन्द्र पुरी मध्व संप्रदाय के लक्ष्मीतीर्थ के शिष्य थे। उन्होंने वृंदावन में एक कृष्ण-मंदिर बनवा कर उसमें गोपाल-कृष्ण की मूर्ति की स्थापना की। वे बंगाल से दो पुजारी अपने साथ ले गये और उन्हें मंदिर का काम सौंपा। कृष्ण-मूर्ति के शृंगार के लिए चंदन और अगरु लाने के लिए उन्होंने

पुरी तक यात्रा की। माधवेन्द्र ने ही अद्वैताचार्य को भक्ति प्रदान की। वृंदावन में उन्हीं के पास रहकर नित्यानंद ने वैष्णव शास्त्रों का अध्ययन किया। माधवेन्द्र ने दक्षिण (श्रीपर्वत आदि) की यात्रा की थी और वे दक्षिण के कृष्णभक्त वैष्णवों से अवश्य प्रभावित हुए होंगे। माधवेन्द्रपुरी के बंगाली शिष्यों में दो प्रमुख शिष्य केशव भारती और माधव मिश्र थे। केशव भारती और ईश्वरपुरी चैतन्य के गुरु थे और पुण्डरीक विद्यानिधि को चैतन्य गुरु की भाँति मानते थे। माधवेन्द्रपुरी द्वारा गोवर्धन पर गोपाल-कृष्ण की स्थापना के ५० वर्ष बाद चैतन्य की आज्ञा से दो बंगाली वैष्णव लोकनाथ गोस्वामी और भूगर्व बंगाल छोड़कर वृंदावन में रहने लगे। संभव है, माधवेन्द्रपुरी के बाद उनका मंदिर उपेक्षित हो गया हो और चैतन्य ने प्रचार-कार्य को आरंभ करने के पूर्व उसका पुनरुद्धार करना आवश्यक समझा हो। बंगाल की भक्ति रागानुगा है। वह शास्त्रीय कम है, वैयक्तिक अधिक। इसलिए वृंदावन के दूसरे कृष्ण-भक्ति संप्रदायों पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। इन बंगाली भक्तों और शिष्यों में चैतन्य-द्वारा ग्रहण किए गए विद्यापति और चंडीदास के राधाकृष्णगीत भी प्रचलित होंगे यद्यपि वे माधवेन्द्रपुरी के साथ ५० वर्ष पहले ही वृंदावन की जनता के सामने आ गये होंगे।

ब्रजकेन्द्र में राधाकृष्ण-भक्ति का प्रचार प्रमुख रूप से

१५०० ई० के लगभग तीव्र गति से आरंभ हुआ। इसी वर्ष गोवर्धन पर श्रीनाथजी की प्रतिमा की स्थापना हुई। इससे कुछ पहले हरिदास और हितहरिवंश वृंदावन में अपने-अपने संप्रदायों की नींव डाल चुके थे। हितहरिवंश के संप्रदाय में राधा की प्रधानता थी। वह स्वामिनी समझी जाती थीं। राधाकृष्ण की निकुंज-लीला की आध्यात्मिक अनुभूति ही भक्त का लक्ष्य था। हरिदास, तानसेन, बेजू बाबरा, हितहरिवंश और सूरदास के राधाकृष्ण की चुहलों से पूर्ण ध्रुपद-धमार सारे उत्तर भारत में फैल गए। वे अपना साथ राधाकृष्ण की प्रेमकथा का मध्ययुगीन रूप भी लेते गये। यह रूप जयदेव और ब्रह्मवैवर्त पुराण पर ही अधिक आश्रित था। परंतु इससे लोकजीवन और रीतिशास्त्र के अनेक अंगों का विकास भी हो चला था। प्रेम की कौन भावना, नायक-नायिका की कौन उल्लासपूर्ण चुहल, मिलन-विरह की कौन परिस्थिति ऐसी थी जिसे राधाकृष्ण पर आरोपित नहीं किया गया ? जो यहाँ था, वह उतने अच्छे ढंग से और कहाँ था ?—और यहाँ था क्या नहीं ? ब्रजकेन्द्र के अनेक कवियों, अनेक भक्तों, अनेक संप्रदायों ने राधाकृष्ण को लेकर मिलन-वियोग, प्रेमी-प्रेमिका के हास-परिहास, प्रेम के अनेक प्रसंगों का जो अपार साहित्य हमारे लिये स्प्रतुत कर दिया है वह अपनी कला-कुशलता, अपने माधुर्य, अपनी आध्यात्मिक स्फूर्ति में अद्वितीय है। आज वह हमारी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है।

राधा ने मध्ययुग की भक्ति को एक नया रूप दे दिया। उसने मधुर रस की सहज साधना को जन्म दिया। इस साधना में कठिन जप, तप, योग, अथवा उपासना के वेदविहित पुरातन नित्य अथवा नैमित्तिक कर्मों (यज्ञ, याग, मंत्रादि) को कोई स्थान नहीं मिला। यदि स्थान मिला भी तो गौण। भक्त को केवल अपनी इंद्रियों की आसक्ति के केन्द्र का विपर्यय करना पड़ता था। उसकी लौकिक प्रीति (वासना) ही अलौकिक सत्ता की ओर उन्मुख की जाती थी। उसका ध्येय विद्यापति की इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

जनम-अवधि हम रूप निहारलु
नयन न तिरिपित भयल
सोइ मधुर बोल श्रवणहि सुनलु
श्रुतिपथ परसे न गयल

इसी अपूर्व रूप और स्वर को मध्ययुग के मनुष्य ने भक्तिभाव, रस, अलंकार, भाषा और अपनी ऐंद्रिय वासनाओं के द्वारा अपने लिए सुलभ और साकार बनाने की चेष्टा की है। यही उसका साधना है। यही उसकी कविता है। यहीं पर उसने राधा के महत्व को समझा है जो कहीं उसके लिए कृष्ण की लीला के रस को प्राप्त करने का साधन है और कहीं स्वयं साध्य है।

उन हिंदी कवियों ने जिन्होंने राधाकृष्ण को अपना विषय बनाया है, सूरदास सर्वश्रेष्ठ हैं। वल्लभाचार्य सूरदास के गुरु थे। उन्होंने बालकृष्ण को अपना उपास्य माना और

नवनीतप्रिय के नाम से उन्हें प्रसिद्ध किया। उनके संप्रदाय में राधा का प्रवेश कुछ बाद में, कदाचित् बिठ्ठलनाथ द्वारा हुआ। फलतः कृष्ण की बाललीला एवं तरुण प्रेमलीला में सामंजस्य उपस्थित करने का प्रश्न हुआ। सूरदास ने राधा-कृष्ण के प्रसंग पर अपनी कल्पना का प्रकाश डाला और किशोर-किशोरी की प्रथम भेंट से लेकर कुरुक्षेत्र से लौटने पर कृष्ण द्वारा राधा को पत्नी-रूप में स्वीकार करने की कथा तक एक पूर्ण विकसित जीवन-चरित्र उपस्थित किया। चैतन्य महाप्रभु ने भी अपने संप्रदाय में राधा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। राधा के महाभाव को प्राप्त करना भक्त का सर्वोत्तम लक्ष्य था। परवर्ती-काल में राधा को लेकर भक्ति-भार्ग में अनेक दोष आ गये। एक मत राधा को ही अन्यतम उपास्य मान कर चला। बंगाल में शक्तिपूजा और तंत्रवाद ने राधा के प्रति भक्तिभावना को विशेष रूप से कलुषित किया। स्वयं वल्लभ-संप्रदाय में वल्लभाचार्य की मृत्यु के उपरांत विठूठलनाथ ने राधा को विशेष स्थान दिया और अपने धार्मिक सिद्धांतों में भी उसकी प्रतिष्ठा की। इसके बाद तो हितहरिवंश, चैतन्य और वल्लभ के भक्तों में राधा को जो स्थान मिला उसने उन्हें राम-कृष्ण से भी ऊपर उठा दिया। जान पड़ता है, आर्यपूर्वेतर काल में ही शक्ति की उपासना 'शिव' के साथ किसी-न-किसी रूप में चल रही थी। शिश्नदेव शिव के पर्याय थे, तो गौरी का पर्याय भी कुछ रहा होगा। उस आर्येतर प्राचीन काल में मिश्र में

भी उभय लिंगों की पूजा चलती थी। कालांतर में इसी लिंग-पूजा ने शिव-शक्ति, राम-सीता, राधा-कृष्ण के युग्मों को प्रतीक के रूप में ग्रहण कर लिया।

हुआ जो हो, यह निश्चित है कि राधा को कल्पना ने कृष्ण-कथा को विशेष रूप से आकर्षक बना दिया। वैसे कृष्ण की परंपरा ऋग्वेद और उपनिषद् से चली आती है। महाभारत और पुराणों ने इस कथा के ऐतिहासिक पक्ष को जीवित रखा, परन्तु मध्ययुग के आचार्यों और भक्तों ने ऐसा गठबंधन कर दिया कि जनता कृष्ण के ऐतिहासिक रूप को ही भूल गई और उनकी वृंदावन-लीला ही मुक्ति का द्वार बन गई। कदाचित् संसार के किसी भी देश की जनता ने इतना बड़ा धोखा नहीं खाया। परन्तु इसके साथ यह भी कहना पड़ेगा कि नये तत्त्वों ने, विशेषतयः राधा की कल्पना ने, कृष्णकथा में अनेक कोमल संवेदनाओं का समावेश कर दिया। मधुर भाव की भक्ति की साधना संभव है या नहीं, यह अलग प्रश्न है, परंतु प्रेम के मधुर तत्त्वों के सार्वभौम और आकर्षक होने में कोई मतभेद नहीं हो सकता। केवल इस प्रम के मधुर तत्त्व के नाते ही कृष्ण-कथा में राधा का योग अभिनंदनीय है।

(घ) शिव

ऐतिहासिक खोजों से जान पड़ता है कि राजपूत-काल में शिव और विष्णु मुख्य रूप से आराध्य देव थे। राजपूत-काल का समय ६०० ई०—१२०० ई० है और प्रारंभिक हिन्दी काव्य

का जन्म इसी समय हुआ। अतः प्रारंभ के काव्य में शिव-संबंधी उल्लेखों और भावनाओं का मिलना जरूरी है। परंतु राजपूत-काल का अधिकांश-साहित्य लोप हो गया है। १२०० ई० के बाद से ही हिन्दी साहित्य थोड़ी-बहुत मात्रा में मिलने लगता है।

हम कह चुके हैं कि राजपूत-काल में वैष्णव भावना का तृतीय पुनरुत्थान चलता है अतः विष्णु और शिव मिले-जुले रूप से ही इस साहित्य में मिलते हैं। चारणों के काव्य में बंदना-श्लोकों और स्तुतियों के रूप में शिव का साहित्य मिलता है। परंतु शिव-संबंधी राजपूत-युग की भावना अधिकांश रूप में साहित्य में स्थान नहीं पा सकी है। साहित्य में शिव पहली बार पूर्ण विकसित रूप से विद्यापति के काव्य में आते हैं। विद्यापति शैव थे, इसमें कोई भी संदेह नहीं। मिथिला शैवों का प्रधान केन्द्र रहा है। अतः यहीं पर विद्यापति ने 'नचारियों' (शिवमूर्ति के सामने गाये जाने वाले भक्तिपदों) की रचना की। ये नचारियाँ आज मिथिला के घर-घर में प्रचार पा रही हैं। इन नचारियों में शिव का जो व्यक्तित्व प्रकट हुआ है, वह मानवता-पूर्ण है, पौराणिक नहीं। शिव-शिवा की गृहस्थी का एक चित्र देखिये :

टूटले फटले मरइया अधिक सुहावन रे
ताहि पर बैसलि गौरी मनहिं झाँखति है
माँगि माँगि लयलाइ महादेव ता या दुइ धान है
बघछाल देलन्हि सुखाय बसल फूजि खायल है

उदहन दैलन्हि चढ़ाय पैंच जोहय गेलीह है
एहन नगर के लोग पैंच नहिं दिये हैं
उदहन देलन्हि उतारि मनहिं मन झाँखिय हे
घूमि फिरि अड़ता महादेव किए गए बुझाएब हे
मनहिं विद्यापति गाओल गावि सुनाओल हे
पैह माँगिया थीका दानी जगत भरमाओल हे

(टूटी फूटी मॅडय्या है जो देखने में सुन्दर लगती है। उसमें बैठी हुई पार्वती अपने भाग को कोस रही है। दानी महादेव ने उससे माँग-माँग कर जो था, वह सब लुटा दिया। धान के ये कुछ दाने ही अब शेष हो गये हैं। गौरा ने बाघम्बर सुखाया था, परन्तु महादेव का बैल उसे खा गया। चरखा कातती हुई शिवा ने अँटौरी चढ़ा दी, परन्तु अँटौरी गीली हो गई है और सूत निकालने में असमर्थ है। मन ही मन अपने भाग्य को दोष देते हुए गौरा ने अँटौरी उतार दी। महादेव घर पर नहीं हैं। उन्हें घूमने-फिरने से काम और इधर गृहस्थी चल नहीं रही।) कवि अत्यंत भक्ति-गद्गद् होकर शिव से प्रार्थना करता है—

हर, जनि बिसरब मोर ममिता।
हम नर अधम परम पतिता॥

तुं सम अधम उधारन दूसर, हम सन जगत नहीं पतिता
जमकाँ द्वार जवाब कओने देब, जावन बुझत निज गुनकर बतिया
जब जम किंकर कोभि उठाएत तखन के होत घर हेरिया॥

भन विद्यापति सुकवि पुनित मति संकर विपरीत बनी।
असरन चरन सरन सिर नावत दया करु दिश्र सुलपानी॥

शिव के ऐसे अनेक चित्र हैं जो हिन्दी प्रदेश की आध्यात्मिक साधना को समझने में सहायक हुए हैं। ऐसा बहुत-सा साहित्य अभी अप्रकाशित ही है और हम अपनी आध्यात्मिक धाराओं और प्रवृत्तियों को अभी पूरी तरह स्पष्ट भी नहीं कर सके हैं।

विद्यापति की नचारियों के बाद शैव-हिन्दीसाहित्य में पहली बार विशदता से शिवकथा और शिवभक्ति का प्रकाशन तुलसीदास की रचनाओं में हुआ है। तुलसो के समय में शैवों और वैष्णवों में भयंकर विरोध चल रहा था। तुलसी काशी में रहते थे। उन्हें स्वयं इस विरोध का सामना करना पड़ा और कदाचित् अपने अनुभवों से लाभ उठा कर ही उन्होंने शैव-वैष्णवों के विरोध के परिहार की चेष्टा की। 'शिवपुराण' का आधार लेकर उन्होंने अपने सबसे लोकप्रिय ग्रंथ मानस में भूमिका-रूप शिवपार्वती कथा कही। कालिदास की रचनाओं, विशेष कर 'कुमारसंभव' का आश्रय भी उन्होंने लिया। 'मानस' में उन्होंने राम-शिव में परस्पर मित्र-भाव स्थापित किया है। दोनों एक-दूसरे को गुरु मानते हैं। इस प्रकार शिव और विष्णु के अवतार (राम) में जब मित्र-भाव या गुरु-शिष्य-भाव स्थापित हो गया, तो फिर शैवों और वैष्णवों के लड़ने-झगड़ने की बात ही क्या रह गई ? परन्तु हिन्दी शैव-साहित्य में अधिक

महत्त्वपूर्ण स्थान उन स्तोत्रों का है जो तुलसी ने 'विनयपत्रिका' में शिवपार्वती को संबोधित कर लिखे हैं। रामचरितमानस में जो शिव-स्तुति है उसका प्रचार तो हिन्दी प्रदेश के समस्त शिव-भक्तों में हो गया, परन्तु ये शैवस्तोत्र उतनी लोक-प्रियता नहीं पा सके। कारण कदाचित् यह है कि वे संस्कृतगर्भित हैं। 'नचारियों' के ढंग की जनता के लिए लिखी चीजें वे नहीं हैं। बाद के काव्य में शिव-पार्वती को लक्ष्य कर कोई बड़ी चीज नहीं लिखी गई—यह आश्चर्य और दुःख की बात ही है। साहित्य मनुष्य के भावजगत का सब से सुन्दर प्रकाशन है और शिवसंबंधी साहित्य संस्कृत में इतना अधिक है कि उसके आधार पर अनेक खंडकाव्यों और साधना-संपन्न गीतों की सृष्टि हो सकती थी, परन्तु ऐसा हुआ नहीं।

जो हो, हिन्दी प्रदेश की अनेक धार्मिक प्रवृत्तियों में शिव-भक्ति एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति रही है। साहित्य में उसका प्रकाशन अधिक नहीं हुआ है। जो हुआ है, वह अधिक महत्त्वपूर्ण भी नहीं है, यह दूसरी बात है। आज भी हिन्दी प्रदेश में शैवों की संख्या कम नहीं है, परन्तु शैव-वैष्णवों में अब वैसा कोई विरोध भी नहीं है। शिव की पूजा-उपासना का इतिहास भारतीय उपासना के इतिहास में सबसे पुराना है। केवल यही एक बात शैव हिन्दी काव्य को महत्ता प्रदान करती है।

(ङ) शक्ति

राजपूत-काल में शिव के साथ शक्ति की उपासना भी चल

रही थी और कदाचित् सिद्धों की कविता पर समसामयिक शाक्तों की विचार-धारा का प्रभाव भी है। चारणकाव्य में हम शक्ति की बन्दना भी व्यापक रूप में पाते हैं। इसी समय हिंदू शक्ति के प्रधान केन्द्रों में शिव और शक्ति की मूर्तियाँ स्थापित हुईं। राजस्थान में इस प्रकार की अनेक प्राचीन मूर्तियाँ हैं। 'एकलिंग' और 'काली' की ये मूर्तियाँ विशेष-विशेष राजघरानों में सम्मान पाती रही हैं और उनमें से कुछ का अनेक ऐतिहासिक घटनाओं से संबद्ध भी हैं।

परंतु स्वतंत्र रूप से शक्ति-संबंधी साहित्य हिंदी में इतना भी नहीं है जितना शिव-संबंधी साहित्य। विद्यापति शाक्त भी थे, अतः शक्ति-संबंधी उनके कुछ पद मिल जाते हैं। साथ ही शिव-शक्ति का युग्म जहाँ उपास्य है, वहाँ शिव के साथ शक्ति तो आ ही जाती है। कबीर के समय में वैष्णव भावना का प्रचार बढ़ा। जहाँ तक शैवों का संबंध था, वहाँ तक तो ठीक था। किसी तरह शैवों और वैष्णवों के विरोध का परिहार हो गया, परंतु शाक्त तो मदिरा-मांस के सेवी ठहरे। जैसे-जैसे हिंदीप्रदेश में वैष्णव भावना दृढ़ होती गई, प्रसार पाती गई, वैसे-वैसे शाक्तों के प्रति विरोध भी बढ़ता गया। कबीर के काव्य में यह विरोध स्पष्टतयः लक्षित है। कबीर कहते हैं—

साषत बांभण मति मिलै, बैनसो मिलै चँडाल
अंकमाल दै भेटिये, मॉनौ मिलै गोपाल

× × ×

साकत मरहिं संत सभि जीवहिं।
राम-रसाइनु रसना पीवहिं॥

इस विरोध के कारण हिंदी में शाक्तमत का प्रचार नहीं हो सका। कम से कम उसने वह भावात्मक रूप ग्रहण नहीं किया जो बंगाल में आज भी चल रहा है। फल-स्वरूप हिंदी में शक्ति-संबंधी साहित्य है ही नहीं। दूसरी बात यह है कि वैष्णवधर्म में सीता और राधा चिन्मय शक्ति के रूप में ग्रहण हो गईं और उन पर विशेष रूप से रचनाएं होने लगीं। कुछ ही दिनों में उन्होंने शक्ति का स्थान छीन लिया। तुलसी ने रामचरितमानस के मंगला-छंद में सीता के शक्ति-रूप की अभ्यर्थना की है—

विप्लव-स्थिति संहारकारिणीं क्लेश हारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभं॥

उसी तरह सूर ने राधा के संबंध में कहा—

१. ब्रजहि बसे आपुहि बिसरायो
द्वै तनु जीव एक तुम दोऊ सुख कारण उपजायो
ब्रह्म रूप द्वितीय नहिं कोई तब मन त्रिया जनायो

२. तब नागरि मन हरष भई
प्रकृति-पुरुष नारि मैं वे पति काहे भूलि गई
को माता को पिता बंधु को यह लो भेंट भई

३. समुझि री नाहिंन नई सगाई

प्रकृति पुरुष श्रीपति सीतापति अनुपम कथा सुनाई

'सूर' हती रसरीति श्याम सों तैं ब्रज बसि बिसराई

इस तरह के उद्धरणों से स्पष्ट है कि राधा सामान्य नारी नहीं हैं। वे प्रकृति-रूपा हैं। 'राधा परम निर्मल नारि' वाले पद में सूरदास ने इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। हितहरिवंश के 'श्रीराधासुधास्तव' में भी राधा को साफ़-साफ़ पराशक्ति के रूप में ग्रहण किया गया है। यहाँ प्रकृति (राधा) सेव्य हैं, पुरुष (कृष्ण) सेवक हैं। राजपूत-काल में 'काली', 'रुद्रा' इत्यादि भयंकर देवियों के रूप में जो शक्ति (मूल प्रकृति) की उपासना थी, वही सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी, आह्लादिनी, प्रकृतिप्रिया राधा की भक्ति में बदल गई है। बौद्ध-साहित्य में लोकजीवन में चली आती हुई देवियों को 'प्रज्ञा पारमिता' का रूप दे दिया गया था। यह 'प्रज्ञा पारमिता' बौद्ध भक्तों और दार्शनिकों की सबसे ऊँची उड़ान थी। हिंदी साहित्य की सीता और राधा 'प्रज्ञा-पारमिता' से कुछ भी कम नहीं। यही नहीं, वे जन-मन के सामान्य धरातल पर अधिक प्रसन्नता, अधिक स्वाभाविकता से विचरण करती हैं।

(च) हनुमान

यों तो रामकथा के साथ हनुमान की कथा संस्कृत के महाकव्यों, पुराणों और नाटक-ग्रंथों में बराबर चलती रही है, परंतु स्वयं हनुमान को लेकर हनुमन्नाटक को छोड़ कर और किसी

ग्रंथ की रचना हम संस्कृत में नहीं पाते। तुलसी ने इसी 'हनुमन्नाटक' के सहारे 'रामचरितमानस' में हनुमान के शक्तिशाली चरित्र को पुष्ट किया है।

हिंदी साहित्य में हनुमान एक महान् चरित्र और एक प्रसिद्ध रामभक्त के रूप में आते हैं। हनुमान-संबन्धी पहली हिंदी-कविता कदाचित् रामानंद की है जो 'आदिग्रंथ' में आज तक सुरक्षित है। नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका में प्रकाशित अपने एक लेख में बाबू श्यामसुन्दर दास ने इस कविता को उद्धृत किया है। कुछ लोगों का कहना है कि हनुमान-चालीसा भी रामानंद की रचना है, परंतु यह संदिग्ध है। जो हो, यह संदेह करने की बात नहीं कि जिस रूप में हनुमद्भक्ति आज चल रही है उसकी स्थापना रामानंद ने ही की। रामानंदी सम्प्रदाय में आज भी हनुमान की उपासना प्रधान रूप से चली आती है। वास्तव में योग मार्ग में योगी-श्रेष्ठ के रूप में हनुमान की प्रतिष्ठा थी ही। रामानंद प्रख्यात योगी थे अतः वह हनुमान को योगी-रूप में उपास्य और आदर्श समझते होंगे। उनका हनुमान-विषयक हिंदी पद इस प्रकार है—

आरति कीजै हनुमान लला की। दुष्ट दलन रघुनाथ कला की॥
जाके बल-भर ते अहि काँपै। रोग सोग जाकी सिमा न चाँपै॥
अंजनीसुत महाबल दायक। साधुसंत पर सदा सहायक॥
बाएँ भुजा सब असुर-सँहारी। दहिन भुजा सब संत उबारी॥
लछिमन धरति में मूर्छि पर्यो। पैठि पताल जमकातर तोर्यो॥

आनि सजीवन प्रान उबार्यो । यही सबन कै भुजा उपार्यो ॥
गाढ़ परे कपि सुमिरौं तोहीं । होहु कृपालु देहु जस मोहीं ॥
लंका कोट समुंद्र खाई । जात पवनसुत बार न लाई ॥
लंक उजारि असुर सब मार्यो । राजा राम के काज सँवार्यो॥
घंटा ताल झाँझरी बाजै । जगमग जोति अवधपुर छाजै॥
जो हनुमान जी की आरति गावै । बसि बैकुंठ परम पद पावै ॥
लंक बिधंस कियो रघुराई । रामानंद आरती गाई ॥
सुर नर मुनि सब करहिं आरती । जै जै जै हनुमान लाल की ॥

रामानंद ने 'योग-चिन्तामणि' ग्रंथ भी लिखा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उसे 'रद्दी ग्रंथ' बतलाते हैं, परंतु इसमें संदेह नहीं कि उसमें हमें रामानंद के असली रूप का पता लगाने में सरलता होती है। रामानंद योग, रामभक्ति, हनुमान-भक्ति, निर्गुणभक्ति—अध्यात्म और उपासना के सब मार्गों के बीच में खड़े दिखलाई देते हैं। आमेर राज (जयपुर) की गलता की घाटी रामानंदियों का केन्द्र बनी और वहाँ के योगी पीठों पर भक्तिवाद का शासन हो गया।

हनुमान को लेकर हिंदीसाहित्य में विशेष योग गोस्वामी तुलसीदास ने ही दिया। रामचरितमानस के सुन्दर और लंका-कांड तो हनुमान के पराक्रम से भरे पड़े हैं। रामभक्त के रूप में तुलसी ने हनुमान में अपने ही व्यक्तित्व को भर दिया है। राम, भरत और हनुमान रामकथा के तीन नायक कहे जा सकते हैं। राक्षस-बध की कथा में हनुमान ही केन्द्ररूप से प्रतिष्ठित

हो जाते हैं। तुलसी ने रामकथा को लेकर तेरह-चौदह ग्रंथ लिखे हैं, परन्तु उन सब में एक ही प्रकार से हनुमान का चरित्र नहीं आया। मुक्तक-प्रसंग में हनुमान अवश्य आते हैं। हाँ, 'मानस' के बाद जिस ग्रंथ में हनुमान की पराक्रम-कथा लिखी गई है, वह 'कवितावली' है। शौर्य का इतना प्रांजल और शक्तिशाली वर्णन कहीं नहीं मिलेगा। परन्तु हनुमान तुलसी के लिए केवल रामभक्त नहीं थे, वे पूज्य भी थे, सेव्य भी थे। अतः इस दृष्टिकोण से 'हनुमान-बाहुक' और विनयपत्रिका के हनुमान-संबंधी पद विशेष महत्त्व रखते हैं। कहते हैं, तुलसी ने अपने समय में काशी में हनुमान-उपासना को विशेष सहायता दी थी। हनुमान को लेकर हिंदीकाव्य में जो कुछ है, वह तो अधिकांश उनका है ही।

आधुनिक युग में भी हनुमान को लेकर विशेष कुछ नहीं लिखा गया। इसका कारण यह है कि कवि राम-सीता की छवि पर मुग्ध होकर रह जाता है और रामकथा में हनुमान की कथा भी एक तरह से आ ही जाती है। हनुमान के नाम से मूर्तिपूजा आज भी चल रही है; भक्तों, योगियों और शूरवीरों के लिए वे आज भी आदर्श हैं, परंतु उन्हें लेकर किसी महाकाव्य की सृष्टि अभी नहीं हो सकी है।

यह है हिंदी सगुण काव्य की स्थिति। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी का सगुण भक्तिकाव्य हिंदीकाव्य की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और सशक्त धारा है। जिस काव्य ने हमें 'राम-

चरितमानस', 'विनयपत्रिका', 'सूरसागर', 'मीरां की पदावली' और 'हितचौरासी' जैसे अनमोल रत्न दिये उसकी महिमा सदा बनी रहेगी। इसमें कोई संदेह नहीं। हिन्दीकाव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण निधि वह है। क्या साहित्य, क्या धर्म, क्या दर्शन, क्या लोकजीवन, सब का रस यदि एक स्थान पर प्राप्त करना हो तो वैष्णवों, भक्तों और संतों के काव्य को ही पढ़ना पड़ेगा। संसार के काव्य-साहित्य में जो सर्वश्रेष्ठ है, वह यहाँ है और जो यहाँ नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। कौन रस ऐसा है जिसका सबसे अधिक परिपाक हिंदी भक्तिकाव्य में नहीं हुआ—शृंगार रस, वीररस और भक्तिरस तो इस काव्य के प्राण ही हैं। फिर कौन क्षेत्र ऐसा है जिससे भक्तों की कल्पना ने बल नहीं ग्रहण किया, कौन ऐसी उदात्त भावना है जो अलंकारों में नहीं बँधी, जिसने संगीत की नई-नई तालों और नए-नए रागों का रूप ग्रहण नहीं किया। सच तो यह है कि प्राचीन संस्कृत काव्य के सम्मुख यदि हम कुछ रख सकते हैं तो यही हिन्दीभक्तिकाव्य। इस काव्य का राष्ट्रीय महत्त्व है और राष्ट्रीय गौरव के अनुरूप ही उसका अध्ययन-अध्यापन होना चाहिये। यह शोक का विषय है कि हमने अभी अपने साहित्य की आत्मा नहीं पहचानी है और उसे संसार के साहित्य के समकक्ष उपस्थित नहीं कर सके हैं। ऐसा हम कर सकें तो हमें किसी हानि की आशंका नहीं है। उससे हमारे महाकवियों और महान् लेखकों का गौरव ही बढ़ेगा।

५

सूफ़ी काव्य और सूफ़ी साधना

[१]

हिन्दीकाव्य का एक पक्ष ऐसा है जिसके सम्यक् अध्ययन के लिए हमें इस्लामी मतवाद और एक नई रहस्यमयी विदेशी साधना-पद्धति को समझना होता है। यह बात नहीं है कि इस साधना-पद्धति के जोड़ की कोई चीज़ भारतीय साधना-क्षेत्र में हो ही नहीं। इसमें स्वयं बहुत कुछ ऐसा है जो योगदर्शन और उपनिषद् दर्शन से प्रभावित है या बौद्ध भिक्षुओं की साधनाओं से प्रेरणा प्राप्त करता है। परन्तु जहाँ तक पारिभाषिक शब्दों, चिंतनशैलियों और काव्य-रूपों का संबंध है, वह ईरान की भूमि से अधिक संबंधित है। वह कहीं कुरआन पर आश्रित है, कहीं उससे स्वतंत्र, परन्तु उसे वह पूर्णतः भुला नहीं सकता। जान पड़ता है, जिस समय मुहम्मद साहब के संदेश को लेकर अरबों ने फ़ारस पर आक्रमण किया, उस समय से बहुत पहले ही वहाँ भारतीय योगियों, बौद्ध भिक्षुओं और अनेक रहस्य-

साधकों की पहुँच हो गई थी और वहाँ के साधकों में योग, वेदांत (अद्वैत), नाम-जप और रागात्मिका भक्ति को लेकर अनेक प्रकार की साधनाएँ चल पड़ी थी। यह साधनाएँ आज भी कुछ नये रूप में जीवित-स्पंदित हम तक चली आई हैं, इसी से उनकी शक्ति और उनकी स्वस्थता का अनुमान किया जा सकता है। परन्तु अरबी मुसलमानों ने ईरान की भाषा, संस्कृति और अध्यात्मसाधन को विध्वंस कर दिया और आज सूफ़ी साधना के मूल स्रोत तक पहुँचना असंभव है।

सूफ़ी आन्दोलन का जन्म ८ वीं शताब्दी में अरब में हुआ। परन्तु भारत में आज जिस रूप में सूफ़ी मत प्राप्त है, वह मूल सूफ़ी मत से बहुत भिन्न है। हिन्दू धार्मिक और दार्शनिक विचार-धारा ने उसमें बहुत बड़े परिवर्तन कर दिये हैं।[१] भारत में सूफ़ी विचारधारा के विकास के संबंध में विचार करने से पहले यह आवश्यक है कि हम उसके उस रूप से परिचित हो जायें जिसका विकास भारत से बाहर हुआ।

मुहम्मद साहब की मृत्यु के कुछ समय बाद ही सूफ़ी मत का विकास हुआ और विकास का यह क्रम रूढ़िवादी ढंग से चलता रहा।[२] प्रारंभिक सूफ़ियों में तप की प्रधानता थी। वे बड़ा कठोर और नियंत्रित जीवन व्यतीत करते थे और अक्षरशः कुरआन का पालन करते थे। परन्तु यह तप-निष्ठा धीरे-

---

१ Encyclopaedia of Religion & Ethics, Vol. XII, P. 10.

२. Nicholson in J. R. A. S., Vol. XXXVIII, 1906.

धीरे रहस्य में बदलती गई और ८१५ ई० के लगभग ये साधु सूफ़ी[3] नाम से प्रसिद्ध होने लगे। उनका सूफ़ी नाम इसलिए पड़ा कि वे 'सूफ़' (ऊन) के कपड़े पहनते थे। जो व्यक्ति संसार-त्यागी हो जाता था उसके लिए 'लबिस ल सूफ़' (Labiasal-Suf) कहा जाता था।[४] बाद में सूफ़ी शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयोग में आने लगा।[५] प्रारम्भिक रहस्यवाद इस्लाम धर्म से सम्बन्धित था[६] और उसका जन्म ईश्वर को इस्लामी कल्पना के विरोध के कारण हुआ जिसमें अध्यात्म के लिए विशेष स्थान न था। इस प्रारंभिक रहस्यवाद की दो विशेपताएँ हैं जैसा गोल्डज़िहर (Goldziher) ने कहा है।[७] एक तो पाप की अतिश्योक्तिपूर्ण भावना और दूसरी ईश्वरीय कोप का अत्यंत भय। ये सूफ़ी ईश्वर से इतना प्रेम नहीं करते थे जितना डरते थे और इसी से वह उसकी इच्छा के सम्मुख आत्मसमर्पण करते थे।[८] परन्तु ८१५ ई० के लग-

---

3. J. R. A. S., Vol. XXXVIII, 1906, p. 305.

४. Cyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. XII, p.10.

५. वहीं

६. मैकडानल (Macdonald) के अनुसार ईस्लामी रहस्यवाद का मूल इस्लाम-पूर्व के अरब में हीं ढूंढा जा सकता है। देखिये 'इस्लाम-धर्म'— Muslim Theology, pp. 124-5

७ Vienna Oriental Journal, Vol XIII, N0. 1, p 35.

८. स्वयं .कुरान की सामग्री से इस विचारधारा की पुष्टि हो सकती है।

भग इस प्रारंभिक सफी-विचारधारा पर अशराक्रियाँ और थोनिसिअस के यूनानीदर्शन का प्रभाव पड़ा। उस समय ईसाई मत पर नवअफ़लातूनी विचारधारा का प्रभाव सबसे अधिक था और इस ईसाई मत ने सूफ़ी-संगठन और संघ-नियमन पर अपनी छाप छोड़ी।[९] यहूदियों के दर्शन ने उसे नई पारिभाषिक शब्दावली दी[१०] परन्तु कदाचित् सब से अधिक प्रभाव यूनानियों का था। सूफ़ियों की दार्शनिक विचारधारा पर स्पष्ट रूप से यूनानी दर्शन का प्रभाव अंकित है। अनेक सूफ़ी आयुर्वेद में दिलचस्पी लेते थे और इसके लिए उन्हें यूनान की ही शरण जाना पड़ा। परन्तु यह सब प्रभाव अत्यंत तीव्रता से पड़े। नव अफ़लातूनी प्रभाव के कारण सूफ़ियों में बुद्धिवाद की प्रधानता हो गई। परन्तु गृहयुद्ध और उलमाओं के शुष्क सिद्धांतवाद के कारण वे शीघ्र ही बुद्धि पर अविश्वास करने लगे। उन्होंने हक़ (सत्य) की खोज शुरू की। यह खोज व्यर्थ भी नहीं गई। कुछ ही समय बाद सूफ़ियों के अनेक वर्ग स्थापित हो गये। इन पर ईरान के मूल धर्म और भारतीय बौद्ध और हिंदू चिंता का गहरा प्रभाव पड़ा।[११]

---

९. Encyclopaedia of Religon and Ethics, Vol. XII, p. 11.

१०. Massignon, Lexique Technique de La Mystique Musulmane, pp 51-54

११. बौद्धधर्म के प्रभाव के लिए निकलसन की रचनायें देखिये।

ईरान में जिन वर्गों ने सूफ़ी विचारधारा को ग्रहण किया वे अधिकतर सामी नहीं थे। उनके जातिगत स्वभाव और उनकी प्राचीन संस्कृति ने नई विचारधारा को उनके संस्कारों के अनुकूल नया रूप दे दिया। प्रत्येक जाति का अपना मनोविज्ञान होता है, विचारों और अनुभूतियों के क्षेत्र में उसकी अपनी स्थिति होती है। इसमें संदेह नहीं कि सूफ़ी विचारधारा का जन्म अरब में ही हो गया था, परन्तु उसका सारा परवर्ती विकास ऐसी जातियों द्वारा हुआ जो सामी नहीं हैं। ईरानी विचारकों और साधकों को इस्लामी सिद्धांत अदार्शनिक और अपरिपूर्ण लगे। उन्होंने अपने देश के प्राचीन धर्मों, संस्कारों और परंपराओं की दृष्टि से उनकी व्याख्या आरंभ की। फलतः सूफ़ी विचारधारा का इस्लामीपन जाता रहा। ईरान की सामी प्रकृति उसमें समा गई। इसीलिए ईरान के निवासियों ने इस्लाम की अपेक्षा सूफ़ी मत को ही अपना हृदय दिया। एक तरह से इस सूफ़ी मत को इस्लामी कर्मकांड और रूढ़िवाद के प्रति विभिन्न विजेता जातियों की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं।

सूफ़ी मतवाद का पहला स्पष्ट रूप बिस्ताँ के बायज़ीद के सिद्धांतों में मिलता है। वह किसी प्राचीन सूफ़ी संप्रदाय से संबंधित नहीं था, परन्तु उसके सिद्धांतों में ईरानी, भारतीय और बौद्ध प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित हैं। वह 'फ़ना' (धरम-सत्ता में आत्मा की लयस्थिति) के सिद्धांत को मानता था।

यह सिद्धांत वेदांत के 'अहम् ब्रह्म' (सोऽहं) के सिद्धांत से बहुत भिन्न नहीं है। यज़ीद भी बार-बार आत्मा की इसी ऊँचाई से बोलता था।

यज़ीद की इस विचारधारा का सबसे विकसित रूप मनसूर-अल-हल्लाज के विचारों में मिलता है जिसने 'अनलहक़' (मैं हक़ हूँ) की घोषणा की। धीरे-धीरे बौद्ध दंतकथाएँ, दृष्टांत और साधना-मार्ग सूफ़ी मतवाद में प्रवेश पा गये और सूफ़ियों के द्वारा कट्टर इस्लाम-धर्म में प्रविष्ठ हुए। वस्तुतः सूफ़ी मतवाद को विशिष्ट रूप मध्य एशिया में मिला। इस क्षेत्र में अनेक सूफ़ी-संतों का प्रादुर्भाव हुआ और इन संतों का अनेक बौद्धकथाओं से संबंध स्थापित हो गया। सच तो यह है कि पैग़म्बर के धर्म (इस्लाम) के विरोध में सूफ़ी मतवाद संत धर्म के रूप में विकसित हुआ। परवर्ती बौद्ध धर्म भी 'सिद्धों' का धर्म बन गया था। चमत्कारपूर्ण अनेक कथायें उनसे संबंधित हो गई थीं। बौद्धों का एक महत्त्वपूर्ण कर्मकांड तीर्थ-यात्रा था। जिन स्थानों का बुद्ध के जीवन से संबंध था, वह पवित्र और लोकोत्तर यात्रा लिये गये थे और बौद्ध जनता प्रति वर्ष उन पवित्र स्थानों की यात्रा करती थी। सूफ़ीमतवाद में भी यह कर्मकांड सम्मिलित हो गया। सूफ़ी-संतों की समाधियाँ पूजनीय बन गई। तरीक़त का सिद्धांत भी सूफ़ियों ने बौद्धों से ही लिया। फ़ना (निर्वाण) की प्राप्ति से पहले सूफ़ी साधक को साधना के विभिन्न स्तर या मार्ग (तरीक़त) पार करने

पड़ते हैं। तभी अंत में वह परम सत्य (हक़ीक़ा या हक़क़त) तक पहुँचता है। तब उसे अद्वयतत्त्व की अनुभूति होती है। प्रारंभिक सूफ़ियों ने सात साधना-स्तर माने: तोबा, ज़ुहद, सब्र, शुक्र, तवक्कुल, रजा और रज़ा। परन्तु बाद में और भी बहुत-सी साधनाएँ इस मतवाद में सम्मिलित हो गईं। सूफ़ी का अंतिम लक्ष्य हो गया 'मुहब्बत' (अल्लाह की प्रीति) और उसके लिए सब से प्रधान साधन 'ज़िक्र' (नामस्मरण) और फ़िक्र (ध्यान) बन गये।

बायजीद की परम्परा के सूफ़ी साधक सब धर्मों के प्रति सहिष्णु थे। इस्लामी मतवाद और धर्मकांड को वे अधिक महत्त्व नहीं देते थे। इसीलिए साधारण कट्टरपंथी मुसलमानों ने उन्हें काफ़िर कहा और उन्हें अनेक यातनाएँ भोगनी पड़ीं। कितने ही सूली पर चढ़ गए। यह उनके स्वतंत्रचेत्ता होने का दंड था। प्रारंभिक सूफ़ी वर्ग एक तरह से इस्लाम का ही अनुयायी था। नये सूफ़ी वर्ग में से अनेक सूफ़ी इसी वर्ग की ओर लौटे। उन्होंने कुरान और मुहम्मद की महत्ता स्वीकार कर ली। परन्तु फिर भी सामान्य इस्लाम धर्म और सूफ़ी मत विरोधी अखाड़े ही बने रहे। इस्लामी सूफ़ी विचारधारा के प्रति सहिष्णु तो हो गये परन्तु वह निश्चय रूप से एक अलग विचारधारा ही बनी रही। जहाँ स्वतंत्र-चेत्ता सूफ़ी क़यामत के दिन, इस्लामी जन्नत और कुरान की हँसी उड़ाते थे, वहाँ उन्होंने इन्हें प्रतीकार्थ में लेना शुरू किया और अनेक प्रकार

से इनकी व्याख्या की। वस्तुतः परवर्ती काल में सूफ़ियों के दो बड़े दल बन गये, एक साधारण सूफ़ी जो इस्लामी घेरे के भीतर ही आते थे और दूसरे स्वतंत्र-चेत्ता सूफी या ज़िंद यह स्पष्ट है कि इनमें पहले दल के सूफ़ी ही संख्या में अधिक रहे होंगे।

वैसे ८ वीं शताब्दी में मुसलमान साधु-संत दक्षिण भारत में बस कर प्रचार करने लगे थे, परंतु वे अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए। वस्तुतः उस समय तक सूफ़ी मतवाद की रूप-रेखा ही स्थापित हो सकी थी और उसके साथ त्याग, तपस्या और बलिदान का बल नहीं था। १००० ई० के बाद हमें ऐसे सूफ़ी-संतों के दर्शन होते हैं जो उत्तर-पश्चिम के मार्ग से भारत में आये और सारे देश में फैल गये। अगले ४०० वर्षों तक सूफ़ी-संतों की यह परंपरा शक्तिशाली ढंग से चली जाती है। इनमें से विशेष महत्त्वपूर्ण है शेख़ इस्माईली (लाहोर, १००५ ई०), नाथर शाह (त्रिचनापल्ली, १०००), मुईउद्दीन चिश्ती (अजमेर, ११९५), सैयद जलालुद्दीन (सिंध, १२४३), शेख़ जलालुद्दीन (बंगाल, १२४४), पीर महाबीर (बीजापुर, १३५०), यूसुफ़ (कच्छ, १३५०), और अली हमदान (काश्मीर, १३८८)। ये सूफ़ी-संत सिंधु से ब्रह्मपुत्र तक और पानीपत से गुलबर्ग तक बराबर फैलते गये। इन सूफ़ियों के प्रभाव से अनेक उच्च वर्ग के हिंदू इस्लाम धर्म में दीक्षित हुए। अजमेर के हुसैनी ब्राह्मण, गुजरात के काका और सामी, और बंबई के

खोजा सूफ़ी प्रभाव के प्रमाण हैं। सच तो यह है कि धर्म-परिवर्तन का बहुत बड़ा श्रेय इन सूफ़ियों को है। क़ाज़ी और उल्मा तलवार के बल पर धर्म-प्रचार के क्षेत्र में अग्रसर हुए। हिंदुओं को उनसे घृणा हो गई। सूफ़ी प्रेम और सहिष्णुता का मंत्र लेकर आये। हिंदू जनता ने उन्हें अपना ही समझा। उनकी साधना से वे प्रभावित हुए। उनके पास आकर उन्होंने इस्लाम-धर्म के सुन्दर रूप को भी देखा और फिर उसमें दीक्षित भी हो गए। बलपूर्वक धर्म-परिवर्तनों के अतिरिक्त जितने भी धर्म-परिवर्तन इस्लाम में हुए, वे सूफ़ियों द्वारा ही हुए।

प्रारंभ में उत्तर भारत के सूफ़ी इस्लाम धर्म के प्रचारक भी थे। शासकों की शक्ति-संस्थापना और धर्म-परिवर्तन में भी वे योग देते हैं। उनके सरल जीवन, उनके प्रेम और उनकी सहिष्णुता से प्रभावित होकर निम्नवर्ग के हिंदू उनके अनुयायी बन गये। इन निम्नवर्गों तक हिंदू धर्म के उच्च संस्कार पूर्णतय: नहीं पहुँचे थे। वे अपनी हीन सामाजिक स्थिति के कारण शेष हिंदू वर्णों से असंतुष्ट भी थे। इन असंतुष्ट हिंदुओं को इस्लामी क्षेत्र में प्रवेश कराने का श्रेय फ़रीदुद्दीन शकरगंज और अली मखदूम हुजवीरी जैसे सूफ़ियों को है। बाद में बहुत से सूफ़ियों ने यह प्रचार-कार्य छोड़ दिया और इस देश के विभिन्न धार्मिक और दार्शनिक मतवादों के अध्ययन में लग गये। इस्लाम धर्म की श्रेष्ठता पर से उनका विश्वास उठने लगा और धीरे-धीरे वे उसकी सर्वोपरिता से

इंकार करने लगे। धीरे-धीरे सूफ़ी मतवाद में अनेक हिंदू विचारधाराओं और हिंदू साधनाओं ने प्रवेश प्राप्त कर लिया। हिंदू वेदांती विचारधारा और भक्तिवाद ने उन्हें पूर्ण रूप से प्रभावित किया। पंजाब जैसे इस्लामी गढ़ में बसने वाले सूफ़ी भी यह कहने लगे कि इस संसार में एक मात्र .खुदा की सत्ता है और शेष सब 'माया' है। आवागमन और अवतारवाद के सिद्धांत भी उन्हें स्वीकृत हुए। फलस्वरूप वे कर्मवाद के भी क़ायल हो गये। अन्य देशों से सूफ़ी कम-से-कम मुहम्मद को आदर्श (इंसानुलकामिल) मानते थे, परंतु इन स्वतन्त्र-चेताओं ने या तो मुहम्मद की उपेक्षा शुरू की या उन्हें वही स्थान दिया जो वे दूसरे धर्म-प्रवर्तकों को देते थे। कुछ सूफ़ियों ने यदि मुहम्मद को स्वीकार भी किया तो उन्हें भागवतों के कृष्ण का रूप दे दिया और उन्हें इसी तरह की भाव-प्रमुख कविता का विषय बना लिया। प्रारंभिक सूफ़ी मूर्तिपूजा के घोर विरोधी थे। धीरे-धीरे यह विरोध कम होता गया और अंत में समाप्त हो गया। जो सार्वभौमिक शक्ति संसार में व्याप्त है उसकी पूजा का यह प्रतीक रूप मान लिया गया। साधारण मुसलमानों के विपरीत सूफ़ी मांसाहार से घृणा करने लगे। उन्होंने अहिंसा को जीवनदर्शन के रूप में स्वीकार कर लिया। प्रारंभिक सूफ़ी .क़ुरान को विशेष महत्त्व देते थे। अब क़ुरान, वेद और पुराण को एक ही जैसा महत्त्व दिया जाने लगा। धीरे-धीरे सूफ़ियों ने

धर्म के वितंडावाद में पड़ना ही छोड़ दिया। उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि

> विधिना के मारग है तेते
> सरग नखत तन रोयाँ जेते
>
> (जायसी)

इस उच्च मानसभूमि पर पहुँचने के बाद तो हिंदू-मुसलमान का भेद ही जाता रहता है।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष के सूफ़ी साधकों को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। पहला वर्ग रूढ़िवादी सूफ़ियों का था जो धर्म-परिवर्तन में विश्वास करते थे, क़ुरान और मुहम्मद में जिनकी आस्था थी। वे विभिन्न धर्मों के प्रति सहिष्णु थे परंतु इस्लाम ही उनके लिए सच्चा धर्म था। फ़रीद सानी (द्वितीय) इसी तरह के सूफ़ी थे। सूफ़ियों का दूसरा वर्ग दर्शन को विशेष महत्ता देता था। ये सूफ़ी विचारक और तत्त्वचिंतक थे। उन्होंने वेदांत की सारभूत शिक्षाओं को ग्रहण कर लिया था। जाति-देश-धर्म के भेद उनके लिए तत्त्वतः कोई भेद नहीं थे। सभी धर्मों के कर्मकांड और रूढ़िवाद के अंग उन्हें अस्वीकृत थे। केवल आडंबर मात्रसे उन्हें घृणा थी। उन्हें धर्म-परिवर्तन में विश्वास नहीं था, अतः उन्होंने सहिष्णुता और प्रेम का पाठ सिखाया। प्रसिद्ध सूफ़ी संत बुल्लेशाह को हम इसी श्रेणी में

रख सकते हैं। तीसरी श्रेणी के सूफ़ी संख्या में अधिक थे। ये शिक्षित नहीं थे और कदाचित् सूफ़ी मतवाद का गहरा अध्ययन भी इन्होंने नहीं किया था। उन्होंने अपने समय की जनश्रुतियों, रूढ़ियों और विश्वासों को धर्म की मान्यता दे दी। मुहम्मद उनके रसूल थे, .क़ुरान उनके लिए ईश्वरीय ग्रंथ था, परन्तु अन्य धर्मों के पैग़म्बरों और अन्य इस्लामी पुस्तकों से उन्हें द्वेष नहीं था। वे जन-भावना को समेट कर चलने वाले साधक थे। हिन्दू और मुसलमानों के अशिक्षित जनसमुदाय में यह वर्ग विशेष जनप्रिय था।

सूफ़ी साहित्य में कविता का स्थान कदाचित् सबसे महत्त्व-पूर्ण है। प्रारंभिक सूफ़ी कवियों ने फ़ारसी भाषा में लिखा। फ़ारसी के मुहावरे, उपमाएँ-उत्प्रेक्षाएँ, फ़ारसी कविता का सारा वातावरण, फ़ारसी के छंद, फ़ारसी की शैलियाँ—ये सब भारतीय सूफ़ी-काव्य में भी पूर्ण रूप से ग्रहीत हुए। फ़ारसी के अनेक सूफ़ी कवियों ने इतनी उच्च श्रेणी की कविता लिखी कि ईरान में भी उनका नाम आदर से लिया जाता है। इनमें अमीर .ख़ुसरो (१२५३-१३२५) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। फ़ारसी के आधे दर्जन कवियों का नाम लिया जाये तो .ख़ुसरो का नाम स्वयं ही आ जाता है। धीरे-धीरे भारतीय सूफ़ी साधक और सूफ़ी कवि फ़ारसी-मिश्रित स्थानीय भाषाओं का प्रयोग करने लगे। वैसे पाकपट्टन के फ़रीदुद्दीन शकरगंज के काव्य में ही हमें हिन्दवी का प्रारंभिक रूप दिखलाई पड़ता है, परन्तु

उसका पूर्ण विकास शेख़ इब्राहीम फ़रीद सानी (१४६०–१५७५) की रचनाओं में मिलता है। स्थानीय भाषाओं में सब से अधिक सूफ़ी-काव्य अवधी (या पूर्वी) भाषा में ही मिलता है। कबीर (१३९८–१५१८) और जायसी (१४९३–१५४३) इस भाषा के सबसे बड़े सूफ़ी कवि हैं और अवधी सूफ़ी-काव्य की परंपरा गदर तक अक्षुण्ण चली आती है। पिछले ५० वर्षों में भी अवधी भाषा में सूफ़ी कथाकाव्य लिखा गया है यद्यपि उसमें परंपरा का निर्वाह ही अधिक है। सच तो यह है कि उत्तरी भारत की भाषाओं में सूफ़ी साहित्य केवल पंजाबी और हिन्दी में भी मिलता है, हिंदी में भी मुख्यतः अवधी में। दोनों में बहुत कुछ साम्य भी है परन्तु अंतर भी कम नहीं है।

पंजाबी सूफ़ी काव्य में हीर-राँझा, शशि-पुन्नो और सोहनी-महिवाल की प्रेम-कहानियाँ कथा-काव्य के लिए प्रचलित हैं। तीनों कहानियाँ प्रेम की पूर्णता को चित्रित करती हैं। ये कहानियाँ पंजाबी-मात्र को प्रिय हैं। फ़ारसी में जिस तरह लैला-मजनूँ और शीरीं-फ़रयाद की कहानियाँ प्रचलित हैं, उसी तरह की बात इन कहानियों के संबंध में कही जा सकती है। इन कहानियों की नायिकाएँ (हीर, शशि और सोहनी) अपने-अपने प्रियतम से मिलने के लिए बराबर तड़पती रहीं, मृत्यु ने ही उन्हें अपने प्रेमियों से मिलाया। सूफ़ियों के लिए ये प्रेमकथाएँ प्रेमकथा-मात्र नहीं हैं। वे उनसे आध्यात्मिक रस की भी अपेक्षा रखते हैं। नायिका सूफ़ी या आत्मा

का प्रतीक है, नायक परमात्मा का। परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति के बाद सूफ़ी हीर नहीं रहता वह रांभा बन जाता है। उसका व्यक्तित्व ही राँभा में समा जाता है। सारा संसार ही जैसे उसके लिए लुप्त हो जाता है। सूफ़ी काव्य में प्रेम-पात्र के सौन्दर्य, वियोग की पीड़ा और संयोग की शांति और तज्जन्य आनंद के अत्यंत उत्कृष्ट चित्र हमें मिलते हैं। इन सब कहानियों में नायिका (जीवात्मा) ही विशेष प्रयत्नशील है। अवधी सूफ़ी काव्यों में नायक अधिक क्रियाशील होता है। वह आत्मा का प्रतीक है। नायिका परमात्मा का प्रतीक। 'पद्मावत' में रतनसेन आत्मा का प्रतीक है और 'पद्मावति' परमात्मा के अलौकिक सौन्दर्य का। इस प्रकार कथा-विकास की शैली कुछ बदल जाती है। पंजाब के कवि ईरानी काव्य को आदर्श मान कर चले हैं और अवधी कवियों ने भारतीय प्रेम-गाथाओं की परंपरा को निबाहा है। अंतर केवल इतना है। इससे तथ्य में कोई अंतर नहीं पड़ता।

सूफ़ी कवियों ने जनता में प्रचलित कथाओं को ही आध्यात्मिक प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है। फलतः जनकथा का बड़ा सुन्दर रूप उनमें सुरक्षित है। परतु साथ ही उन्होंने अपने साहित्य का सारा ताना-बाना भी जन-जीवन से ही लिया है। उनका शब्दकोष, उनकी उपमाएँ-उत्प्रेक्षाएँ, उनके पारिभाषिक शब्द जन-जीवन के अनेक पहलुओं से संबंधित है। उन्होंने

साधारण व्यवसायों, जनप्रचलित दंतकथाओं और सामान्य सामाजिक आचार-विचार से ही अपनी सामग्री ली है। उन्होंने जनभाषा का ही प्रयोग किया। साहित्य उनके लिए कल्पना की क्रीडा-भूमि नहीं था, वह अध्यात्म-रस की प्राप्ति के लिए साधन-मात्र था। फल-स्वरूप उन्होंने साहित्य की अलंकृति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, परंतु फिर भी उनके साहित्य में उच्च कोटि की साहित्यिकता है। प्रतिदिन के जीवन से ली हुई उपमाएँ-उत्प्रेक्षाएँ अत्यंत संयम और कला-निपुणता से सजा कर रख दी गई हैं। इनका अपना आकर्षण है। सूफ़ी काव्य में कवियों का वाग्छल न हो, साहित्य की चकाचौंध न हो, उसमें अनुभूति की तन्मयता और सच्चाई है। सूफ़ी कवि लक्ष्य को देखता है, वह काव्य के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य से चिपट कर नहीं रह जाता। उसका सौन्दर्य संपूर्ण चित्र में है, छोटी-छोटी भाव-भंगिमाओं में नहीं।

सूफ़ी कविता में अनेक शैलियों का प्रयोग हुआ है। पंजाबी और हिन्दी सूफ़ी काव्य में शैली के क्षेत्र में बहुत बड़ी समानता है। नीचे हम संक्षेप में कुछ प्रमुख शैलियों पर विचार करेंगे :

(१) पद-शैली। पदों की शैली का आरंभ कब हुआ, कैसे हुआ, यह कहना कठिन है, परंतु सिद्धों की आठवीं शताब्दी की कविता में हमें राग-रागिनियों में लिखे 'पादाकुलक' के दर्शन होते हैं और पदों का प्रारंभिक रूप भी मिल जाता है।

१००० ई० के आस-पास नाथपंथियों (जोगियों) द्वारा पदों का प्रयोग व्यापक रूप में हुआ और सूफ़ियों ने यह शैली वहीं से ग्रहण की। छंद-शास्त्र की दृष्टि से इन पदों में अनेक छंदों का प्रयोग हुआ है। यह सभी मुख्यतः प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत के मात्रिक छंद हैं। पद-लेखकों ने संगीत-शैलियों और राग-रागिनियों का भी विशेष ध्यान रखा है।

(२) बारहमासा। पंजाबी सूफ़ी काव्य में यह 'बारहमासा' नाम से भी प्रसिद्ध है। बारहमासे की शैली जन-शैली है। अपभ्रंश काव्य में इस शैली में बहुत कुछ लिखा भी गया था। साधारण बारहमासों में लौकिक प्रेम-विरह को वाणी दी जाती है। सूफ़ी बारहमासों में इस लौकिक प्रेम को ही ईश्वरपरक बना दिया गया है।

(३) अठवारा। इसमें सप्ताह के आठ दिनों का वर्णन है। सूफ़ी सात दिन भिन्न २ रीति से ईशाराधना करता है। अंत में आठवीं दिन उसे ईश्वर के दर्शन होते हैं। योगियों की रचनाओं में तिथि और वार को लेकर अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ और साधनाएं उपस्थित की गई हैं।

(४) ककहरा, कक्का, चौंतीसी या बावनी। सूफ़ी काव्य में इसे 'सिहरफ़ी' कहा है। इसमें वर्णमाला के अक्षरक्रम को लेकर सिद्धांत प्रकाशित किये जाते हैं। शालिभद्र कक्का (१३०० ई०) नाम की एक अपभ्रंश रचना भी इसमें मिलती है। कदाचित् यह भी बहुत प्राचीन जन-शैली रही होगी।

(५) कथा (क़िस्सा)। इसमें युगल प्रेमियों की दुःखद कथा को आध्यात्मिक प्रेम के रूपक के रूप में उपस्थित किया जाता है। ये कहानियाँ छंदबद्ध रूप में बड़ी लोकप्रिय थीं। इनमें बैत (द्विपदी, सलोक) छंद का प्रयोग किया जाता था। यह मसनवी शैली है। अपभ्रंश कथा-काव्य में यह शैली पहले भी प्रचलित की और अवधी सूफ़ी-काव्य में भी दोहा-चौपाई क्रम के रूप में इसका प्रयोग होता रहा।

(६) मुक्तक रूप से द्विपदी (या बत) का प्रयोग भी सूफ़ी काव्य में हुआ है। कबीर की रमैनियाँ इस श्रेणी में आती हैं।

(७) दोहरा या दोहा। पंजाबी सूफ़ी काव्य का 'दोहरा' हिंदी दोहे से थोड़ा भिन्न है। इसमें मध्यानुप्रास का भी स्थान मिलता है और अधिकांश दोहरों में मध्यानुप्रास वही होती है जो अन्त्यानुप्रास में। हिंदी दोहों में सूफ़ी साहित्य की बहुत बड़ी सामग्री सुरक्षित है।

(८) पंजाबी सूफी काव्य में एक नई चीज़ भी है जो हिंदी में नहीं है। यह चीज़ 'वार' है। प्रारंभिक वार शहीदों के शोकगीतों के रूप में सामने आती है। कदाचित् ये लोक-गीत रहे होंगे। बाद में इसी छंद में ईश्वर या किसी सूफ़ी संत की प्रशंसा की परंपरा भी चल पड़ी। सिखों के साहित्य में भी इस प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं यद्यपि उनका विषय भिन्न-भिन्न है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पंजाबी और हिन्दी सूफ़ी काव्य की अनेक बातें समान हैं। वस्तुतः दोनों एक ही प्रकार की परिस्थितियों की उपज हैं और एक ही साहित्यिक परंपरा से दोनों शक्ति पाते हैं। यह परंपरा है अपभ्रंश काव्य, जोगियों की रचनाओं और लोकगीतों की परंपरा। दोहा, चौपाई और पद मुसलमानों के आने से पाँच-छः शताब्दी पहले ही लोकप्रियता प्राप्त कर चुके थे। सिद्धों, नाथों और जैन कवियों के काव्य में ये छंद खूब मँज चुके थे। बारहमासा, अठवारा, ककहरा और कथा (क़िस्सः) की शैलियाँ भी पहले से प्रचलित थीं। सच तो यह है कि सूफ़ियों ने इस देश की जनपरंपराओं और साहित्यिक शैलियों को अपना लिया और इसीलिए वे इतनी शीघ्र ही जनता का हृदय मोहने में समर्थ हो गये। सच तो यह है कि भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य ने इन साधकों पर विजय प्राप्त कर ली। परंतु सूफ़ियों ने भारतीय संस्कृति और साहित्य को कुछ नहीं दिया, यह कहना असंभव है।

सबसे पहली बात तो यह है कि इन सूफ़ी साधकों ने हमारी कथाकाव्य की परंपरा को बराबर विकसित किया। उन्होंने जनकथाओं को साहित्य का रूप दिया। उनके नायक-नायिका भारतीय ही थे, अपने देश की संस्कृति और वातावरण को ही उन्होंने अपने काव्य में स्थान दिया और सारे भारतीय जन को 'प्रेम की पीर' में डुबो दिया। इन कथाओं का सूत्र गुणाढय

की 'वृहत्कथा' और धनपाल की 'भविसयत्त कथा' में ही मिल जाता है। किसी दूती या हीरामन तोते से नायिका के रूप की प्रशंसा सुन कर नायक उस पर मुग्ध हो जाता है। वह उसकी खोज में निकल पड़ता है। महान् कठिनाइयों को पार कर अंत में वह नायिका की प्राप्ति करता है। परंतु दैवी इच्छा से नायिका से उसका विछोह होता है। इस वियोग के वर्णन में साधक कवि अपने हृदय की 'प्रेम की पीर' को इतनी तन्मयता से प्रकट करता है कि उसमें आध्यात्मिक अर्थ स्वतः व्यंजित होने लगते हैं। सारे भारतीय साहित्य में प्रेम की इतनी सुन्दर व्यंजना नहीं हुई है। यह सूफ़ियों का ही प्रभाव है कि परवर्ती संतकाव्य में आध्यात्मिक वेदना और प्रेम के स्वर सबसे प्रखर रूप में सुनाई पड़ने लगे। योगियों के साहित्य में ज्ञानमूलक अद्वैत और योग-साधना के शुष्क प्रसंग ही मिलते हैं। उनमें हृदय को बहा ले जाने की क्षमता नहीं है। सूफ़ियों ने ही सारे उत्तर भारत में प्रेम की नदी बहा दी। महायान में भक्तिका तत्त्व पहले ही अन्तर्हित था और दक्षिण से द्राविड़ी भक्ति की एक धारा उत्तर की ओर बहती हुई आ रही थी। परन्तु सूफ़ियों के 'प्रेम' और इस 'भक्ति' में अन्तर है। यह प्रेम सर्वग्राही, सर्वभक्षी है। इसमें साधक के व्यक्तित्व का सब कुछ लोप हो जाता है। कबीर कहते हैं :

सुनु सखी पीअ महि जीउ बसै जीअ महि बसै कि पीउ।
जीउ पीउ बूझहु नहीं घट महि जीउ कि पीउ॥

नीचे लोइन करि रहउ ले साजन घट माहि ।
सभ रस खेलउ पीअ सउ किसी लखावउ नाहि ॥

दादू विरह की वेदना में विभोर हो गाते हैं :

अजहूँ न निकसे प्रान कठोर ।
दरसन बिना बहुत दिन बीते सुन्दर प्रीतम मोर ॥
चार पहर चार्यों जुग बीते रैन गंवाई भोर ।
अवधि गये अजहूँ नहिं आये कतहूँ रहे चितचोर ॥
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर ।
'दादू' ऐसे आतुर विरहिनि जैसे चंद चकोर ॥

जायसी ने 'नागमती' के 'बारहमासे' (विरह-वर्णन) में रूपक की ओट में अपनी प्रेमी आत्मा के विरहभाव को जो रूप दिया है वह सचमुच अद्‌भुत है । नागमती कहती है—

सारस जोरी कौन हरि मारि बियाधा लीन्ह
झुरि झुरि हौ पीजंर भई विरह काल मोंहि दीन्ह
जिन्ह घर कंता ते सुखी, तिन्ह गारौ औ गर्व
कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्व
परवत समुद्र अगम बिच, बीहड़ घन-वन ढाँख
किमि कै भैंटों कंत तुम्ह, ना मोंहि पाँव न पाँख

वह प्रियतम को संदेसा भेजना चाहता है—

पीउ सौं कहेहु संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुँवा हम लाग

यही नहीं, वह अपने व्यक्तित्व को एकदम समूल मिटा देना चाहती है। कहती है—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि 'पवन उड़ाव'

यकु तोहि मारग उड़ि परै कंत धरै जेहिं पाव

व्यक्तित्व के इस नाश के ही द्वारा प्रेमी साधक अपने इष्ट तक पहुँचना चाहता है। भक्त-काव्य में अनुभूति और साधना की इतनी ऊँची उड़ान नहीं मिलेगी। संतकाव्य के प्रभाव और निर्गुण दृष्टिकोण के कारण केवल मीरां के काव्य में इतनी तन्मयता, इतनी आत्मविभोरता हमें मिलेगी। पुष्टिमार्ग का भक्त भगवल्लीला को अत्यंत आत्मभाव से देख कर अलौकिक आनंद की प्राप्ति करना चाहता है परन्तु वह फिर भी बहुत कुछ तटस्थ है। वल्लभाचार्य ने कहा—लीलावत्तु कैवल्यम्। 'लीला ही मोक्ष है'। कृष्णभक्त राधाकृष्ण की बाललीला, मिलन-वियोग में ही आत्मनिवेदन करके अपनी भावना की अन्यतम विज्ञप्ति उपस्थित कर देते थे। परन्तु सूफ़ियों के लिए एक क्षण भी प्रियतम से अलग रहना असंभव था। उन्होंने मिलन और वियोग के दुःख-सुख में डूब कर जो गीत गाये, वह आज अमर हैं। यदि आज हम उपनिषदों की वेदांत-भावना पर गर्व करते हैं तो इस भावना के प्रेममूलक अनुभूतिगम्य रूप का भी हमें गर्व होना चाहिये। सूफ़ियों ने भारतीय साधना को एक अत्यंत मधुर और हृदयरंजक रूप दे दिया, इसमें आज संदेह की कोई भी बात नहीं है।

सूफी साधकों ने परोक्ष के ही गीत नहीं गाये, उन्होंने दृश्य-मान जगत को साधना और प्रेम का विषय बना लिया। तुलसी ने यह अवश्य कहा :

सिया-राम मय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥

परन्तु उनके काव्य में दृश्यमान जगत का कोई भी हृदयग्राही चित्र कदाचित् ही मिले। हमारे साधक अन्तजर्गत तक ही सीमित रह गये। सूफ़ियों के लिए अन्तजर्गत और वाह्यजगत में विशेष भेद नहीं था। उन्होंने वाह्यजगत को अपने अन्तजर्गत की वर्णच्छटा से आलोकित कर दिया। सूफ़ी कविता में प्रकृति की जो उन्मुक्ति दिखाई पड़ती है, वह अपूर्व है। सूफ़ी तो सारी प्रकृति को विरह-भाव से ओतप्रोत समझता है। प्रकृति भी उस प्रियतम के प्रेम में विभोर है, परन्तु इस प्रेम की आग को तो साधक का हृदय ही सह पाता है :

गिरि, समुद्र, ससि, मेघ, रवि सहि न सकहि वह आगि।
मुहम्मद सती सराहिये, जरै जौ अस पिउ लागि॥

इस महान् प्राकृतिक व्यापार के पीछे उस प्रियतम के प्रेम का जो लुका-छिपा व्यापार चलता है, उसे लक्ष्य करते हुए कवि कहता है—

सरग सीस, धर धरती, हिया सो प्रेम समुंद
नैन कोड़िया होइ रहै, लेह लेह उठहिं सो बुन्द

आकाश शीश है; धड़ धरती है, हृदय में जो समुद्र हिलोरें मार

रहा है, वह प्रेम है। नेत्र कौडी मात्र हैं। वे बूँद-बूँद कर इस प्रेम-समुद्र को कैसे उलीच सकेंगे ? प्रकृति के प्रेमी-रूप का इससे बड़ा चित्र और क्या हो सकता है ? सूफी साधकों ने भारतीय विराग-भावना में राग का प्रवेश कराया। उन्होंने जड़ प्रकृति को अपने प्राणों का स्पंदन दिया। उनके लिए मानवी सौन्दर्य हेय नहीं था। वह प्रियतम के सौन्दर्य की ओर इंगित करता था। जहाँ कहीं भी प्रेम है, सौन्दर्य है, सहृदयता है, वहाँ परोक्ष की छाया है, वहाँ प्रियतम का निवास है। वास्तव में भारतीय सूफी मतवाद वेदांत की क्रियात्मक और भावात्मक व्याख्या मात्र है। वेदांत सारे दृश्यमान जगत को झूठा बताता है, परन्तु यह इसलिए कि वह दृश्यमान जड़ जगत के पीछे अदृश्य चित्सत्ता की झाँकी देखता है। इस जगत का जो सत्य है, उससे भी बड़ा सत्य उसने देखा है, इसी से इस जगत के छोटे सत्य को वह भुला देना चाहता है। परन्तु यह सब ज्ञान की बातें हैं। यह ज्ञान की बातें भी महत्त्व-पूर्ण हैं परन्तु सर्वसाधारण इनका सहारा लेकर बहुत दूर तक नहीं जा सकता। सूफी संसार को मिथ्या नहीं कहता। वह उस मिथ्या को महान् सत्य का प्रतिबिंब मान कर, उसे उस सत्य तक पहुँचने का साधन मान कर, इस जड़ पृथ्वी से बहुत ऊपर उठा देता है। सच तो यह है कि यहाँ जो भी है वह नगण्य नहीं है। सब उसी अनंत प्रेम और अनंत सौन्दर्य का विस्तार है। इस भावना से देखने पर यह नाम-रूपात्मक जगत

द्विविधा और घृणा का विषय नहीं रह जाता। इसमें संदेह नहीं कि मध्ययुग के जीवन के लिए सूफ़ियों का संदेश महान् था। उन्होंने जीवन की जड़ता को अपने सपनों से सजीव बनाया और उनकी 'प्रेम की पीर' ने अलौकिक माधुर्य की सृष्टि की। भारतीय साधना पर भी उनका व्यापक रूप से प्रभाव पड़ा। भक्तिकाव्य में जहाँ-जहाँ आत्मा की विह्वल और कातर पुकार है, वहाँ-वहाँ सूफ़ियों का ही हृदय दौड़ रहा है। परन्तु भक्त अपने इष्टदेव तक ही सीमित रहे। सूफ़ियों ने सारे संसार को, सारे दृश्यमान जगत को सारे स्त्री-पुरुषों को इष्टदेवमय बना दिया। यह उनका चमत्कार था।

मध्ययुग के लिए सूफ़ियों का एक और भी महत्त्व है। आज के युग में कदाचित् इसे आश्चर्य से सुना जाये, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि मध्ययुग का सूफ़ी अपने युग का सबसे प्रगतिशील, सबसे क्रांतिकारी व्यक्ति था। सूफ़ियों का धर्म हृदय-धर्म था। वह मानवता का सामान्य धर्म था। फलतः सूफ़ियों ने जाति-देश-वर्ग की चेतना को ललकारा और सार्वभौमिक प्रेमभाव की आवाज़ ऊँची उठाई। उनकी भूमि पर पहुँचते ही सब भेदों का नाश हो जाता था। कबीर ने कहा :

वेद कितेब इफतरा भाई दिल का फिकरु न जाइ।
टुक दमु करारी जउ करहु हाजिर हजूर खुदाइ॥
बंदे खोज दिल हर रोज ना फिरु परेसानी माहि।
इह जु दुनीआ सिहरु मेला दसतगीरी नाहि॥

दरोग पड़ि पड़ि खुसी होइ बेखबर बादु बकाहि ।
हकु सचु खालकु खलक मिआने सिआम मूरति नाहि ॥

और भी स्पष्ट कहा :

अवलि अलह नूरु उपाइआ कुदरति के सभ बंदे ।
एक नूर ते सभु जगु उपजिआ कउन भले को मंदे ॥
लोगा भरमि न भूलहु भाई ।
खालिकु खलक खलक महि खालकु पूरि रहिओ सब ठांई ॥
माटी एक अनेक भाँति करि साजी साजन हारै ।
ना कछु पोच माटी के भांडे ना कछु पोच कुँभारै ॥
सभ महि सचा एको सोई तिसका कीआ सभ कछु होई ।
हुकमु पछानै सु एको जानै बंदा कहीऐ सोई ॥

यह विचारधारा सचमुच क्रांतिकारी विचारधारा थी, विशेषतय: उस युग में जहाँ साम्राज्य तक धर्म से संचालित होते थे। सूफ़ियों ने पंडित-मुल्ला-काज़ी के धर्म से ऊपर एक व्यापक सार्वभौमिक, सार्वदेशिक धर्म की योजना की। उन्होंने रूढ़ियों पर प्रचंड आघात किये। हिंदू बैकुंठ को सत्य मान कर जीवन भर गोरखधंधे में फँसा रहता है। कबीर बोले—

सभु कोई चलन कहत है उहां।
ना जानउ बैकुठु है कहां ॥
आप आपका मरमु न जानां ।
बातन ही बैकुंठु बखानां ॥

मुसलमान मस्जिद को खुदा का घर समझे बैठा है। कबीर ने व्यंग किया—

अलहु एकु मसीति बसतु है अवरू मुलखु किसु केरा ?

मध्ययुग के वातावरण में यह कहना कितने साहस का काम था :

उलटि जाति कुल दोऊ बिसारी।
सुंन सहज महि बुनत हमारी ॥
हमर झगरा रहा न कोऊ।
पंडित मुलां छाड़े दोऊ ॥
बुनि बुनि आप आंपु पहिरावउ।
जह नहीं आपु तहां होइ गावउ ॥
पंडित मुलां जो लिखि दीआ।
छाडि चले हम कछू न लीआ ॥

कबीर ने ही यह नहीं कहा, मध्ययुग के सारे सूफ़ी साधकों ने ऐसा कहा। उन्होंने पत्तों को छोड़ कर मूल को पकड़ा। वह युग की जाग्रत शक्ति के प्रतीक बन गये। संसार के सारे नाते-रिश्ते छोड़ कर, भेद-प्रभेद से मुक्त, केवल-मात्र प्रेम, केवल-मात्र भगवद्भक्ति के सहारे उन्होंने निःसंवल, निःश्रेयस हो आगे बढ़ना ही एक-मात्र सत्य माना।

हिंदी सूफी काव्य की बहुत-सी कड़ियाँ अभी ढूँढ़ी नहीं जा सकी हैं। संत-विचारधारा को ही लीजिये। इस विचारधारा पर सूफ़ी मत का बड़ा गहरा प्रभाव है, परन्तु समालोचक इसे मानने के लिए तैयार नहीं। वे कबीर को रामानंद से संबंधित

करेंगे, शेख़ तक़ी से नहीं। कबीर संत हैं, सूफ़ी हों या नहीं हों। बुल्लेशाह और यारी जैसे सूफ़ियों को संत कह कर उन्हें आर्य-विचारावली के पास रखने का प्रयत्न बराबर होता रहा है। हिंदू मस्तिष्क सूफ़ियों की इस्लामी साधना और विचारधारा के प्रति बहुत अधिक सहिष्णु नहीं हो सका है। इसी का फल है कि मध्ययुग की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में सूफ़ियों की महत्ता को हम देख भी नहीं सके हैं। अवध के सूफ़ी कवियों के अत्यंत प्राणवान साहित्य को 'प्रेमाख्यानक कथाकाव्य' या प्रेमाश्रयी निर्गुण धारा की रचनाएँ कह कर हम किसी बड़े सत्य का प्रकाशन नहीं करते। संतों की साधना और विचारधारा का मर्मस्थल 'प्रेम' है। यह प्रेम सूफ़ियों के इश्क' से भिन्न नहीं है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सांस्कृतिक आदान-प्रदान का ही समर्थन करती है, परन्तु विद्वान और आलोचक साहित्य के वर्ग बना कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते है। इसमें संदेह नहीं कि फ़रीद शकरगंज की रचनाओं से लेकर कबीर-जायसी-यारी-बुल्ला की रचनाओं तक एक ही सूत्र दौड़ता हुआ दिखलाई देता है। उसे वैष्णव प्रभाव कह कर दृष्टिपथ से हटा देना असंभव है। उसकी व्याख्या तो सूफ़ी मतवाद और सूफ़ी साधना के माध्यम से ही हो सकती है।

वैसे हिंदी सूफ़ी काव्य फ़रीद शकरगंज (मृ० १२५० ई०) और बन्दानवाज़ गैसूदराज़ (मृ०१४२१ ई०) से आरंभ होता है, परंतु कबीर (१३९९ ई०–१५१८ ई०) में हम निश्चित

रूप से इस प्रकार का साहित्य पाते हैं। कबीर कदाचित् किसी समय शेख़तक़ी के शिष्य थे, परन्तु बाद में उन्होंने अपना स्वतन्त्र मतवाद स्थिर किया। जान पड़ता है, पूर्वी प्रदेश में सूफ़ियों ने बौद्ध भिक्षुओं का स्थान ग्रहण कर लिया था और वे जनता को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हुए। खड़ी बोली में सूफ़ी काव्य लिखने वालों में प्रमुख हैं मीरांनजी शाह शम्सुल उश्शाक (मृ० १४८८ ई०) और उनके लड़के बुरहानुद्दीन ख़ानम (मृ० १५७६ ई०), शाह क़ुलीकुतब और शाही अली मुहम्मद एवं काज़ी महमूद बहरी (मृ० १७१८ ई०)। ये सब दक्षिण के 'दकनी'-कवि हैं। उत्तर के उर्दू कवियों ने सूफ़ी विचारावली को काव्य का रूप तो दिया, परंतु उन्होंने उसमें अपनी धार्मिक अनुभूति नहीं भर पाई। वे सब कवि हैं, धर्म-साधक नहीं।

जायसी ने पद्मावत के अंत में अपने ग्रंथ से पहले की सूफ़ी हिंदी रचनाओं की एक सूची दी है जो इस प्रकार है :

विक्रम धँसा प्रेम के धारा। रूपनावति लगि गयो पतारा॥
सिरी भोज खँडरावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुवँर कंचनपुर गैऊ। मिरगावति तजि जोगी भैऊ॥
साधा कुवँर मनोहर जोगू। मधुमालति कहँ कीन्ह वियोगू॥

इस परंपरा से हमें क्रमशः सपनावती, खंडरावती, मिरगावती (मृगावती) और मधुमालती नाम मिलते हैं। सपनावती और

खँडरावती की कोई प्रति अभी प्राप्त नहीं हुई है। मृगावती की रचना-तिथि १५०१ ई० है। इसमें चंद्रनगर के राजा गणपति देव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती की प्रेमकथा का वर्णन है। क़ुतबन चिश्ती वंश के शेख़ बुरहान (बुरहानुद्दीन ग़रीब, मृ० १३३७) का शिष्य और जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह (मृ० १४६८) का आश्रित था। ग्रंथ अवधी भाषा में दोहा-चौपाइयों में है और उसमें हम सूफ़ी सिद्धान्तों और कथा का वही गठबंधन पाते हैं जो जायसी और अन्य सूफ़ी कवियों ने बाद को ग्रहण किया। कदाचित् इस परंपरा की सबसे पहली रचना मुल्ला दाऊद की 'नूरक और चंदा की प्रेम-कथा' जिसका रचनाकाल १३१८ ई० है, परंतु इस रचना का केवल उल्लेखमात्र मिलता है। 'मधुमालती' के लेखक मंझन के काल के संबंध में कुछ पता नहीं लगा, परन्तु इस ग्रंथ की १०६६ हिजरी (१६८३ ई०) की एक प्रतिलिपि मिली है। इसके बाद 'पद्मावत' आता है। 'पद्मावत' के लेखक प्रसिद्ध मलिक मुहम्मद जायसी है और इस ग्रथ का रचनाकाल ६४७ हिजरी (१५६१ ई०) है। पद्मावत के बाद क्रमशः इंद्रावती (नूर मुहम्मद, १७७१) 'चित्रावली (उसमान, १६१३ ई०), माधवानल कामकन्दला (आलम, १६०५ ई०) और यूसुफ़ ज़ुलेखा (निसार, १८१६ ई०) आते हैं। इन सूफ़ी कवियों ने प्रेम और विरह का बड़ा सुन्दर चित्रण उपस्थित किया है। उनकी प्रेम की परिभाषा बड़ी ऊँची है :

अलष प्रेम कारन जग कीन्हा।
धन जो सीस प्रेम महँ दीन्हा॥
जाना जेहिक प्रेम महँ हीया।
मरै न कबहूँ सो मरजीया॥
प्रेम-खेत है यह दुनियाई।
प्रेमी पुरुष करत बोवाई॥
जीवन जाग प्रेम को कहई।
सोवन मीचु वो प्रेमी कहई॥
आग तपन जल चाल समूझो।
पुनि टिकाउ माँटी कहँ बूझो॥
हौ प्रेमी है प्रेम को, चंचलताइ काय।
जा मन जामा प्रेमरस, भा दोउ जग को राय॥

(नूरमुहम्मद)

परन्तु उनका प्रेम लौकिक नहीं है, वह ईश्वरोन्मुख है। उन्होंने कथाओं का आश्रय लेकर प्रतीक-रूप में उस प्रेम को प्रगट करने की चेष्टा की है और वे सफल भी हुए हैं। उस प्रेम के लिए गुरु-भक्ति के द्वारा उत्पन्न पूर्वराग, साधना की कठिनाइयाँ (प्रलोभन और कष्ट), आध्यात्मिक विरह (वियोग), आध्यत्मिक प्राप्ति (संयोग)—इस क्रम से कथा-सूत्र बाँधा गया है। कथाएँ अधिकांश हिंदू जीवन से ली गई हैं। जायसी के पद्मावत के पूर्वार्द्ध को छोड़ कर शेष कथाएँ अनैतिहासिक हैं। या तो वे कवि के मस्तिष्क की उपज हैं या

वे जन-समाज में प्रचलित लोक-कथाओं का परिमार्जित एवं परिवर्द्धित रूप हैं।

परन्तु प्रेम का जो रूप इन कथाओं में है वह भारतीय काव्य-परम्परा से कुछ दूर पड़ता है। पहली बात है निराधार पूर्वराग। गुणश्रवण-द्वारा पूर्वराग की उत्पत्ति हमारे शास्त्रकार मानते हैं परन्तु नायिका के सौन्दर्य की बात सुनकर नायक को मूर्च्छा आये, यह कल्पना की दूर की कौड़ी है। सूफ़ियों और सूफ़ी कवियों ने अध्यात्म को सामने रखा है, अतः वे यहाँ तक बढ़ गये। दूसरी बात है पुरुष का प्रयत्नशील होना। भारतीय काव्यपरम्परा में नायिका नायक से मिलने के लिए प्रयत्नशील होती है, उसमें उसके अभिसार की कठिनाइयों की चर्चा है। प्रेमोत्कर्ष के लिए ये कठिनाइयाँ बढ़ भी सकती हैं, परन्तु सूफ़ी-कवियों ने नायक को प्रेम-परीक्षा देते हुए चित्रित किया है। इसका कारण यह है कि उनके काव्य में नायिका चिन्मयसत्ता के प्रतीक के रूप में है। जीव-रूप नामक उसे पाने के लिए कटिबद्ध है। इस नये ढंग से वे भारतीय परम्परा से तो हट गये, परन्तु वे चित्सत्ता के सौन्दर्य की व्यंजना अलौकिक नारी-रूप की सृष्टि-द्वारा सफलता से कर सके हैं।

इन सूफ़ी प्रबन्ध-रचयिताओं में जायसी ही सबसे प्रधान हैं। जायसी के 'पद्मावत' की कथावस्तु ऐतिहासिक है परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि वह इन्होंने इतिहास के अध्ययन से प्राप्त की थी। वास्तव में उनके ग्रन्थ में कथा का लोक प्रसिद्धरूप अप-

नाया गया है जो अवध में प्रचलित था। यही कारण है कि उसमें ऐतिहासिक विरोध मिलते हैं। सच तो यह है कि अधिकांश सूफ़ी कवियों के कथानक लोककथा से लिये गये हैं या उन पर आश्रित हैं। जायसी का ग्रंथ तत्कालीन अवधी को हमारे सामने रखता है, अतः इस दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अनेक स्थानों पर शब्दों के प्रचलित बोलचाल के रूपों का प्रयोग किया है। संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण एवं काव्यशास्त्र का अधिक सहारा न लेने के कारण भाषा की स्वाभाविकता बनी रह सकी है।

जायसी के काव्य पर हठयोग[१२] और संतमत[13] का प्रभाव लक्षित है। हठयोग की लगभग पूरी पद्धति का विवेचन उनके ग्रन्थ में हो गया है। इससे स्पष्ट है कि जायसी के समय में उनके प्रदेश में हठयोग की धारा बलवती रूप में चल रही थी। जायसी में वेदांत के सिद्धांत भी मिलते हैं, विशेषकर अखरा-

---

१२. नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा। और तहँ फिरहिं पाँच कुटुवारा॥
दसवँ दुवार गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका॥

(हठयोग)

होइ अबरक ईंगुर भया, फेरि अगिनि महँ दीन
कायर पीतर होइ कनक, जो तुम चाहहु कीन

(रसायन)

13. ना—नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहे सों मैं हारा॥

वट में परन्तु जायसी की स्वाभाविक धार्मिक भूमि सूफ़ी प्रेम-मार्ग है। "सारी कथा के पीछे सूफ़ी सिद्धान्तों की रूपरेखा है पर जायसी इस आध्यात्मिक संकेत को पूर्ण रूप से निबाह नहीं सके हैं।"[१४] सच तो यह है कि कथाप्रसंग और आध्यात्मिक संकेत को एक साथ चलाना बड़ा कठिन होता है। जायसी ने कथा-प्रसंग के बीच-बीच में पाठक को बार-बार आध्यात्मिक पक्ष का ध्यान दिलाया है, एवं इसके अतिरिक्त अंत में संक्षेप में सारी कथा पर आध्यात्मिकता का आरोप कर देता है, परन्तु बहुधा वर्णनों के विस्तार में यह लक्ष्य आँख की ओट हो जाता है।

'पद्मावत' के साहित्य-पक्ष पर हिन्दू और मुसलमान दोनों साहित्यों का प्रभाव पड़ा है। हिन्दू साहित्यधारा के प्रभाव को परखने से पता चलता है कि पद्मावत को महाकाव्य के ढंग पर रखने का प्रयत्न किया गया है। द्वीपवर्णन, समुद्रवर्णन, विवाहवर्णन, युद्धवर्णन, भोजनवर्णन, गढ़वर्णन, षट्ऋतु और बारहमासा-वर्णन मिलते हैं जो इसी ओर इंगित करते हैं। इसके अतिरिक्त हीरामन तोता, नागमती एवं प्रेम-चित्रण में भी हिन्दू साहित्य-ग्रंथों के आदर्श एवं हिन्दू संस्कृति को अपनाया है। मुसलमान साहित्यधारा का प्रभाव 'पद्मावत' की मसनवी-शैली में मिलता है। मसनवी छंद की इकाई बैत है जिसमें दो

---

१४. 'आलोचनात्मक इतिहास'—डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० ३१२

चरण होते हैं। जायसी ने चौपाई की अर्द्धाली का इसी रूप में प्रयोग किया है। फ़ारसी काव्य में पाँच या सात पंक्तियों के बाद विराम देते हैं। जायसी के काव्य में हम सात अर्द्धालियों के बाद एक दोहा पाते हैं। मसनवियाँ भी प्रेम-कहानियाँ होती हैं। अधिकांश में सूफ़ी आध्यात्मिक प्रेमपक्ष की व्यंजना होती है। 'पद्मावत' में भी प्रारंभ उसी प्रकार से किया गया है जिस प्रकार का आरंभ मसनवियों में मिलता है : (१) ईश्वरस्तुति (२) मुहम्मद-स्तुति (३) सुलतान-स्तुति और (४) आत्मपरिचय। मसनवी वर्णनात्मक होती है, कहीं-कहीं वर्णन का विस्तार बहुत अधिक हो जाता है। यही बात 'पद्मावत' में है। 'पद्मावत' में प्रेम का प्रसंग भी फ़ारसी प्रेम-शैली पर है। पद्मावती के रूप-वर्णन से ही राजा मूर्च्छित हो जाता है।[१५] इसके अतिरिक्त विरह-वर्णन में भी फ़ारसी शैली के अनुसार प्रेम का काठिन्य दिखाने के लिये कवि औचित्य और स्वाभाविकता की सीमा को लांघ आया है।[१६]

---

१५. सुनतहि राजा गा मुरुझाई। जानौं लहरि सुरुज कै आई॥

(पृ० ५३)

१६. विरह के दग्ध कीन्ह तन भाठी। हाड़ जराइ कीन्ह जस काठी॥
नैन नीर सों पोता किया। तस मद चुवा बरा जस दिया।
विरह सरागन्हि भूँजै मांसू। गिरि गिरि परै रकत कै आँसू॥

(पद्मावत, पृ० ७०)

रूप-वर्णन में भी अतिशयोक्ति का प्रयोग स्वाभाविकता में बाधा डालता है।[१७]

'यूसुफ़-ज़ुलैखा' (१८१६ ई०) तक आते-आते सूफ़ी इंगित का लोप हो गया था और केवल कथा-मात्र कह डालने की प्रवृत्ति रह गई थी। वास्तव में यूसुफ़-ज़ुलैखा की कथा को हम सूफ़ी प्रेमकाव्य नहीं कह सकते। उसे एक सहृदय मुसलमान ने पुत्र-शोक हलका करने के लिये लिखा है। उसके मूल में न सूफ़ियों की रहस्यभावना है, न उसमें कोई प्रतीकार्थ है। संसार की अनश्वरता दिखाना ही कवि का ध्येय है। "यूसुफ़-ज़ुलैखा जैसे प्रेमियों की कथा ही रह गई।"—कवि इस विचार से अपनी दुखी आत्मा में संतोष भर रहा है। परन्तु यह स्पष्ट है कि लेखक सूफ़ी कथाकाव्यों से भलीभाँति परिचित था और ग्रंथ की भाषा-शैली और उसके मसनवी ढंग में कोई अंतर नहीं है। जिन सिद्धांतों का उसने उल्लेख किया है वे साधारण मुसलमानों में प्रचलित हैं और उन्हें सूफ़ियों का मत नहीं कहा

---

१७. बसा लंक बरनै जग झीनी।
तेहिते' अधिक लंक खीनी॥
परिहँस पियर भए तेहिं बसा।
किए डंक लोगन्ह कहँ डसा॥
कमल-नाल खंड दुइ भये।
दुइँ बिच लंक तार रहि गए॥

(पद्मावत, पृ० ५१)

जा सकता । इस थोड़े से साम्य के सिवा ग्रंथ में कुछ ऐसा नहीं है जो उसे सूफ़ी काव्य की कोटि दे। 'माधवानल-कामकन्दला' (१६०५ ई०) के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। उसमें तो कथा का विकास भी बहुत संक्षेप में होता है। प्रच्छन्न रूप से सभी प्रेम-काव्यों को सूफ़ी काव्य माना जा सकता है, परन्तु माधवानल-कामकन्दला में आध्यात्मिक रूपक रखने की बात कवि ने सोची भी नहीं है। बात यह है कि मध्य युग की एक मुख्य प्रवृत्ति कथा-प्रेम है। इन सूफ़ी कथा-काव्यों की सृष्टि इसी लोक-रुचि की पूर्ति करती है। कथाकार मुसलमान सहृदय कवि थे। उनमें जायसी की रचना खूब लोकप्रिय थी, अतः कवियों ने उसे ही आदर्श माना यद्यपि वे अपने काव्य में स्पष्टतयः आध्यात्मिक संदेश से काम नहीं लेते।

जो हो, हमें यह मानना पड़ेगा कि सूफ़ी मत ने भारतीय जनता को प्रभावित किया। नए मतावलंबी उसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए। उन्होंने लोक में प्रचलित, कभी कल्पना-प्रसूत रचनाओं के द्वारा अपने सिद्धांतों को प्रगट करने की मौलिकता दिखाई और ऐसे कवियों की एक छोटी-मोटी परंपरा कुछ दिन चली। मुसलमानों में सूफ़ी प्रेम-कथाएं इतनी प्रचलित हुईं कि उन्होंने उन्हें अपनी कथाओं के लिए आदर्श माना — भाषा, छंद, शैली और गठन की दृष्टि से — यद्यपि उनकी कथाएँ सूफ़ी काव्य के अन्तर्गत न आकर सामान्य आख्यानक काव्य के भीतर आती हैं।

सूफ़ी रहस्यवाद को जिन कवियों ने अपना आधार माना है उनमें जायसी सर्वश्रेष्ठ हैं। उन्होंने कथा का रूप विकृत नहीं किया है, लोक प्रचलित रूप ही दिया है। हाँ उस पर आध्यात्मिक अर्थ का आरोपण अवश्य किया है—

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा।
कहा कि हम किछु और न सूझा॥
तन चितउर, मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जो पंथ दिखावा।
बिना गुरू को निरगुन पावा॥
नागमती एहि दुनिया धंधा।
बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघवदूत सोई सैतानू।
माया अलाउदी सुलतानू॥
प्रेमकथा एहि भाँति विचारहु
बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥

इन कुछ पंक्तियों से जायसी के पद्मागत—गत अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार तन=चित्तौड़; मन=राजा; हिय=सिंहल द्वीप; बुद्धि=पद्मिनी; गुरु=तोता (हीरामन); नागमती=जग-ज्जाल; राघव चेतन=शैतान; माया=अलाउद्दीन। परंतु जायसी आदि सूफ़ी कथाकारों ने अपने सूफ़ी विचारों को मूल कथा के साथ-साथ ही प्रगट किया है। उन्होंने अंत में जो

अर्थ आरोपित किये हैं, वे अधिक स्पष्ट नहीं हैं। सूफ़ी कवियों ने विरह को उसी प्रकार प्रधानता दी है जिस प्रकार संत कवियों ने। जब कवि लौकिक विरह के सम्बन्ध में लिखने लगता है तो उसके सामने आध्यात्मिक विरह ही होता है—

विरह अवधि अवगाह अपारा।
कोटि माहि एक परै त पारा॥
विरह कि जगत अबिरथा जाही ?
विरह रूप यह सृष्टि सबाई॥
नयन विरह-अंजन जिन सारा।
विरह रूप दर्पन संसारा॥
कोटि माहिं बिरला जग कोई;
जाहि शरीर विरह दुख होई॥
रतन कि सागर सागरहिं ? गजमोती गज कोय !
चंदन कि बन-बन उपजइ ? विरह कि तन तन होय ?

(मंझन)

वे नारी-सौन्दर्य में परमात्म-शक्ति की स्थापना करते हैं—वास्तव में सूफ़ी संतों के अनुसार सांसारिक विभूतियों का आधार परमात्म सत्ता ही है। इस संसार में प्रत्येक सुन्दर वस्तु के पीछे चाहे वह स्त्री हो या पुरुष या प्रकृति या कोई कार्य-व्यापार-विशेष ईश्वर है या उसकी प्रेरणा है। इसी कारण सूफ़ी संसार की असारता की घोषणा करते हुए भी उसकी ओर उस घृणा की दृष्टि से नहीं देखते जिस घृणा की दृष्टि

से उसे सन्त देखते हैं। उनके लिए नारी-सौन्दर्य भी सत्य है, प्रकृति भी सत्य है। दोनों अध्यात्म की ओर इंगित करते हैं, अतः किसी विशेष अवस्था में उपादेय अथवा संग्रहणीय भी हो सकते हैं। मंझन कहते हैं—

देखत ही पहचानेउँ तोही। एही रूप जेहि छंदूरयो मोही॥
एही रूप बुत अहै छिपाना। एहो रूप रब सृष्टि समाना॥
एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ॥
एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा॥

सूफ़ी कवियों ने जिन कथाओं का आश्रय लिया, वे कथाएँ पूर्णतयः भारतीय हैं। उनके नायक-नायिका ही भारतीय नहीं हैं उनके जीवन की अनेक परिस्थितियाँ भी भारतीय हैं। उनके कार्यों का आधार भारतीय (हिंदू) विश्वास हैं। यदि कथा पर से विदेशी धार्मिक सिद्धांत (सूफ़ीमत) का आवरण हटा दिया जाय, उसे केवल प्रेम-कथा-काव्य के रूप में देखा जाय तो हिंदू जीवन की इतनी अधिक परिस्थितियाँ तुलसी को छोड़ कर और कहीं नहीं मिलेंगी। जायसी को ही लीजिये। नैहर में लड़की की स्वतंत्र चहल-पहल, ससुराल का चिंतन, पुत्री की विदा के समय की परिस्थिति, प्रेम और वियोग में भारतीय ललना की मनोवृत्ति, आस्तिक विश्वास, बलिदान, युद्धों में वीरों का उत्साह—अनेक प्रसंग ऐसे हैं जो पूर्णतयः एतद्देशीय हैं। उन सब के लिए सूफ़ी कवि हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। हिन्दू संस्कृति का विजातीय (विधर्मी अधिक ठीक होगा) लेखनी

से इतने सुन्दर रूप से चित्रित होना तो आश्चर्य की बात है ही, परंतु इतनी सहृदयता पा जाना तो हमें और भी चकित कर देता है। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि सूफ़ी काव्य उन हिन्दुओं द्वारा रचा गया है जो मुसलमान धर्म में अभी ही आये थे। दूसरे, सूफ़ी धर्म अन्य धर्मों के प्रति अत्यंत सहिष्णु है। तीसरे, जिन कथाओं से आध्यात्मिक अर्थ सिद्ध किये गये वे जिस रूप में जनता में प्रचलित थीं, उसे तोड़ना-मरोड़ना अनुपादेय होता। वास्तव में सूफ़ी काव्य के पीछे न धर्मप्रचार की भावना है, न काव्य-प्रतिभा-प्रदर्शन की। कवियों ने प्रचलित मसनवी-शैली पर आत्मानुभूति व्यक्त करने की चेष्टा की है। कथा के विस्तार और उसके सौन्दर्य ने उनकी अनुभूति को ढांप दिया है परन्तु प्रेम-विरह के अवसरों पर वह अनावृत्त भी हो गई है।

सूफ़ी ग्रंथों की शैली मसनवी ग्रंथों पर निर्धारित है, महाकाव्य शैली पर नहीं। सारी कथा को खंड (सर्ग)-रहित एक अविरत प्रवाह के रूप में कहा गया है। वह अखंडित रूप से चलती रहती है। परंतु इस मसनवी-काव्य का वाह्य-रूप विदेशी होते हुए भी अनेक बातों में प्राचीन काव्य-परंपरा से मेल खाता है। प्रकृति-वर्णन हिन्दू शैली पर है। परिगणन-शैली उस समय के काव्य में लोकप्रिय हो रही थी—इसी तरह षट्-ऋतु और बारहमासा जिन्हें प्रकृति के उद्दीपन के रूप में स्वीकार किया गया है। परन्तु स्वयं सफ़ियों की भावना ने अनेक

स्थानों पर प्रकृति को रँग दिया है। सूफ़ियों के अनुसार प्रकृति सत्य है, अव्यक्त सत्ता का व्यक्त रूप है। इसी कारण सूफ़ी उसके रूप पर मुग्ध हैं। उसके प्रति प्रेम को वह उसके पार की सत्ता तक पहुँचने का साधन समझते हैं। दूसरी मौलिकता यह है कि उनके लिए प्रकृति प्रेममयी है, प्रेमी-हृदय के प्रति संवेदनशीला है, उसी के रंग में रँग जाती है। इन दो दृष्टिकोणों के साथ हम सूफ़ी काव्य की रोमांस भावना को भी प्रकृति को रंजित करता हुए देखते हैं। जहाँ परिगणन-शैली का प्रकृति-चित्रण मन को दबा डालता है, वहाँ ऐसे भी मौलिक स्थल हैं जो हृदय को अत्यंत मार्मिकता से स्पर्श करते हैं और आध्यात्मिक अर्थों की तह तक पहुँचने के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफ़ी काव्य का प्रकृत-रूप भारतीय है। उसकी प्रेम-पद्धति हमारे काव्य-शास्त्रों से कुछ हट कर अवश्य चली है परन्तु उसका कारण केवल यही है कि उस पर आध्यात्मिक अर्थ का आरोप है। प्रेमी की कठिनाइयों के जैसे अतिरंजित चित्र वहाँ हैं, वे हमारी काव्य-परंपरा की संपत्ति नहीं। फ़ारसी के सूफ़ी काव्य में प्रेमोत्कर्ष और प्रेम-पंथ की कठिनाइयाँ दिखाने के लिए इस प्रकार के चित्र मिलते हैं। सूफ़ी-काव्य इन्हीं आदर्शों से थोड़ा-बहुत प्रभावित है। वास्तव में सूफ़ी काव्य में भारतीय और विदेशी साधनाओं एवं काव्य-परम्पराओं का आश्चर्यजनक मिश्रण है। परवर्ती

सूफ़ी कवियों में महत्त्वपूर्ण हैं यारी साहब (१६६८ ई०—१७२३ ई०), केशवदास और बुल्ला साहब (१७३० ई० के लगभग), बुल्लेशाह (१८ वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में), दरिया साहब (विहार वाले) (मारवाड़ वाले) (१८ वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में), गुलाल साहब और भीखा साहब (१८ वीं शताब्दी के अंतिम चरण में) नूर मुहम्मद (इन्द्रावती, १७४३ ई०) और मोतीराम (ज० १६८३, ब्रजभाषा में 'माधवानल')

[३]

मध्ययुग की भारतीय साधना के इतिहास में सूफ़ी साधकों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें संदेह नहीं कि इन मुसलमान सूफ़ी साधकों के आने से पहले भी हमारी अध्यात्म-साधना बहुत कुछ विकसित हो चुकी थी। उपनिषदों के समय से लेकर १००० ई० तक इस साधना के विकास का विस्तृत इतिहास हमारे पास है। परन्तु पिछली कुछ शताब्दियों में देश छोटी-छोटी युद्ध-व्यवसायी शक्तियों में बँट गया था और साधना की वह अविच्छिन्न धारा मत-मतांतरों के जड़ वाद-विवादों के मरुस्थल में खो-सी गई थी। इस्लाम के लौहस्पर्श ने भारतवर्ष की मूल साधना की दीपशिखा फिर से प्रज्ज्वलित की और इस्लामी साधकों ने अपनी साधना की ज्योति भी उन दीपों में जोड़ दी। भारत में इस्लाम का पदार्पण और उसके साम्राज्य का विस्तार युद्धों और रक्तपात से भरा हुआ है। दिल्ली और बाद

में आगरे की गद्दी ही जैसे महत्त्वपूर्ण हो गई हो। मुसलमान शासक ईरानी संस्कृति का दल-बल लेकर इस देश में आये और उन्होंने उच्च वर्णों के सहारे उसे भारत की छाती पर प्रतिष्ठित करना चाहा। किन्हीं अंशों में वे सफल भी हुए। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि भारत की सांस्कृतिक धारा फिर भी अबाध गति से बहती रही। उसकी संत-साधना में फिर तेज आ गया। उसने नये-नये दिल्ली सम्राटों, उनके वज़ीरों और मुशीरों की ओर नहीं ताका। परन्तु जो इस्लामी साधक इस देश में आ गये थे उनका उसने हृदय से स्वागत किया। ये साधक प्रेम के प्रचारक थे और प्रेम भेद-भाव नहीं मानता। प्रेम की भूमि पर हिंदू-मुसलमान समान थे। संत-साधकों ने इस बात को समझा और सूफ़ी साधना की अनेक विशेषताएँ उन्होंने ग्रहण कर लीं। तलवार देश का हृदय नहीं जीत सकी थी। उसे तो सूफ़ी साधकों के प्रेम और तपस्या ने ही जीता।

सूफ़ी साधना के रहस्य को समझने के लिए हुजवीरी (मृ० १०७२ ई०) की प्रसिद्ध पुस्तक 'कश्फ़लमहजूब' महत्त्वपूर्ण है। पहले वह अपने अहम् का नाश करे और सब प्राणियों की सेवा करे। फिर धीरे-धीरे अपने को अल्लाह में डुबो दे। अंत में उसे अपनी प्रकृति का परिचय प्राप्त होगा। रहस्यानुभव के लिए सूफ़ी 'फ़ना' शब्द प्रयोग में लाते हैं। 'फ़ना' का अर्थ है अहंभाव का पूर्णतयः विनाश। संत-परिभाषा में इसे जीवन्मृतावस्था कहा गया है। हुजवीरी का कहना है कि साधक सब

कुछ छोड़ दे, किसी भी प्रकार की सम्पत्ति से वह संबंध नहीं रखे और प्राणी-मात्र में एक ही अविच्छिन्न सत्ता का अनुभव करे। एक बार ऐसा अनुभव होने पर साधक की निम्न प्रवृत्तियों का नाश हो जाता है। वह परोक्ष की बीन बन जाता है। दैवी प्रवाह उसके भीतर बहने लगता है। यह 'फ़ना' की स्थिति है। इस स्थिति में पहुँच कर साधक के व्यक्तित्व का लोप हो जाता है। हाल 'फ़ना' की निचली सीढ़ी है। 'हाल' की दशा में साधक अनेक प्रकार से अपने को भूल कर भावलोक में उठना चाहता है। अंतर्दर्शन, ध्यान, प्राणायाम, नामस्मरण जैसी अनेक साधनाएँ सूफ़ी मत में महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं परन्तु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है अल्लाह की अनुकंपा। उसके बिना सिद्धि असंभव है।

ऊपर हमने सूफ़ी साधना की जो रूपरेखा दी है उससे यह स्पष्ट है कि यह साधना भारतीय औपनैषदिक साधना और भक्तिवाद के अनेक तत्त्वों का समाहार कर लेती है। दोनों में अनेक समानताएँ हैं। बाद में भारतीय साधकों के प्रभाव के कारण इस विदेशी साधना-धारा ने अन्य अनेक भारतीय तत्त्व ग्रहण किये, परन्तु स्वयं भारतीय साधना को भी उसने प्रभावित किया। वस्तुतः मध्ययुग के हिंदू-मुसलमान साधकों ने पारस्परिक आदान-प्रदान के द्वारा एक सामान्य साधना-मार्ग विकसित कर लिया था। इस साधनामार्ग में साधक के लिये प्रेम

ही एकमात्र इष्ट रह गया था चाहे उसे भक्ति कहे, या लौ या इश्क़। सूफ़ी साधक इसी प्रेम के मतवाले थे।

इन सूफ़ी और संत साधकों की साधना ही मध्ययुग का सच्चा इतिहास है। इतिहास के ग्रंथों में मध्ययुग से संबंध रखनेवाले पृष्ठ हमारे शौर्य और हमारी राष्ट्रीयता के लिए लांछा-स्वरूप हैं, परन्तु इस इतिहास में भारत का परंपरागत गौरव पूर्ण रूप से सुरक्षित है। इसमें संदेह नहीं कि युद्ध के क्षेत्र में देश विदेशियों से हार गया और अफ़ग़ानों, पठानों और मुग़लों के दल-बादल टिड्डी दल की भाँति इस देश पर छा गये। परन्तु प्रेम के क्षेत्र में, साधना और तपस्या के क्षेत्र में, हिंदू और मुसलमान साधक एक ही ज्योति की छाया के नीचे खड़े हुए और उन्होंने तलवार की कुंठा को प्रेम के आँसुओं से धो दिया। सम्राटों के महान् ऐश्वर्य से जनता का केवल शोषण का संबंध रहा है, परंतु इन साधकों की साधना में जनता के हृदय के प्रेम-भाव के सारे तार बजे हैं। मध्ययुग की यह साधना भारत के हृदय की अन्यतम साधना है। उपनिषदों के हिम-शिखरों से सहस्रों वर्ष पहले आर्यसभ्यता के आदिम प्रभात में रहस्यचिंतन और अंतस्साधना का जो स्रोत बह निकला, वह इस राजनैतिक अराजकता के युग में एक बार फिर तल पर उमड़ आया। परंतु यह मध्ययुग की साधना की विशेषता है कि उसने न किसी धर्मग्रंथ को अपनाया न किसी दर्शन-शास्त्र को। उसने केवल साधक को जाना-माना। यह साधना अकस्मात्

जनता के हृदय से फूट पड़ी थी और उसने शास्त्रमत एवं पांडित्य का सहारा न लेकर सहज ज्ञान और सहज साधना को प्रश्रय दिया। उपनिषद् कहता है—'न मेधाय न बहुना श्रुतेन'। मध्य-युग के साधकों को भी विश्वास है कि सत्य भीतर से फूटता है। तर्क-वितर्क और पांडित्य के भीतर से सत्य को ढूँढ़ना व्यर्थ है। जैसे एक दीपक दूसरे दीपक से जलता है, वैसे ही यह ज्ञान, यह साधना का रहस्य साधकों से ही प्राप्त करना होता है। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी साहित्य का यह अध्याय भारतीय साधना के इतिहास का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अध्याय है। सैकड़ों संतों और सूफियों की वाणी और उनकी जीवनगाथाओं में उस युग की सबसे बलवती संत-साधना आज हमारी श्रेष्ठतम राष्ट्रीय निधि बन गई है। उसे केवल साहित्य की तुला पर नहीं तौला जा सकेगा।

६

प्रेम और विलास की कविता

[१]

हिंदी की प्रेम और विलास की कविता को पारिभाषिक ढंग से रीतिकाव्य कहा जाता है। रीतिकाव्य के जन्म और अभ्युदय का समय १५५० ई० से १८५० ई० तक है। रीतिग्रंथों का चलन कृपाराम (आ० का० १५४१) से बहुत पहले हो चुका होगा, परंतु चूंकि अन्य कवियों के रीतिग्रंथ अभी उपलब्ध नहीं हो सके हैं, इसलिए इस परंपरा के आदि में हम कृपाराम का ही नाम लेते हैं। सत्रहवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते रीतिकाव्य की धारा साहित्य की सबसे प्रधान धारा बन गई। केशवदास (१५५५–१६१७), अब्दुलरहीम खानखाना (१५५३—१६२६), चिंतामणि त्रिपाठी (१६०६—१६४३), विहारीलाल (१६०३—१६६३) और मतिराम (जन्म १६१७ ई० के लगभग रीतिकाव्य के स्वर्णकाल के कवि हैं। १७०० ई० के बाद रीतिकाव्य की धारा में पहले-जैसा उत्साह नहीं

रहा। कविता परंपरा-पालन मात्र रह गई। १७०० ई० से १८५० ई० तक यह काव्यधारा बराबर पतनोन्मुख होती रही। इसके बाद हमें भारतेन्दु हरिश्चंद (१८५०—८५) के दर्शन होते हैं जिन्होंने एक बार फिर अनुभूतिपूर्ण कवित्त-सवैये लिखकर और ब्रजभाषा काव्य को सामयिक जीवन का उच्छ्‌-वास देकर इस काव्यधारा को प्रगति देनी चाही। परंतु वे असफल रहे। उनकी मृत्यु (१८८५ ई०) के १५ वर्ष बाद ही काव्यक्षेत्र में नई भाषा (खड़ी बोली) के प्रयोग की घोषणा हो गई। वैसे रीतिपरंपरा के अंतिम कवि रत्नाकर हैं जिनकी मृत्यु १९३६ ई० में हुई, परंतु धारा के रूप में रीतिकाव्य उन्नीसवीं शताब्दी के अंत के साथ ही समाप्त हो जाता है।

इस पतनोन्मुख काव्यधारा में सैकड़ों कवियों ने योग दिया, परंतु इनमें प्रमुख केवल कुछ ही हैं जैसे देव (१६७३—१७२३ के बाद तक), भिखारीदास (१७२९—१७५०), रसलीन (सैयद गुलामनबी, आ० १७३७), आलम और शेख (आ० १६९३ – १७०३), घनानंद (१६९८—१७३९), ठाकुर बुन्देल-खंडी (ज० १७६६) और बोधा (बुद्धिसेन, ज० १७४३)। इनमें शास्त्रज्ञ के रूप में भिखारीदास ही प्रसिद्ध हैं। अनुभूति-पूर्ण कवित्त-सवैये लिखने में आलम और शेख, घनानंद, ठाकुर बुन्देलखंडी और बोधा का बड़ा नाम है। वस्तुतः कवियों का यह नितांत नया वर्ग रीतिकाव्य की परंपराबद्धता, रूढ़ि-

प्रियता और भाषा-शैलीसंबंधी जड़ता से इतना ऊब चला था कि उसने शास्त्र की ओर ज़रा भी ध्यान न देकर अपनी भावना का चित्रण किया। विरह-भाव की बड़ी मार्मिक व्यंजना घनानंद और बोधा के कवित्त-सवैयों में मिलती है। रीतिकाव्य की मरुभूमि में ये रचनाएँ हरे निकुंजों की भाँति मनोरम लगती हैं, परंतु इनकी संख्या अधिक नहीं है और ऐसा लगता है कि युग के वातावरण ने इस सहज और अनुभूतिपरक काव्यधारा का कंठावरोध कर दिया है। रीतिकाव्य के इन अंतिम कवियों को ही लक्ष्य कर सुमित्रानंदन पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में लिखा है—'ये पुष्पधनुर्धर कवि रति के महाभारत में विजयी हुए। समस्त देश की वासना के वीभत्स समुद्र को मथकर इन्होंने कामदेव को नव जन्मदान दे दिया, वह अब सहज ही भस्म हो सकता है। इन वीरों ने ऐसा सम्मोहनास्त्र देश के आकाश में छोड़ा कि सारा संसार कामनीमय हो गया। 'एक के भीतर बीस' डिब्बे वाले खिलौने की तरह, एक ही के अन्दर सहस्र नायिकाओं के स्वरूप दिखला गये। सारे देश को, जादू के बल से, कामना के चमकीले पारे से मढ़े हुए कच्चे काँच के टुकड़ों का एक ऐसा विचित्र अजायबघर, 'सब जग जीतन को', नाम का ऐसा 'काव्यव्यूह शीशमहल' बना दिया कि आर्यनारी की एकनिष्ठ, निश्चल, पवित्र प्रतिमा वासनाओं के असंख्य रंग-बिरंगी बिंबों में बदल गई।'—जिनकी भूल-भुलैयों में फँस कर, देश के लिए अपनी सरल

सुशील सती को पहचानना कठिन हो गया! × × × भाव और भाषा का ऐसा शुक-प्रयोग, राग और छंदों की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रांत उपलवृष्टि क्या संसार के किसी और काव्य में मिल सकती है? घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त संगीत तुक की एक नहर में बहा दिया और बेचारे औपकायन की बेटी उपमा को तो बाँध ही दिया। –'आँख की उपमा?' खंजन, मृग कंज, मीन इत्यादि। दाँतों की?—किसलय, प्रवाल, लाल, लाख इत्यादि और इन धुरन्धर साहित्याचार्यों की? शुक, दादुर, ग्रामोफोन इत्यादि। ब्रजभाषा के उन्नत भाल में इन कविवरों की लालसा के साँप, इनकी उपमाओं के शापभ्रष्ट नहुष, उसके कोमल पक्ष में इनके अत्याचार के नख-क्षत, उसके सुकुमार अंगों में इसकी वासना की विरहाग्नि का असह्य ताप सदा के बना ही रहेगा? उसकी उदार छाती पर इन्होंने पहाड़ रख दिया।' हो सकता है, परवर्ती युग के नये कवि की यह आलोचना कुछ तीव्र हो गई हो, उसका व्यंग कुछ आवश्यकता से अधिक प्रचुर बन पड़ा हो, परंतु इसमें संदेह नहीं कि उत्तर रीतिकाव्य हिंदीकाव्य की एक बहुत बड़ी लांछा है। उसमें परंपरा के जूते में काव्य को इस तरह बैठाया गया है कि वाणी की अंतरात्मा रो उठी है और कवि का सारा चमत्कार भी हमें उसके क्रन्दन से विरत नहीं कर सकता।

[२]

रीतिकाव्य की मूल भावना शृंगार है। पुरुष-स्त्री के प्राकृत प्रेम का वर्णन, उनके यौवन-विकास, केलि-विलास, हास-परिहास, संयोग-वियोग इस काव्य के विषय हैं। हम देखते हैं कि शृंगार की भावना ने हिंदी के प्रारंभिक काल में ही हमारे काव्यसाहित्य में प्रवेश कर लिया था। इस भावना को हम राजपूत-चारणों की वीर कथाओं के केन्द्र में उपस्थित पाते हैं। 'रासो' के इतने सभी युद्धों का कारण स्त्री का सौन्दर्य है। आल्हा-ऊदल की लड़ाइयों में वीररस पूर्वराग से परिचालित है और युद्ध की समाप्ति परिणय-ग्रंथि में होती है। नरपति नल्ह का वीसलदेव रासो तो नाम-मात्र का वीरकाव्य है। राजमति के वियोग-चित्रण के सिवा कवि का क्या उद्देश्य हो सकता था? उसे तो वीर कथाकाव्य मानने की परिपाटी भर पड़ गई है जो इतिहासों में चली आती है। इसी प्रकार हम सिद्ध कवियों की साधनाओं के पीछे रति-भाव का विकृत रूप पाते हैं। इंद्रियजन्य विकारों को साधना का मार्ग बनाया जा रहा है। विद्यापति के कृष्णकाव्य से यदि राधा-कृष्ण के नाम हटा लिये जायें तो कुछ थोड़े बहुत पदों को छोड़ कर उनके सारे साहित्य से अध्यात्म का आवरण उतर जाता है। यही बात सूफ़ी कवियों के संबंध में पूर्णतः चरितार्थ है। कृष्ण-काव्य के इतर कवियों की मनोवृत्ति के संबंध में तो कोई संदेह नहीं।

'मधुर-भक्ति' में लौकिक प्रेम को ही ईश्वरोन्मुख किया जा रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी के आदिकाल से शृंगार रस का निरूपण होता आ रहा है परंतु उस पर वीरता अथवा दो दिनों के लिए धोखा देने वाले अध्यात्म का आवरण है। धारा प्रच्छन्न रूप से चल रही है। आगे चल कर मुग़लकालीन विलासिता और संस्कृत के उत्तर-कालीन कवियों और आचार्यों के प्रभाव से ऊपर का शैवाल-जाल हट जाता है और धारा साफ दिखलाई देती है। १६ वीं शताब्दी के ५० वर्ष बीतते-बीतते उसने केशवदास जैसे कवि को जन्म दिया है। अब उसके अस्तित्व में संदेह नहीं रह गया।

शृंगार रस और रीतिप्रधान रचनाओं का एक दूसरा पहलू भी है। इन रचनाओं का सूत्रपात अधिकतः संस्कृत रीति-आचार्यों के रस, अलंकार या ध्वनि-संबंधी सूत्रों को पकड़ कर हुआ है अथवा इस युग के कवियों की एक विशेष प्रेरणा यह रही है कि वे रीतिशास्त्रसंबंधी ग्रंथ लिखें और उदाहरण में अपने रचे पद रखें। इन कवियों में अधिक पांडित्य और अध्ययन न था, न मौलिक तर्कशक्ति ही थी। फल यह हुआ कि एक बहुत बड़ा साहित्य ऐसा हो गया जिसमें एक दोहे में लक्षण और कवित्त या सवैया में उसका उदाहरण रहता। उदाहरण सदा लक्षण पर पूरा निकले, यह बात भी नहीं। कभी-कभी दो लक्षण एक ही ठहरे, कभी

लक्षण ही अस्पष्ट और ग़लत परंतु उदाहरण अधिक उच्च कोटि के होते। वास्तव में आचार्यत्व का दम भरने वाले रीति-कालीन उच्च कवि प्रतिभासंपन्न कवि-मात्र थे।

रीतिकाल के कवियों का एक दूसरा वर्ग भी था जो लक्षण ग्रंथ तो नहीं लिख रहा था, स्वतंत्र रूप से कविता करता था, परंतु अलंकार सदा उसके सामने रहते। इसके अतिरक्त उसकी मुक्तक रचनाएं संस्कृत आचार्यों के उन मुक्तकों से प्रभावित रहतीं जिन्हें उन्होंने अपने ग्रंथों में उदाहरण स्वरूप रखा था।

दोनों प्रकार के कवि आचार्यों के ग्रंथों से प्रभावित थे, परंतु आचार्यों के इन ग्रंथों (मम्मट का 'काव्य-प्रकाश', पं० जगन्नाथ का 'भामिनी-विलास', अप्पय दीक्षित आदि की रचनायें) के अतिरिक्त और भी साहित्यिक प्रभाव उन पर पड़े, इसके सिद्ध करने के लिये हमें विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। यह प्रभाव कहीं स्वतंत्र रूप से उन्हीं के द्वारा ग्रहीत हुए, कहीं पूर्ववर्ती भक्त कवियों की कविताओं में होकर उनके काव्य में आये। पहले हम उन प्रभावों को लेंगे जो भक्तकाव्य में होकर रीतिकाव्य में आये :

(१) रस का प्रधानत्व और शृंगार का एकराजत्व संस्कृत काव्य में ही स्वीकार किया जा चुका था। संस्कृत काव्य में ही भक्ति और शृंगार बहुत कुछ पास आ गये थे। हर-गौरी

का शृंगार एवं विलास कवि-परंपरा में खूब चला। बाद में जब पुराणों ने क्रमशः अधिक विकासित शृंगारिक रूप को जनता के सामने रखा तो कवियों की कल्पना उद्भ्रांत हो उठी। जहाँ तक हम जानते हैं पहले-पहल जयदेव ने गीतगोविंद में राधाकृष्ण को अभिनव रूप में उपस्थित किया। "चाहे भक्ति लो, चाहे हरिकथा, चाहे विलास।" वास्तव में इसमें जयदेव की मौलिकता नहीं थी। यह हर-गौरी वाले पुराने दृष्टिकोण का ही नवीन संस्करण था। जयदेव ने अपने काव्य को भागवत के आधार पर खंड-काव्य के रूप में खड़ा किया था और यद्यपि उन्होंने दूती और अभिसार के प्रसंग रखे थे, परंतु कथा को निश्चित रीतिपद्धति पर आगे नहीं बढ़ाया था। उनके काव्य में दूती और अभिसार प्रसंगवश आ गये थे। दूसरी ओर 'गीतगोविंदम्' में शब्दों की कोमलता, छंदों की हिल्लोल-वृत्ति और संगीत का प्राचुर्य एक रहस्यात्मक वातावरण उपस्थित कर देने में सफल थे और यद्यपि उन्होंने राधाकृष्ण का लगभग वही रूप रखा जो 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' में दिखलाई पड़ता है, परन्तु उन्होंने उसे लौकिक तल से उठाकर ऊँचे रहस्यमय सूक्ष्म अलौकिक तल पर स्थिर कर दिया है। सब ले-देकर जयदेव का काव्य भक्तिकाव्य ही माना जाना चाहिये।

विद्यापति ने प्रेरणा जयदेव से ली, परंतु उन्होंने कृष्ण-कथा का मौलिक प्रवर्तन किया। उसे निश्चित रूप से

शृंगारकाव्यसम्भूत पूर्वराग, मिलन, मान, मानमोचन, दूती, विरह, पुनर्मिलन के प्रकरणों पर स्थापित किया। भक्ति शृंगार के नीचे दब गई। संभव है, वह अधिक मात्रा में हो भी नहीं। परंतु यह श्रेय विद्यापति को ही मिलेगा कि उन्होंने पहली बार कृष्ण-राधा का रीतिशास्त्र की शृंगार-पद्धति से संबंध जोड़ा। पुराणों में राधाकृष्ण का विलास-वर्णन मिलेगा परंतु एक 'गर्गसंहिता' के पूर्वराग के प्रसंग को छोड़कर वह क्रम कहीं नहीं मिलेगा जो विद्यापति ने अपने काव्य के लिए खोज निकाला। विद्यापति के पद ब्रजभूमि में भी प्रचलित हो गए और इसमें सन्देह नहीं कि सूरदास उनसे परिचित थे परंतु उन्होंने बहुत से रूपकों की सृष्टि कर कृष्ण-कथा के लिए एक स्वतंत्र ढाँचा खड़ा किया जिसमें रीतिपद्धति की उपेक्षा की गई थी और कथा के स्वाभाविक विकास और उससे भी अधिक रूपकों की पुष्टि पर ध्यान दिया गया था। फिर भी खंडिता, हिंडोला जल-विहार आदि रूपकों के अंतर्गत रीतिशास्त्र की बहुत सी सामग्री स्वतः ही आ गई, सूरदास लाचार थे।

रीतिकवियों के सामने विद्यापति और सूरदास दोनों थे। यही नहीं, अष्टछाप की प्रचुर सामग्री थी, परंतु उन्होंने उनमें से किसी की सामग्री को पूर्णतय: स्वीकार नहीं किया उन्होंने राधा-कृष्ण का जो रूप अपने सामने रखा, वह उस रूप से बिलकुल मिलता-जुलता था जो विद्यापति ने उपस्थित

किया, परंतु वह न ऐसा निश्चित था, न ऐसा सुगठित था, जैसा विद्यापति के काव्य में। उन्होंने साधारण नायक-नायिका के अनेक प्रसंगों का राधाकृष्ण पर आरोप कर दिया और इस प्रकार समालोचकों के लिए एक समस्या उत्पन्न कर दी। एक पद में नायक-नायिका का मान है, राधा-कृष्ण का कोई संकेत नहीं, दूसरे पद में राधाकृष्ण का वाग्विनोद है। इसे कृष्णकाव्य कहा जाय या रीतिकाव्य? स्वतंत्र ग्रंथों में ही नहीं, लक्षण-ग्रन्थों में भी जो उदाहरण हैं, उनमें भी यही समस्या मिलती है। उन्होंने (रीतिकवियों ने) दानलीला, हिंडोला आदि प्रसंग सूरदास-प्रभृति कवियों से लिए, परंतु लीलाप्रसंग में बहुत से प्रसंग अपनी ओर से जोड़ दिये जैसे—

डिगत पानि डिगलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंपि किसोरी दरस के खरै लजाने लाल॥
[विहारी]

विपरीत रति, पुष्प-समर, राधाविरह, गोपीविरह, रास आदि के कितने ही प्रसंग रीतिकाव्य का विशिष्ट अंग हैं और इनके लिए वह निश्चय ही कृष्णभक्तिसंबंधी पदसाहित्य का ऋणी है। शृंगार का जो अंश इस साहित्य में था वह सहज ही रीतिकाव्य में आ गया है।

(२) कृष्णभक्ति काव्य ने प्रकृति को उद्दीपन के रूप में

ही देखा था, यद्यपि उसमें वह ऊहात्मकता नहीं थी जो रीतिकाव्य के प्रकृतिकाव्य में दिखलाई पड़ती है। कारण यह है कि कृष्णकाव्य का एक निश्चित आधार था। रीतिकाव्य उड़ा-उड़ा फिरता था। जहाँ से उसकी प्रकृति से मिलती-जुलती चीज़ मिली, उसने ली। प्रकृति-चित्रण की अपनी विशिष्ट शैलियाँ उसने दूसरे स्थानों से लीं, परंतु उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण का जो प्रयोग कृष्णकाव्य में हुआ है, उससे वह परिचित था।

(३) भक्ति और वैराग्यसंबंधी अनेक धारणाओं और शैलियों के लिए भी रीतिकाव्य कृष्णकाव्य का ऋणी है, जैसे बिहारी की यह भावना

मोहि तुम्हैं बाढ़ी बहस को जीतै जदुराज।
अपन अपनैं बिरह की दुहूँ निबाहन लाज॥

परन्तु उन्हें भक्तिकाव्य का ही प्रसार समझना चाहिए। रीतिकाव्य की मूल प्रवृत्ति इस प्रकार की भावना में नहीं मिलती।

संस्कृत लक्षण-ग्रंथों का प्रभाव भक्तिकाव्य पर ही बहुत कुछ पड़ चुका था। विद्यापति काव्यप्रकाश से भली भाँति परिचित थे। उनके लिए काव्यप्रकाश की एक टीका की प्रतिलिपि कराई गई थी। कदाचित् राधा के साधारणतः रूप के चित्रण के लिए उन्हें काव्यप्रकाश से ही प्रेरणा प्राप्त हुई हो। रीतिकाव्य में संस्कृत ग्रंथों के आधार पर जब रीतिग्रंथ

लिखे जाने लगे तो यह असंभव था कि कवि लक्षणों तक ही सीमित रहते। संस्कृत लक्षण-ग्रंथों में उदाहरणस्वरूप जो सामग्री थी उसने भी उन्हें प्रभावित किया। जिन लक्षणग्रंथों ने रीतिकाव्य को प्रभावित किया वे हैं ध्वन्यालोक (आनन्द-वर्धनाचार्य), काव्यमीमांसा (राजशेखर), काव्यप्रकाश (मम्मट), साहित्य-दर्पण (विश्वनाथ) और कुवलयानंद (अप्पय दीक्षित)। आनन्दवर्धनाचार्य ने कह ही दिया था—

दृष्ट पूर्वा अपिह्यर्थाः काव्ये रस परिग्रहात् ॥
सर्वेनवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमः ॥

फिर क्या था, कवियों ने उनकी तथा पिछले कितने ही कवियों की सामग्री को हिंदी में ढालना आरंभ किया, परन्तु आनंदवर्धनाचार्य ने केवल 'छाया'-ग्रहण के लिये कवियों को स्वतंत्रता दी थी, फिर यह आवश्यक बना दिया था कि वह नूतन स्फुरण एवं चमत्कार के साथ हो—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकवि रूपनिबंधनन् निन्द्यतां नोपयाति ॥

इस बात को भुला दिया गया।

इन रीतिग्रंथों में उदाहरण के रूप में जिन कवियों की रचनायें रखी गई थीं, उनकी ओर हिंदी के लक्षण-ग्रंथकारों और कवियों का ध्यान जाना स्वाभाविक बात थी। ये थे गाथासप्तशती,

कह सकते हैं, उन्होंने मनुष्य की वासना को ईश्वरोन्मुख कराने में सहायता दी है। उनके काव्य में अलौकिक के साथ लौकिक और ऐन्द्रियता के साथ अध्यात्म का सुन्दर गठबंधन हुआ है।

हिन्दी कृष्णकाव्य हमें सर्वप्रथम मैथिल कवि विद्यापति में मिलता है। इसका रूप मुक्तक है। यह फुटकर पदों में है। राधा की वयःसंधि, यौवनागम, राधाकृष्ण का प्रथम परिचय, पूर्वराग, दोनों ओर की दूतियों का चातुर्य-व्यवहार, मिलन, मान, मानमोचन, संयोग-वियोग, राधा का विप्रलंभ, कृष्ण का मथुरा से लौट कर राधा से मिलना (या मानसिक मिलन), राधा का भावोल्लास—संक्षेप में ये विद्यापति-पदावली के विषय हैं।

विद्यापति के राधाकृष्ण-प्रेमनिरूपण में काव्य का प्रभाव अधिक है। रीतिकाव्याचार्यों ने नायक-नायिका को मिलाने के लिए दूतों की कल्पना की, उसके विभेद किये, नायिकाओं के अभिसारों के प्रकार गिनाये, स्वयं नायिकाओं के भेद किये। विद्यापति का काव्य इनसे भरा है। वह रीतिकाव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है, परन्तु उसने अनेक स्थलों पर कृष्ण-राधा को आत्मा-परमात्मा का प्रतीक भी माना है और विप्रलंभ के अनेक पदों में कवि प्रेम और तन्मयता के इतने ऊँचे स्तर पर उठ जाता है कि वह माधुर्यभाव के उपासकों की श्रेणी में आ जाता है।

हल्लफलहुण पसाहि आणं तणवासरे सवत्तीणम् ।
अज्जाएँ भज्जाणाणअरेण कहिअं व सोहग्गाम ॥

(गाथा० ७६)

कंज नयनि मञ्जन किये बैठी ब्यौंरति बार ।
कच अंगुरिन बिच दीठि दै चिवति नन्दकुमार ॥

चिकुर विसारण तियर्हनत कण्ठी विमुख वृत्तिरपि बाला
त्वामियमङ्गुलि कल्पितकचावकाशा विलोकयति

(आर्या, २३१)

मोर चंद्रिका स्याम सिर चढ़ि कत करत गुमान ।
लखबी पायकि पर लुठति सुनियत राधा मान

मधुमथन मौलिमाले सखि तुलयसि तुलसि किं मुधा राधाम्
यत्त्व पदमदसीयं सुरभमितु सौरभोद्भेदः ॥

(वही, ४३१)

मैं मिसहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यौ ठिग जाय ।
हस्यौ खिसानौ गर गह्यौ रही गरै लपटाय

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनैर्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरंनिर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् । विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली लज्जानमुखी प्रियेण हसता बाला चिरचुम्बिता

(अमरुक-शतक, ८२)

इस प्रकार खोज करने पर कितने ही संस्कृत मुक्तकों में ऐसे दोहे मिल जाते हैं जिनको विहारी ने अवश्य ही ध्यान में रखा

है। फलतः बिहारी के माध्यम से संस्कृत मुक्तक काव्य का एक बड़ा भाग हिंदी रीतिकाव्य का अंश हो गया है। बाद के कवियों ने उन्हीं की सतसई को आधार बनाया, उन्होंने सतसई और प्राकृत ग्रंथों तक पहुँचने का कष्ट नहीं किया। कम-से-कम उत्तर रीतिकाल में कवियों ने संस्कृत ग्रंथों का आश्रय अधिक नहीं लिया, वे अपने पूर्ववर्ती हिंदी कवियों को ही आदर्श मान कर चले। वास्तव में विरह-विर्णन और प्रकृतिवर्णन के सम्बन्ध में तो एक विशिष्ट शैली ही बँध गई थी। विशेष कुछ करना-धरना था ही नहीं। कवियों ने निश्चित पगडंडी पर ही चलना सरल समझा। वे लीक छोड़ कर नहीं बढ़े। परंतु हमें यह भी याद रखना चाहिये कि उक्त दोनों विषयों में जो रीतिप्रथा रीतिकाव्य के पूर्ववर्ती कवियों ने चलाई, वह स्वयं संस्कृत कवियों की 'उच्छृष्ट' चीज़ थी। विरह-वर्णन में देह की कृशता और ताप का कथन बहुत पहले से चला आता था। विरह-कृशता के संबंध में विल्हण लिखते हैं—

प्राप्ता तथा तानवमङ्ग यष्टि-
स्त्वाद्धिप्रयोगेण कुरङ्ग दृष्टेः।
धत्ते गृहस्तम्भनिवर्तितेन
कम्पं यथा श्वास समीरणेन ॥

विरह-ताप के संबंध में श्री हर्ष लिखते हैं—

दुहनजा न पृथुर्दवथुर्व्यथा विरहजैव पृथुर्यदिनेदृशम्
दहनमात्तु विशंति कथं स्त्रियः प्रियमपासुमुपासि ।
—तुमुद्धुरा : ॥

इसी तरह कटि की सूक्ष्मता पर संस्कृत के काव्य में बहुत कुछ कहा जा चुका था । पंडित जगन्नाथ ने कटि की सूक्ष्मता की बात समझाने के लिये शून्यवाद का आश्रय लिया था—

अनल्पैर्वादीन्द्रैरगणित महामुक्ति निवहै—
निरस्ता विस्तारं क्वचिद् कलवती तनुमपि ।
असत्ख्याति-व्याख्याधिक चतुरिमाख्यात
महिमाऽवलम्नेयं युगतमतसिद्धांत सरणिः ॥

विहारी ने भी उसे 'सूच्छम कटि परब्रह्म लौं' कह दिया ।

प्रकृति-वर्णन के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह पता चलता है कि कालिदास के समय में ही उद्दीपन के रूप में प्रकृतिवर्णन को अधिक श्रेय मिलने लगा था और वस्तुवर्णन बहुत कम हो गया था । धीरे २ षट्ऋतु—वर्णन का विकास हुआ । इसे 'उद्दीपन-काव्य' भी कह सकते हैं । हिन्दी के आरंभ से ही उद्दीपन रूप में 'षट्ऋतु' और 'बारहमासे' लिखे जाने लगे । रीतिकवियों ने उन्हें अन्यतम उच्चकोटि तक पहुँचा दिया। सारी प्रकृति, सारी ऋतुएँ उद्दीपन-मात्र । इस षट्ऋतु और बारहमासे की बंधी परंपरा के बाहर भी बहुत लिखा गया, परंतु जो लिखा गया उसका ध्येय प्रकृति-निरूपण के स्थान पर पांडित्य-

प्रदर्शन-मात्र ही अधिक था। इस प्रकार का चित्रण तो आदि कवि के काव्य में चंद्रोपालंभ (सुन्दरकांड) के अंतर्गत भी मिलता है परन्तु बाद के संस्कृत काव्य में तो चंद्रोपालंभों और इसी तरह के असंयत, ऊहात्मक कथनों की भरमार है—

संग्रामाङ्गरण सम्मुखाहृत किमद्विश्वम्भराधीश्वर
व्यादीर्णीकृत मध्यभाग विवरोन्मीलन्नभोनीलिमा:
अङ्गारप्रखरैः करैः कवलयन्नेतन्मही मण्डलं
मार्तंडोयमुदिते केन पशुना लोके शशाङ्की कृतः

(भामिनी-विलास)

चंद्रोदय को देखकर विरही कहता है—

'अंगारों की तरह तीक्ष्ण किरणों से भू-मण्डल को भस्म करता हुआ यह तो प्रचंड मार्तंड निकल रहा है। कौन पशु इसे चंद्रमा कहता है? इसमें जो श्यामता दिखलाई देती है वह शशलांछन नहीं है, किंतु रणभूमि में सम्मुख लड़ कर मरे हुए वीर क्षत्रियों के द्वारा फटे हुए मध्य भाग से आकाश की नीलिमा चमक रही है।' श्लेष के लिए आकाश-पाताल ढूँढे जाने लगे और उन श्लिष्ट शब्दों के बल पर प्रकृतिचित्रण किया जाने लगा। बसंत की सार्थकता यही समझी जाने लगी कि विरही उसे देख कर प्राण दे दे—

सव्याधेः कृशता क्षतस्य रुधिरं दृष्टस्य लालास्रुतिः
किञ्चिन्नैतदिहास्ति तत्कथमसौ पान्थस्तपस्वीमृतः

आः ज्ञातं मधुलम्पटैर्मधुकरैराब्ध कोलाहले
नूनं साहसिना रसाल मुकुले दृष्टिः समारोपिता
(कादम्बरी)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिंदी रीतिकाव्य ने संस्कृत रीति-काव्य से बहुत कुछ उधार लिया। यही नहीं, उसने अपभ्रंश और प्राकृत से भी बहुत कुछ लिया। प्राकृत की गाथासप्तशती की बात हम कई स्थानों पर कह चुके हैं। अपभ्रंश का भी ऋण है। 'दोहा' (दोधक, दोहव, दूहा) का पहला परिचय हमें यहीं होता है और बहुत से शृंगार के दोहे मिलते हैं और हेमचंद के व्याकरण में इसी प्रकार के ग्रन्थों के उदाहरण संग्रहीत हैं। इनके अध्ययन से पता चलता है कि सातवाहन की गाथा-सप्तशती की एक परंपरा प्राकृत और अपभ्रंश में बरा-बर चलती आती है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस परंपरा से रीतिकाल के कवि कहाँ तक परिचित थे। परंतु इसमें संदेह नहीं कि रीतिकाव्य में जाने-अनजाने यही परंपरा विक-सित हुई है।

[३]

रीतिकाव्य के विषय में लोगों में बड़ा मतभेद है। ३०० वर्ष तक हिंदीकाव्यसाहित्य में एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति चलती रही, परंतु कुछ सामान्य बातों पर ध्यान देने के अति-रिक्त इस प्रवृत्ति के मूल तत्त्वों, उसके विकास एव

उसके परिवर्तनों के विषय में अधिक अनुसंधान नहीं किया गया।

रीतिकाव्यधारा का प्रथम उन्मेष विद्यापति के काव्य में मिलता है जिनका समय १३७५ ई० से १४५० ई० तक है। इससे पहले भी चारणों की कविता और वीरकाव्य में हमें सामंती काव्य के सारे लक्षण मिल जाते हैं। वस्तुतः चारणों की कविता उत्तरकालीन संस्कृत और अपभ्रंश कवियों की उस परंपरा का ही विकास है जो राजसभाओं और विदग्ध गोष्ठियों में पोषण पाती रही है। परंतु चारण काव्य में काव्यांगों का उपयोग परोक्ष रूप में ही हुआ है। विद्यापति के काव्य में सज्ञान रूप से रीति का आश्रय लिया गया है। विद्यापति मूलतः रससिद्ध कवि हैं, परंतु उनके काव्य में विदग्धता और पांडित्य की मात्रा भी कम नहीं है। उनका सारा काव्यभवन नायिकाभेद और शृंगारशास्त्र की रूढ़ियों पर खड़ा है। उनका काव्य भक्तिकाव्य की परम्परा से संबधित है, परन्तु यह संबन्ध विद्यापति के बहुत बाद स्थापित हुआ—कदाचित् १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में जब उत्तर-भारत और बंगाल में भक्ति की धारा अत्यंत वेग से प्रवाहित हो रही थी। वैसे विद्यापति के काव्य की सारी प्रकृति रीति-धारा की ओर ही उन्मुख है यद्यपि गीतिकला का आश्रय लेने के कारण उनका काव्य विदग्ध गोष्ठियों और राजसभाओं तक सीमित न रह कर जनता का कंठहार बन गया है।

'भणिता' में विद्यापति स्पष्ट रूप से 'कोई-कोई ई रस जान' कह कर अपने काव्य को प्राचीन सहृदय के रसबोध से संबंधित कर देते हैं।

पचास वर्ष बाद जब ब्रजप्रदेश में सूरदास और अष्टछाप के अन्य कवियों और हितहरिवंश जैसे भावुकों और साधकों ने राधा-कृष्ण की केलि को फिर काव्य का विषय बनाया तो उन्होंने एक तरह से विद्यापति की काव्यपरंपरा को ही विकसित किया। उनका लक्ष्य था भक्ति की साधना, परंतु उनकी भक्ति मधुर रस के अंतर्गत आती थी और शृंगार-काव्य के सारे उपकरण समेट कर चलती थी। उन्होंने गोपियों और राधाकृष्ण की लीलाओं का मुख्यतः रूपक-रूप में चित्रित किया, परंतु इस चित्रण में उन्होंने काव्यशास्त्र और काव्यकला के सारे उपकरणों का प्रयोग किया। फलतः उनके काव्य में रीति की धारा भक्ति-भाव को पुष्ट करती है। कवि मूलतः साधक है। वह 'अलौकिक रस' का आस्वाद करना चाहता है। इस अलौकिक रस को ही नंददास ने प्रेमभक्ति, परम रस, परमकांत एकांत और उज्ज्वल रस कहा है। यह रस साधारण शृंगार रस (लौकिक प्रेम) से भिन्न है। इसी से वल्लभकुल के भक्त कृष्ण के प्रति एकांतनिष्ठ प्रेम को शृंगार से अलग करने के लिए बराबर शब्द गढ़ते रहे हैं जिससे उसकी अलौकिकता साधारण जनों के मन में बैठ जाये। नंददास स्पष्ट कहते हैं—

बिन अधिकारी भये, नहिन वृन्दावन सूझै ।
रेनु कहाँ ते सूझै, जब लगि वस्तु न बूझै ॥
निपट निकट ज्यौं घट में अंतरजामी आहीं ।
विषय-विदूषित इंद्री पकरि सकै नहिं ताहीं ॥

(रूपमंजरी, ५८२—६)

साधारणतः जो वासनामय प्रेम है, वही कृष्णोन्मुख होकर निःसीम प्रेम (परम रस) हो जाता है। इसीलिए हिंदी कृष्णकाव्य में भक्ति के साथ-साथ, कभी-कभी भक्ति-भाव के ऊपर भी, शृंगार के स्वर बजते दिखलाई पड़ते हैं। भक्ति और शृंगार के द्वन्द ने इस काव्य को सचमुच विलक्षण बना दिया है। 'अणुभाष्य' में इस द्वन्द को बनसिंह और ग्रामसिंह का उदाहरण देकर बल्लभाचार्य ने इस प्रकार समझाया है—

वस्तु-तत्तु ग्राम सिंहस्य सिंह-स्वरूपत्वेऽपि
न ताड्रूपं वक्तु शक्यं तथा लौकिक पुंसि
नार्भ्या वा तदाभासो रसशास्त्रे निरूप्यते
तद्दृष्टान्तेन भगवद्भागवद् भक्तिरोति भावनार्थं
न त्वृषीणं लौकिके तात्पर्य्य भवितुर्मर्हति(३ – ३ – ५७)।

अतः यह स्पष्ट है कि आचार्य भी भक्ति की व्याख्या करते हुए रसशास्त्र को छोड़ नहीं सके। फिर भक्त-कवियों के लिए शृंगार रस की उपेक्षा कहाँ संभव थी। जयदेव के काव्य में शृंगार-भक्ति (मधुरभक्ति) के जो बीज बोये गये थे, वही विद्यापति के काव्य में भी अंकुरित हुए और फिर

एक शताब्दी बाद सूरदास और हितहरिवंश के काव्य में पल्लवित और फलित हुए। लगभग एक शताब्दी तक भक्ति और शृंगार का यह अनन्योन्याश्रित संबन्ध चलता रहा। शृंगार भक्ति का आलबन था, परन्तु अंतिम ध्येय वह नहीं था। उस युग के भक्तिप्रवाह की अजस्र धारा में न जाने कितने कलुष बह गये, न जाने कितने लौकिक संस्कार अलौकिक रस से पुष्ट और प्रकाशवान बने।

परंतु भक्ति और रीति का यह गठबंधन धीरे-धीरे शिथिल होने लगा। यह शिथिलता पहले-पहले उन कवियों में दिखलाई दी जो राजसभाओं से संबंधित थे और संस्कृत के विदग्ध काव्य और काव्यशास्त्र की परिपाटियों के पंडित थे। ऐसा होना आवश्यक भी था। भक्ति का संबंध जनभावना से था। उसके केन्द्र थे मंदिर और संतपीठ। राजसभाओं में भक्तिकाव्य का कोई स्थान नहीं हो सकता था। राजसभाओं, विदग्ध गोष्ठियों और सरस्वती-भवनों में अब भी उक्तिवैचित्र्यपूर्ण-काव्य की परंपरा उसी तरह चलती रही थी परन्तु भक्ति के प्रवाह ने उसे ढ़क दिया था। इस प्रवाह के शिथिल होते ही राजाश्रय में विकसित एवं पुष्ट होने वाली काव्यधारा तल पर उठ आई। इस काव्यधारा में राधाकृष्ण प्रतीक मात्र रह गये। उनके माध्यम से कवि ने साधारण नर-नारी की भोगलिप्सा और प्रेम-वियोग की कहानी कही। उत्तरकालीन संस्कृत काव्य, आचार्यों के काव्यशास्त्रों के उदाहरण, प्राकृत और अपभ्रंश की रच-

नायें – ये इन कवियों के आदर्श थे। गाथासप्तशती, आर्यासप्त-शती, अमरुक-शतक, भट्टि-काव्य और संस्कृत-प्राकृत सुभाषितों के भावों को ब्रजभाषा का कलेवर पहना कर कवित्त-सवैया एवं दोहा-सोरठे जैसे छंदों में उपस्थित कर कवि अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने लगा। उसने अपने युग की जनता और जनभावना से अपना संबंध विच्छिन्न कर लिया।

विद्यापति के समय से जो कवियों के राजाश्रय की परंपरा लगभग समाप्त हो गई थी, उसका पुनरुद्धार अकबर के राजत्व-काल (१५५६ – १६०३) में हुआ। पठान शासकों ने भारतीय संस्कृति से अपने प्रेम का कुछ भी परिचय नहीं दिया था। उधर राजनैतिक विक्षोभ के कारण राजस्थान एवं अन्य प्रदेशों के राजा और सामंत हतप्रभ हो रहे थे। फिर भी लगभग तीन शताब्दियों तक यही छोटे-मोटे राजा और सामंत कलावंतों और कवियों का आश्रय बने रहे। अकबर के राजदरबार में कवियों और कलावंतों को एक बार फिर सम्मान मिला। अनेक मुसलमान पदाधिकारी तक ब्रजभाषा में कविता करने लगे। स्वयं सम्राट भी कभी २ इस क्षेत्र में उतरते। अक-बर के दरबार के कवियों के नाम एक पद में इस प्रकार मिलते हैं—

प्राइ प्रसिद्धि पुरन्दर ब्रह्म सुधारस अमृत अमृत बानी
गोकुल गोप गोपाल गनेस गुनी गुनसागर गंग सुज्ञानी

जौध जगन्नज भे जगदीस जगामग जैत जगत्त है जानी।
को अकब्बर सैन कथी इतनै मिलि के कविता जु बखानी।।

परंतु कदाचित् इन कवियों के अतिरिक्त और भी अनेक कवि अकबर की राजसभा से संबंधित थे क्योंकि नरहरि, करन, अब्दुलरहीम ख़ानख़ाना इत्यादि कुछ प्रमुख दरबारी कवियों का नाम इनमें नहीं आया है। जो हो, यह निश्चित है कि रीतिकाव्यधारा का आरंभ अकबर की राजसभा से ही हुआ और शीघ्र ही अनेक महत्वपूर्ण हिंदू राजाश्रय भी विकसित हो गये। राजाश्रय की परंपरा एकदम समाप्त तो नहीं हुई थी, परंतु नई परिस्थिति में उसका विकास नये ढंग से हुआ। इन राजाश्रयों में लिखे गये रीति और नीति संबन्धी कवित्त-सवैयों की संख्या बहुत बड़ी है।

हिंदी रीतिकाव्यधारा में जिन कवियों ने योग दिया उनमें प्रमुख हैं गंग, रहीम ख़ानख़ाना, मनोहर कवि, जमाल, केशवदास, क़ादिर, मुबारक सेनापति, पुहकर कवि, विहारीलाल, मतिराम नेवाज, देव, भूपति तोषनिधि, पद्माकर, प्रताप साहि, आलम, घनानंद, रसनिधि, बोधा, ठाकुर, रामसहाय दास, पजनेस, भारतेन्दु हरिश्चंद और रत्नाकर। इसमें संदेह नहीं कि लगभग ३०० वर्षों तक रीतिकाव्यधारा अबाध गति से बहती रही। इसके बाद उसमें मौलिकता का स्फुरण शेष नहीं रहा, परंपरा का पालन ही अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया।

आधुनिक कविता का जन्म भारतेन्दु हरिश्चंद (१८५०—८५) से ही होता है। फलतः १५५० से १८५० ई० तक के लंबे काल को हम रीतिकाव्यधारा से संबोधित करते हैं। जिन कवियो का उल्लेख हमने ऊपर किया है, उनमें से अधिकांश रीतिशास्त्र से पूर्णतयः परिचित थे, परतु केशवदास और देव को छोड़ कर रीतिग्रंथों की रचना कदाचित् किसी ने नहीं की। इसमें संदेह नही कि रीतिग्रंथों मे भी उदाहरण स्वरूप जिन रचनाओं को उपस्थित किया गया है, उनमें भी कुछ अत्यन्त उच्चश्रेणी की रचनाये हैं और हम इन कवियों को रीतिग्रथकारो से एकदम अलग नहीं कर सकते। परंतु फिर भी रीतिधारा के जन्म और विकास की कहानी इन्हीं कवियों की रचनाओं को लेकर लिखी जायगी।

इन कवियों में कदाचित् काव्य की दृष्टि से विहारीलाल, मतिराम, देव, पद्माकर, आलम, घनानंद, रसनिधि, सेनापति, बोधा और ठाकुर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। केशव मुख्यत: आचार्य हैं। विहारीलाल तुलसीदास के बाद हिंदी संसार के सहृदय समाज के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि रहे हैं। उनकी 'सतसई' पर दो दर्जन से अधिक टीकाये हमें उपलब्ध हैं। 'विहारी-सतसई' में सात सौ दोहे-सोरठे हैं। इनका स्वरूप स्पष्टतयः मुक्तक है। 'सतसई' की उत्कृष्टता उसकी कई विशेषताओं के करण है—

१--उसमें अत्यंत सुष्ठ समास-पद्धति का चरम उत्कर्ष

मिलता है। २४ मात्राओं के छोटे-से पद में सुंदरतम भाषा, विचारों और कल्पनाओं को इकट्ठा कर देना बिहारी का ही काम था। इस काव्य को सच ही 'अक्षरकामधेनु' कहा जाता है। संक्षेप-शैली में ऐसी रससिद्ध कविता अन्यत्र नहीं मिलेगी।

२—यह अत्यंत उच्चकोटि का ध्वनिकाव्य है।

३—रस, नायिकाभेद और अलंकार की दृष्टि से सतसई के दोहे कवि की भावुकता और उसके पांडित्य के अन्यतम साक्षी हैं।

४—उसमें हाव-भावों का अत्यंत सजीव वर्णन है। प्रकृति के जो चित्र दिये गये हैं, वे जैसे मीनाकारी के चित्र हैं।

५—नीति के दोहों में सांसारिक विषयों पर बड़ी मार्मिक उक्तियाँ कही गई हैं और भक्ति के दोहों में कवि भक्त के रूप में भी बड़े ढग से हमारे सामने आता है।

सेनापति की गणना ब्रजभाषा के महाकवियों में की जाती है। उनका साहित्य प्रौढ़ और भावमय है। उनकी कल्पना उदात्त है और ब्रजभाषा तो उनके हाथ में आकर पूर्णता को प्राप्त हो गई है। उनकी एक विशेषता यह है कि शृंगार और शांत दोनों रसों में उनकी रचनाओं का प्रौढ़तम रूप मिलता है। शृंगार रस की रचनाओं में भी उन्होंने मनोविज्ञान और हिंदू आचार के अध्ययन का अपूर्व परिचय दिया है।

परंपरा के प्रभाव से जिस कुत्सापूर्ण शृंगारकाव्य का निर्माण हो रहा था, सेनापति उससे ऊपर उठे हुए हैं। उनके प्रकृति-वर्णन की स्वाभाविकता और सरसता तो सारे रीतिकाव्य में नहीं मिलेगी। षट्ऋतु-वर्णन में अधिकांश कवि उद्दीपन भाव का निरूपण ही सामने रखते हैं, परंतु सेनापति ने प्रकृति के स्वतंत्र चित्र दिये हैं जिनमें कवि-प्रसिद्धियों और कल्पना को भी उचित स्थान मिला है।

उन्नीसवीं शताब्दी के साथ राजनैतिक और सामाजिक परिस्थतियाँ बदलीं। देश मुसलमान शासकों के हाथ से निकल कर अँग्रेज़ शासकों के हाथ में चला गया। बड़े-बड़े राज्य हड़प कर लिये गये। छोटे-छोटे राज्य और जागीरदार रह गये। यही कवियों का एक मात्र आश्रय थे। पद्माकर, ग्वाल, लछिराम, गोविंद गिल्ला भाई, प्रतापसाहि और पजनेस उत्तर रीतिकाल के श्रेष्ठतम कवि थे। पद्माकर अट्ठारहवीं और उन्नसीवीं शताब्दी के संधिकाल में अपने उत्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। उनकी रचना रसपूर्ण और प्रवाहमय है। इस समय के सभी कवियों ने भाषा के नवीन प्रयोग से अपने काव्य में कुछ विशेषता लाने की चेष्टा की। स्वयं पद्माकर ने शब्द-सौन्दर्य पर बल दिया। भावानुकूल शब्द-योजना, रसपोषक भाषा का प्रयोग, उक्तियों की नवीनता और रसिकता, अनुप्रास एवं वर्णमैत्री का प्राधान्य, अलंकारों का उपयुक्त प्रयोग—ये बातें नई दिशा सूचित करती हैं। कवि

भाव की मौलिकता की अधिक परवाह नहीं करता, परंतु उसके भाषा के नवीन प्रयोगों ने भाव में भी कुछ न कुछ मौलिकता उत्पन्न कर दी है। भाषा की कारीगरी में पद्माकर और पजनेस इस युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। पद्माकर के एक दर्जन से अधिक ग्रंथों में 'जगद्विनोद' और 'गंगालहरी' सर्वोत्तम हैं। उनमें शृंगार और शांत रसों के उच्चकोटि के छंद मिलते हैं। ग्वाल कवि ने पचास से ऊपर ग्रंथों की रचना की है। इनमें बड़े ग्रंथ कम हैं। रीतिसाहित्य के किसी भी अंग को उन्होंने नहीं छोड़ा, परंतु कविता अपने ऊँचे सिंहासन से कितना नीचे उतर आई यह इनकी रचनाओं से जितना स्पष्ट है उतना पद्माकर की रचनाओं से भी नहीं। इनकी कविताओं में प्रेम के स्थान पर विलास है और अमीरों के एश्वर्य का चित्रण है। न भाषा के प्रयोग में ईमानदारी है न भाव के। पूरबी, गुजराती, पंजाबी, ब्रज, खड़ी भाषाओं में ये रचनाएँ करते हैं। फ़ारसी के शब्दों का इनकी रचनाओं में बाहुल्य है। वास्तव में ग्वाल जिस राजदरबार में गये, उसकी भाषा में उन्होंने कविता कह सुनाई और पुरस्कार ले उड़े। कई भाषाओं का सफल प्रयोग चमत्कार का काम करता था। इस अर्द्ध शताब्दी में हम हिंदी कवियों को आश्रयदाताओं की खोज में देश-विदेश में घूमते-फिरते देखते हैं। इसलिये उनकी काव्यप्रतिभा ने स्वतंत्रता, नवीनता और मौलिकता खो दी है। भाषा की शुद्धता की ओर इन

कवियों का ध्यान नहीं। फ़ारसी और उर्दू कविता की लोकप्रियता का ब्रजभाषा पर भी प्रभाव पड़ा है। शब्दों का व्यायाम, श्लेष की भरमार, अनुप्रास की प्रधानता और भावों के हलकेपन को यदि कविता का नाम दिया जा सकता है तो यह भी कविता है, परंतु यह स्पष्ट है कि प्राचीन काव्यपरिपाटी, ब्रजभाषा की प्रौढ़ता और प्रचलित भावों को लेकर कवि कविता से खेल कर रहे हैं। उनमें न प्रकृत कवि की भावुकता है, न अनुभूति की प्रगाढ़ता। जो रीति-आचार्य बनने का दम भरते हैं वह रसपरिपाक की दृष्टि से कूट लिख रहे हैं। प्रताप साहि का एक छंद है—

सीख सिखाई न मानति है बरही
बस संग सखीनि के आवै
खेलत खेल नये जग में बिन
काम बृथा कत जाय बितावै
छोड़ि के साथ सहेलिन को
कहि कै कहि कौन सबादहिं पावै
कौन परी यह बानि अरी
नित नीर-भरी गगरी ढ़रकावै

इसके अर्थ समझाने के लिये पहले नायिकाभेद के पंडित बनिये। कवियों का काम नायिकाओं से बिछुए बजवाना रह गया है। जीवन का रहस्य जैसे उन्हें वहीं मिल गया हो—

सखिन के स्रुति में उकुति कल कोकिला की
गुरुजन हूँ के पुनि लाज के कथान की,
गोकुल अरुन चरणांबुज पै गुंज-पुंज
धुनि-सी चढ़ति चंचरीक चरचान की।
पीतम के स्रवन समीप ही जुगुति होति
मैन-मंत्र-तंत्र के बरन गुणगान की ॥
सौतन के कानन में हालाहल ह्वै हलति
एरी सुखदानि तान बजनि बिछुवानि की ॥

(गोकुलनाथ)

प्रकृति इन कवियों के लिये 'षट्ऋतु-वर्णन' भर के लिए है। वे उद्दीपन के बाहर उसे देख ही नहीं पाते। शब्दों के घटाटोप में उसका रूप ही विकृत हो गया है। उदाहरण-स्वरूप बादल का यह वर्णन देखिये—

सजल रहत आप औरन को ताप देत,
बदलत रूप और वसन बरेजे मैं
तापर मयूरन के झुंड मतवाले साले
मदन मरोरैं महा झरनि मरेजे मैं।
गरजि-गरजि बिरहीन के बिदारैं उर
दरद न आवै धरे दामिनी करेजे मैं ॥

(लछिराम भट्ट)

इस समय तक फ़ारसी शब्दों का बहुतायत से प्रयोग होने लगा

था और कवि अपने अन्यतम ह्रास को पहुँच गये थे। कविता के क्षेत्र में कृत्रिमता का राज्य था। कल्पना की बागडोर को अत्यन्त स्वतंत्रता से छोड़ दिया जाता। अन्य भाषाओं के शब्दों और मुहावरों का प्रयोग होता। अनुप्रास की प्रवृत्ति व्यापक रूप से प्रसार पा गई थी, यद्यपि 'रीति' से कवि अब भी प्रभावित थे। पजनेस की कविताओं में ये सब प्रवृत्तियाँ हैं यद्यपि उन्होंने अन्य सामयिक रीतिकवियों के विरुद्ध परुषावृत्ति के भी सुन्दर प्रयोग किये हैं। युग की मूल प्रवृत्ति कोमलता के विरोध में पजनेस को जनसाधारण में बड़ा लोकप्रिय बना दिया परंतु अनेक स्थलों पर शब्द-जाल और श्लेष के कारण उनकी कविता अत्यंत अस्पष्ट हो गई है। पूर्वार्द्ध के चतुर्थाब्द में हमारी दृष्टि द्विजदेव (महाराज मानसिंह) और बाबू हरिश्चंद के पिता गिरिधरदास पर पड़ती है। परन्तु जैसा हम पहले लिख चुके हैं, उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रीति-काव्यधारा दूषित और पतनोन्मुख हो गई थी। मौलिकता का नाम नहीं था। भाषा की प्रौढ़ता और परंपरागत भावों के सहारे काव्य की सृष्टि की जाती थी। नवीनता लाने के लिए फ़ारसी-शब्दावली का प्रयोग और अनुप्रास का चमत्कार यथेष्ट समझा जाता। परंतु इसी समय कुछ ऐसे कवियों के भी दर्शन होते हैं जिन्होंने प्रेम के प्रकृत रूप को समझा था और भाषा की चहल-पहल में न पड़ कर प्रकृत रूप में ही अपने काव्य को उपस्थित किया था। उन्हें न लक्षण-ग्रंथों से काम था, न रीति-

आचार्यों के शास्त्रीय नियमों से। जो थोड़ी बहुत अनुभूति हमें पूर्वार्द्ध के काव्य में मिलती है वह यहीं मिलती है। ये कवि थे ठाकुर, बोधा, घनानन्द, रसखान और आलम। रीतिकवियों के बीच में प्रेम के प्रकृत रूप को सामने रखकर रचना करने वालों की एक परंपरा हमें इन कवियों में ही मिलती है। प्रेमपंथ की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए इन कवियों ने कहा—

यह प्रेम का पंथ करार महा
तरवार की धार पै धावनो है

और

लोक की लाज औ सोक परलोक को
वारिए प्रीति के ऊपर दोऊ
(बोधा)

इन कवियों ने व्यंगार्थ पर वाच्यार्थ को प्रधानता दी। शब्दों को वे अधिक मोड़ते-मरोड़ते नहीं। उनके प्रयोग रसशैली में घुल-मिल गये हैं। वे जैसे रीतिकाव्य की मरुभूमि में अमृत-निर्झर हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ब्रजभाषा में राधाकृष्ण को लेकर अथवा स्वतंत्र रीति से शृंगार काव्य का निर्माण होता रहा। कवि भाषा और भावों के संबंध में पूर्ववर्ती काव्य से परिचालित थे। इस समय काव्य में खड़ी बोली का भी प्रयोग हुआ। इस अर्द्धशतक-भर यह झगड़ा चलता रहा

कि काव्य की भाषा ब्रजभाषा हो या खड़ी बोली। शताब्दी का अंत होते-होते खड़ी बोली काव्य की सर्वमान्य भाषा स्वीकार कर ली गई। परन्तु बीसवीं शताब्दी के पहले वर्षों में ब्रजभाषा में रचनाओं की परंपरा चलती रही। अभी भी यह परंपरा चल रही है। भाषा-भाव की दृष्टि से आधुनिक रीतिकाव्य (ब्रज-काव्य) बहुत कुछ परंपरा से दूर जा पड़ा है, परन्तु नवीन उद्भावनाएँ उसमें कम ही मिलेंगी।

ऊपर रीतिकाव्य पर जो विहंगम दृष्टि दौड़ाई गई है उससे यह स्पष्ट है कि रीतिकवियों में अधिक महत्त्वपूर्ण वे हैं जो एकदम लक्षणग्रंथों की रचना नहीं करने बैठे यद्यपि साहित्य-शास्त्र उन्हें भी अलक्षित रूप से प्रभावित कर रहा था। इन कवियों के हम दो वर्ग कर सकते हैं। पहले वर्ग के कवियों (बिहारी, मतिराम आदि) पर साहित्यशास्त्र, कला और संस्कृत काव्य परंपरा का भी प्रभाव था। दूसरे वर्ग के कवियों में (जो उत्तरार्द्ध में आते हैं जैसे बोधा और घनानंद) अनुभूति की प्रधानता थी और मौलिकता की मात्रा अधिक थी।

रीतिकाव्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस पर संस्कृत रीतिशास्त्र का प्रभाव तो था ही, परन्तु इससे भी अधिक प्रभाव था संस्कृतकाव्य-परंपरा का। हमें उन्हीं कवि-प्रसिद्धियों और उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं के दर्शन होते हैं जो संस्कृत के परवर्ती काव्य में ग्रहण हुई थीं। नायिका के अंगों के

उपमानों के संबंध में भी यही कहा जा सकता है। जहाँ कहीं फ़ारसी प्रभाव लक्षित है, वहाँ भी वह परवर्ती कवियों के ढंग पर ग्रहण किया गया है। इस प्रकार इस काव्य की आत्मा संस्कृत के परवर्ती काव्य से बल पाती है। वह मूलतः भारतीय है, यद्यपि वासनाप्रधान और ऐश्वर्यमूलक। उसमें एक प्रकार से भक्तिकाव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी है जो नैतिकता-प्रधान, रोमांटिक (स्वच्छंद) और पारलौकिक था। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि इस प्रकार की कविताओं में उस समय की जनता की मूल मनोवृत्ति पाई जाती है। जहाँ तक कला-प्रियता की बात है, वहाँ तक तो ठीक है परन्तु शृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया है। इसका कारण जनता की अभिरुचि नहीं, आश्रयदाताओं, राजाओं-महाराजाओं की अभिरुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था। जिस प्रकार राजा-महाराजा, मध्यवर्ग के पंडित और कायस्थ-समाज का जीवन एक निश्चित परिपाटी में बँध गया था, उसी तरह यह काव्य भी परिपाटी में बँधा हुआ था।

एक प्रकार से प्रेम और विलास का यह अधिकांश काव्य नागरिक था। उसके प्रकृति-वर्णन कल्पनामूलक और शास्त्र एवं साहित्य-द्वारा प्रेरित थे। हाँ बरवों और दोहों में कुछ-कुछ प्राकृत गाथाओं के साहित्य को अपनाने के कारण गाँव की प्रकृति और ग्रामीण समाज एवं नायक-नायिकाओं की चुहल

का चित्रण हुआ जो इस सारे साहित्य में वही स्थान रखता है जो मरुभूमि में अजसस्रोतः जलप्रपात।

[४]

रीतिकाव्य समाज और कवि की किस मनोवैज्ञानिक परिस्थिति की उपज है, इस विषय में विशेष खोज नहीं की गई। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' नामक अपने खोजपूर्ण ग्रंथ में 'पुरानी कविता' शीर्षक के अंतर्गत इस विषय पर कुछ विचार उपस्थित किये हैं—

१—"शृंगारात्मक रचनाओं से हमारा तात्पर्य हिंदी की उन रचनाओं से है जो ईसा की सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी और कुछ अंशों में बीसवीं शताब्दी तक रचित रीति और अलंकृत काव्य के अंतर्गत आती हैं और जिनका विषय नायक-नायिका के विलासपूर्ण जीवन का चित्रण है। नायिका को प्राधान्य देकर शृंगारी कवियों ने उसके अंग-प्रत्यंग—नखशिख—, उनके विरह, आलिंगन, चुम्बन, रति आदि का भी जी भर कर वर्णन किया है। कामशास्त्र विषयक प्राय: सभी बातें उनमें आ जाती हैं। भारतवर्ष जैसे देश में कवियों द्वारा स्त्री के समस्त शरीर का खुल्लम-खुल्ला वर्णन तथा अन्य रचनायें हिंदी साहित्य के विद्यार्थी के लिए एक विचित्र उलझन पैदा कर देती हैं। ग्रियर्सन महोदय ने इसका उत्तर-दायित्व यहाँ की जलवायु पर रखा है। अन्य इतिहास-लेखकों ने कवियों के आश्रयदाताओं की कुत्सित रुचि बता कर

परोक्ष में सारा दोष कवियों के माथे मढ़ दिया है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि समाज में ऐसी अवस्था का उदय ही क्यों हुआ और उसका उत्तरदायित्व कहाँ तक कवियों पर है। साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी का कर्तव्य है कि वह इस गंभीर विषय पर विचार करे। यह ठीक है कि मुग़लकालीन भोग-विलासपूर्ण सरकारी जीवन और उन दरबारों के आधीन और अनुकरण करने वाले हिंदू राजाओं के दरबारों में उसे प्रश्रय मिला। परन्तु शृंगारपूर्ण रचनाओं की इतनी प्रचुरता का कारण खोजने के लिए हमें वाह्य कारणों की ओर ही न जाकर तत्कालीन समाज के मानसिक तत्त्व की ओर भी जाना पड़ेगा।"

२—डा० वार्ष्णेय का कहना है कि मुसलमानों ने देश की राज्यशक्ति अपने हाथ में कर ली, परन्तु वे यहीं नहीं रुके रहे। उन्होंने समाज पर चोट की। उस समय भारतीय समाज विच्छिन्न हो रहा था। "दोहरे आघातों का धक्का पड़ने पर देश में इस बात की आवश्यकता हुई कि समाज संगठित होकर वाह्य आघात और आन्तरिक विच्छिन्नता का साहसपूर्ण सामना करने में समर्थ हो। जाति की इसी चेतनता के फल-स्वरूप भक्ति-आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा जो मूलतः भारत की प्राचीन काल से चली आती हुई विचारधारा का स्वाभाविक तौर पर विकास के रूप में मौजूद था।" "भक्तिकाल में हिंदुओं ने इसी भ्रामक शक्ति (ईश्वर) का अधिकाधिक सहारा लिया।

यह तो ठीक है कि धर्म ने तत्कालीन समाज के अस्तित्त्व को बनाये रखा। परंतु ठीक और स्वाभाविक होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि धार्मिक आन्दोलन समाज को बहुत आगे नहीं बढ़ा सका। अपनी सारी प्रार्थनाओं को विफल होते देख जनता में नैराश्य बढ़ता गया।"

"× × × वांछित सहायता न आते देख जनता अधिकाधिक नैराश्य के गर्त में डूब गई। इस नैराश्यजनित अवस्था में समाज को किसी आश्रय की ज़रूरत थी। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि निराशा के घोर अंधकार में मनुष्य या तो समाज से विमुख हो जाता है या नशे में चूर हो कर अपने को भूल जाना चाहता है या धर्म जैसी किसी भ्रमोत्पादक वस्तु का सहारा लेता है। इन बातों के अतिरिक्त वह ज़िंदगी का मज़ा उठाने में कालयापन करना भी श्रेयस्कर समझता है। × × × प्रेम करना और कराना उसके जीवन में प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेता है। वह प्रेम पार्थिव होना चाहिये। और यह मानी हुई बात है कि विलासिता से भरे हुए शृंगार प्रेम की ओर ही मनुष्य अधिक आकृष्ट होता है। धर्म की अपेक्षा समाज इसी आश्रय की ओर झुका।"

३—उनका विचार यह भी है कि रीतिकविता भक्तिकाव्य के अति-संयम के विरोध में एक प्रतिक्रिया भी थी। भक्तों ने जीवन को अनुशासित और नियंत्रित बनाने की चेष्टा में स्वभावोचित सीमा का उल्लंघन किया था। ऐहिक जीवन की मूल

भित्ति पर प्रहार पर प्रहार किये गये । अतः "शिक्षित और उच्च-श्रेणी के समाज के आश्रित कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा इच्छापूर्ति (wish-fulfilment) का एक अच्छा साधन निकाल लिया । इससे उस समाज की दबी हुई भावनाओं के लिए अच्छा विकास मिल गया ।"

४–'उसके लिए उन्हें सामग्री भी प्रस्तुत मिल गई । भागवत के आधार पर पूववर्ती भक्त-कवियों ने शृंगार-संबंधी बहुत कुछ लिखा था । वहाँ यह प्रेम लीला-प्रसंग था । इन नए कवियों ने राधा-कृष्ण की लीलाओं की मनचाही कल्पना की और उन्हें लीला, रूपक या अध्यात्म के बाहर निकाल स्त्री-पुरुष के यौनाकर्षण का आधार दे कर सामने रखा ।

ऊपर रीतिकाव्य के मनोवैज्ञानिक आधार पर जो लिखा गया है, उसे हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं :

(१) रीतिकाव्य का मानसिक आधार राष्ट्र और समाज की पराजय-भावना में ढूंढना होगा ।

(२) वह तत्कालीन निराशा के प्रकाशन का रूप था ।

(३) पिछले युग में ईश्वर-जैसी भ्रामक वस्तु से जनता ने सहारा लिया था, अब पार्थिव प्रेम और विलासिता की ओर झुकी । आत्मप्रताड़न की भावना दोनों प्रयत्नों में एक ही प्रकार छिपी हुई है ।

(४) रीतिकाव्य भक्तिकाल (१४०० ई०—१६०० ई०)

के धार्मिक निरोधों और नियंत्रणों का ही परिणाम है। मुख्य रूप से राजनैतिक और सामाजिक पराजय-भावना ही भक्तिकाव्य और रीतिकाव्य की आधार-भूमि बतलाई गई है। परन्तु इन तर्कों की सबलता को स्वीकार करते हुए भी यह मानना पड़ता है कि हिंदी रीतिकाव्य मुख्यतः उस आश्रय की कविता की परंपरा का अंतिम विकास था जिसने हमें कालिदास, भवभूति, बाण और धनंजय प्रभृति कवि दिये थे। गुप्तों के समय से कवियों को बराबर राजाश्रय मिल रहा था। जब तक यह राजाश्रय सबल, सचेष्ट और स्वस्थ रहा, तब तक यह काव्य भी सबल, सचेष्ट और स्वस्थ रहा। कालिदास प्रेमविलास, सौन्दर्य और ऐश्वर्य के कवि हैं। संसार के किसी भी साहित्य में कोई एक कवि इन क्षेत्रों में उनके आगे नहीं जा सकता था। परंतु जब राजा और सामंत बिगड़ गये, जब राजाश्रय की रुचि ही कलुषित हो गई, तो फिर राजाश्रय में रचे काव्य में स्वस्थता और आह्लादकता कहाँ से होती? मुसलमान शासकों ने भी ईरानी सामंतों की तरह कवियों और कलाकारों को आश्रय दिया। रुचिवैभिन्न्य और सभ्यता और संस्कृति के अलगाव के कारण मुसलमामी राजाश्रय का साहित्य उतनी उच्च कोटि का नहीं हो सका जितना प्राचीन हिंदू राजाश्रय का साहित्य। वहाँ प्रेम के नाम पर विलासिता और थोथे प्रेम का राज था, प्राणों की अनुभूति नहीं; हृदय की सप्तरंगी सज्जा नहीं, बुद्धि का व्यर्थ का विलास। इसी बिदेशी प्रभाव ने हिंदी के रीतिकाव्य को गर्हित बना

दिया। परंतु वह एकदम अलग-अलग चीज़ नहीं थी। न वह पराजय की उपज थी, न वह धार्मिक नियंत्रणों के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। एक विशेष सामंतीवर्ग में चली आती काव्यपरंपरा की वह अंतिम परिणति थी।

नायक-नायिकाभेद, परकीया, दूति—रीतिकाव्य के विशिष्ट अंग हैं। डा० वार्ष्णेय ने इनकी भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है—"नायक-नायिकाभेद के मूल में स्त्री-पुरुष के वास्तविक पारस्परिक संबन्ध का विशद विवेचन है।" परंतु यह भी कह देना चाहिये कि हिंदी नायिकाभेद संस्कृत के नाटक-संबंधी शास्त्रों और कामशास्त्र के आधार पर खड़ा किया गया था। सिद्धसामंतयुगीन संस्कृत साहित्य में इसका बड़ा भारी गोरख-धन्धा खड़ा कर लिया गया था। अतः यह कोई नई प्रवृत्ति थी ही नहीं, अनुकरण-मात्र था। इसके लिये रीतिकवियों को क्या श्रेय दिया जाय? 'परकीया' नायिका पर विचार करते हुए डाक्टर साहब ने पश्चिमी विद्वानों के उद्धरण देकर स्त्री-पुरुष दोनों की मूल बहुवैवाहिक प्रवृत्ति की दुहाई दी है। परन्तु यों तो संसार के सारे महाकाव्य, कथाकाव्य, उपन्यास और चित्रपट 'परकीया' पर आश्रित हैं। शरतचंद और हार्डी के सारे उपन्यास परकीया को लेकर चले हैं। वे जिसे शरीर अर्पण करती हैं, उसे मन नहीं अर्पण कर सकतीं। यह द्वैध व्यक्तित्व उन्हें तोड़ देता है। समाज की एकविवाहपद्धति, आचारसंबंधी भावना, परिस्थितियों की उलझन, मनुष्य-मनुष्य का रुचि-वैभिन्न्य, स्वयं

नारी की अपूर्णता—न जाने कितनी ऐसी बातें हैं जो समाज में अवैध प्रेम, अभिसार और अवैध यौन-संबंध को जन्म देती हैं। इसके लिए हिंदी या संस्कृत का कवि ही लांछित क्यों हो ? प्रेमभाव में गहनता लाने के लिए बंगाल के भावुक वैष्णव भक्तों को भगवान की उपासना भी 'परकीया' भाव से करनी पड़ी। हिन्दू समाज में प्रेम वैवाहिक जीवन के बाद उत्पन्न होता है, अतः दाम्पत्य जीवन में प्रेम का विकास कवि कैसे दिखाये, कौन-सी बाधाएँ कवि पार करे और समाज बाधाओं को तो लांछा समझता है। विवाह के पहले और बाद स्त्री का कोई जीवन नहीं है। पति के प्रति आत्मसमर्पण ही जहाँ प्रेम का सर्वोच्च विकास है, वहाँ काव्य और कला का विषय क्या होगा ? इसी से रीतिकवियों ने नया विषय निकाला। राधाकृष्ण और राधा के पति आयण घोषाल संबन्धी ब्रह्मवैवर्त पुराण की मान्यता और चंडीदास की कविता ने इस भावना को आगे बढ़ाया। राधाकृष्ण और आयण के प्रतीकों के हट जाने से यह सारा काव्य दैनिक जीवन के स्तर पर उतर आया। तब समाज की आचार-भावना पर इसने आघात किया और यह लांछित हो गया। इसके लिए हमें मूल मानव की बहुवैवाहिक प्रवृत्ति की बात उठाने की कोई आवश्यकता नहीं है। रही दूती की बात। वह तो संस्कृत नाटकों में शताब्दियों से जीती-जागती मौजूद है। सामंती समाज के आचारप्रधान वातावरण में दूती के बिना प्रेमी-प्रेमिका का

मिलन ही असंभव था। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में नारी इतनी स्वतंत्र नहीं थी कि आप ही अभिसार के लिए निकल पड़े। इससे उसका अभिजात्य जाता रहता। वात्स्यायन ने अपने काम-सूत्र में दूती-प्रसंग पर एक महत्त्वपूर्ण परिच्छेद ही लिख डाला है। जयदेव, विद्यापति और चंडीदास के राधाकृष्ण काव्य में भी दूती महत्त्वपूर्ण है। इसीसे रीतिकाव्य में भी दूती को महत्त्वपूर्ण स्थान मिल गया। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने साहित्य के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तत्त्वों की खोज-बीन करें। रीतिकाव्य को 'आध्यात्मिकता की प्रतिक्रिया' या 'इंद्रियों की पुकार' कह देना भर कोई बड़ा साहस का काम नहीं है।

———

७

पांडित्य और काव्यकला

पिछले अध्याय में हमने रीतिकाव्य पर विचार किया है। रीतिकाव्य के संबंध में एक बड़ी समस्या यह भी उत्पन्न होती है कि कविता, पांडित्य और कला में परस्पर क्या संबंध है। रीतिकाव्य में पांडित्य और कला की मात्रा विशेष है, इससे यह समस्या उसके सम्बन्ध में और भी अधिक महत्त्व-पूर्ण है।

लोगों के मन में यह धारणा बहुत काल से चली आती है कि कविता और पांडित्य में केवल विरोध का संबन्ध है। इस धारणा को एकदम भ्रांतिमूलक नहीं कहा जा सकता। कविता के सहज प्रवाह में पांडित्य बहुत हद तक बाधक है। केवल कुछ बहुत थोड़े कवि ऐसे हैं जिनमें सहज काव्य-प्रतिभा और पांडित्य का मणि-कांचन संयोग स्थापित हो सका है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि कवि विभिन्न प्रकार के ज्ञान-विज्ञान का अर्जन नहीं करे। काव्य चाहे बुद्धिप्रसूत न हो, यह निश्चित है कि उसमें स्थान-स्थान पर ऐसे तत्त्व आयेंगे

जिनके लिए विविध विषयों का ज्ञान अपेक्षित होगा। उन्हें छोड़ कर कवि अपने काव्य के साथ अन्याय करेगा। परन्तु यदि कवि केवल पांडित्य के बल पर काव्य का रंगमहल खड़ा करना चाहे या पांडित्यप्रदर्शन को ही काव्य मान ले, तो उसे वाणी का आशीर्वाद प्राप्त होना संभव नहीं। सहज कवि-प्रतिभा के बल पर भी श्रेष्ठ काव्य लिखा जा सकता है, परन्तु वहाँ भी भाषा-शैली, कवि-परंपरा, पूर्ववर्ती कवियों के ग्रंथों का अध्ययन इत्यादि अनिवार्य हैं। इस तरह हम कविता के अध्ययन के लिए कला, पांडित्य और कविकर्म की बात उठाते हैं।

हिन्दी कविता में हमें सूर और कबीर जैसे कवि मिलते हैं जिनकी सहज प्रतिभा उनके पांडित्य को इतना दबा देती है कि हमें उसका ज़रा भी आभास नहीं होता। जैसे बसंत के आने पर पेड़ों से अंकुर अनायास ही फूट पड़ते हैं, वैसे ही उनके काव्य में उपमा-उत्प्रेक्षा, कवि-परंपरा, छंद और भाषा का वैभव अनायास ही प्राप्त हो जाता है। परन्तु इसके साथ तुलसी, रहीम और केशव का काव्य है, बिहारी की वाग्वि-लासिनी वाणी है, जो पांडित्यजीवी है। तुलसी की कविता में पांडित्य की गहरी नींव दी गई है, यद्यपि उनकी कला रामभक्ति के प्रखर उत्साह के कारण हिमाद्रि से झरने वाले प्रखर स्रोत की भाँति फूट पड़ी है। उन्होंने स्वयं लिखा है—

अस मानस मानस चख चाही।
भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही॥

भयउ हृदयँ आनंद उछाहू।
उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू॥
चली सुभग कविता सरिता सी।
राम विमल जस जल भरिता-सी॥
(बाल० ३६)

परन्तु उत्तरकांड के जैसे ज्ञानगर्भित प्रसंग भारतीय दार्शनिक परंपरा के अगाध ज्ञान के बिना संभव नहीं हैं। 'केशव की कविताई' तो प्रसिद्ध ही है। परन्तु केशव और तुलसी के काव्य-गत पांडित्य में बड़ा अंतर है। केशव में पांडित्य प्रधान है, कविता की सहजस्फूर्ति गौण। तुलसी में सहज स्फूर्ति ही अधिक है। तुलसी मूलतः भक्त-कवि थे और केशव मूलत: रसिक पंडित-कवि। राज-दरबार से उनका संबंध था। आश्रयदाताओं की प्रशंसा करने में उनकी प्रतिभा चमक उठती थी और उन्हीं के विनोद के लिए वे लिखते थे। सुधी राजसभागण उनके श्रोता थे। श्रोतागणों में संस्कृत का ज्ञान भी अपेक्षित था। ऐसे वातावरण में उन्होंने अपने संस्कृत के पांडित्य और कवि-प्रतिभा से चमत्कार उत्पन्न किये—यह उनकी प्रतिभा का परिचायक है। परन्तु यह प्रतिभा तुलसी की प्रतिभा से भिन्न है। 'रामचंद्रिका' में वे रामकथा भी कहेंगे, नये कवियों को छंद लिखना भी सिखायेंगे, राम को महाराज, ब्रह्मपर और अवतार एक साथ बनायेंगे, शृंगार और भक्ति की विरोधी धाराएँ एक साथ प्रवाहित करेंगे। यह है रामचंद्रिका

की विडंबना। केशव ने सोचा होगा कि इतने विभिन्न, असंबद्ध पहलुओं से पुष्ट उनकी राम-कथा तुलसी की लोकप्रियता को पीछे छोड़ जायेगी, परंतु वे इसी भ्रम में रह गये। तुलसी की राम-कथा का जो स्थान है, वह केशव की रामचंद्रिका को नहीं मिला है न मिलेगा ही। आज पंडितवर्ग में उसकी चर्चा है और पाठ्यपुस्तक होने के कारण उसका अध्ययन-अध्यापन हो जाता है, परतु साधारण जनता के भावपक्ष या विचारक्षेत्र में उसका कोई स्थान नहीं। आज न हम कविता सीखने के लिए उसे पढ़ेंगे, न राम-कथा सुनने के लिए। कला की सर्वोत्कृष्ट रचना होकर भी सहज कवि-स्फूर्ति का बल न पाने के कारण रामचंद्रिका असफल रही। कहाँ तुलसी की कविताधारा स्रोतस्विनी-सी उमड़ी पड़ती है, कहाँ पग-पग पर विलास-कटाक्ष करके ठहरने, मुड़ने, हाव-भाव दिखाने वाली केशव की काव्य-धारा पांडित्य सर्वदा हेय नहीं है। तुलसी और केशव दोनों 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' से परिचित हैं। इन दोनों ग्रंथों की सामग्री का दोनों ने उपयोग किया है। परंतु जहाँ केशव अधिकांश स्थलों पर इन ग्रंथों का अनुवाद ही प्रस्तुत कर रहे हैं, वहाँ तुलसीदास इन ग्रंथों से सहारा-मात्र लेते हैं, यही नहीं, इनसे ली हुई सामग्री को काव्य और मनोविज्ञान से पूर्णतः पुष्ट करके पाठक के सामने रखते हैं। केशव मूल का सौन्दर्य भी समाप्त कर देते हैं। उन्हें न अनुपात का ध्यान रहता है, न काव्यगत सौन्दर्य का, न मनोविज्ञान का। वे संस्कृत कवियों

और नाटककारों की प्रतिभा के नीचे इतना दब गये हैं कि स्वयं उनका स्वरूप विकृत और उनका स्वर अस्वस्थ हो गया है। तुलसी और केशव के संबंध में हमने जो कहा है वह प्रत्येक सहज-स्फूर्ति प्राण कवि और पंडित कवि के संबंध में कहा जा सकता है।

हिंदी कविता में पांडित्य का पहला उद्रेक विद्यापति में ही मिल जाता है। वे रीतिशास्त्र से पूर्णतः अभिज्ञ जान पड़ते हैं। विद्यापति के समय में मिथिला संस्कृत-ज्ञान का केन्द्र था और फिर स्वयं विद्यापति के कितने ही संस्कृत ग्रंथ उनके पांडित्य का प्रमाण हैं। राधा-कृष्ण की सारी कथा को उन्होंने रीतिशास्त्र ज्ञान के सहारे ही भागवत से इतर एक ऐसा रूप दे दिया जिसने बंगाल के वैष्णव काव्य को १६–१७ वीं शताब्दी तक प्रभावित किया। वे कवि-परंपराओं और कवि-रूढ़ियों से इतने परिचित जान पड़ते हैं कि आज उनके काव्य का पूरा-पूरा आनंद उन परंपराओं और रूढ़ियों को जाने बिना नहीं प्राप्त हो सकता। कृष्ण का यह रूप-वर्णन देखिये—

ए सखि कि देखल एक अपरूप। सुनइते मानवि सपन सरूप॥
कमल जुगल पर चाँदक माल। तापर उपजत तरुण तमाल॥
तापर बेढ़ल बिजुरि लता। कालिंदी तीर धीर चलि जाता॥
साखा सिखर सुधाकर पाँति। ताहि नव पालव अरुनक भाँति॥
विमल बिम्ब फल जुगल विकास। तापर कीर थीर करू वास॥
तापर चंचल खंजन जोड़। तापर साँपिनि झाँपल मोड़॥

ए सोखि रङ्गिम कहत निसान। पुन हेरइते हम हरल गेआन ॥
भनइ विद्यापति इह रस भान। सुपुरुष मरम तहू भल जान ॥

यहाँ कमल जुगल=चरण; चाँदक माल=नख; तरुण तमाल=जंघाएँ; साखा=हाथ; सिखर=अँगुलियाँ; सुधाकरपाँति=नखपाँति; विम्बफल=अधर; कीर=नासिका; साँपिनि=अलक। इस 'बीजक' को जाने बिना काव्य का आनंद उठाना तो अलग, उसका अर्थ लगाना भी असंभव है। नारी-सौंदर्य के उद्‌घाटन में विद्यापति ने जिन परंपरागत उपमाओं का प्रयोग किया, उन्हें ही कृष्णभक्ति-काव्य और बाद में रीतिकवि उसी रूप में ग्रहण करते आये हैं। इस प्रकार रीतिकवियों में जिस पांडित्य के दर्शन होते हैं, उसकी परंपरा लगभग ५०० वर्ष चलती है। विद्यापति और सूरदास के दृष्टकूट इस परंपरा पर आश्रित काव्य के 'सुमेरु' हैं।

पांडित्य का एक प्रकार उक्ति-सौन्दर्य और वाग्वैदग्ध्य द्वारा प्रस्फुटित होता है। उसका आरंभ भी विद्यापति से होता है। उक्ति-सौन्दर्य के लिए विद्यापति के काव्य में लोकोक्तियों का प्रयोग एवं दूती-प्रसंग में दूती का वाग्चातुर्य देखना उचित है। लोक में जो सत्य प्रतिष्ठित हो चुका है अथवा जिसे कवि ने अनुभव कर इस योग्य समझा है कि वह लोक-जीवन में प्रतिष्ठित हो, उसे उसने अत्यंत संक्षेप में सुबद्ध रूप में रख दिया है। आज ये लोकोक्तियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। वाग्वैदग्ध्य तो देखने योग्य है। एक ही प्रसंग पर कवि ने अनेक तरह की

कल्पनाओं का आरोप किया है और कवित्वशक्ति और भाँति-भाँति की तर्कप्रधान उक्तियों के द्वारा वाग्वैदग्ध्य की स्थापना की है। उदाहरण के लिए, उन्होंने एक ही स्नानप्रसंग पर कई पद कहे हैं। प्रत्येक पद में नई-नई उद्भावनाएँ उपस्थित की गई हैं। उनके अध्ययन से यह साफ़ पता चल जाता है कि कवि अनुभूति को पीछे डाल कर अपनी उत्प्रेक्षा-पटुता दिखाने की चेष्टा कर रहा है। नायिका नहा रही है या नहा कर उठी है। उसके बालों से पानी की बूंदे झर रही हैं। इस बात को कवि ने तीन पदों में भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पना करते हुए इस कला-विदग्धता के साथ प्रगट किया है—

(१) चिकुर गरए जलधारा
जनि मुख-ससि डरे रोअए अँधारा

(२) चिकुर गरए जलधारा
मेह बरिस जनि मोतिय हारा

(३) केस निगराइते बह जलधारा
चामरे गलय जनि मौतिय हारा

यहाँ अनुभूति का प्रश्न ही नहीं है, कवि को नवीन उद्भावनाएँ प्रिय हैं। पहले पद में वह एक कवि-रूढ़ि का आश्रय लेता है कि अंधकार चंद्रमा के डर से भागता है और रोता है। दूसरे पद में वह ऐसे मेघों की कल्पना करता है जो पानी के बदले मोती बरसाते हैं। तीसरे पद में मेघ का स्थान चमर ने ले लिया जिसमें टँके हुए मोती टूट-टूट कर गिर रहे हैं। ये सब कल्पना

के खेल हैं। यहाँ रस-सृष्टि की बात ही वृथा है। सूरदास और विहारी के काव्य में यह वाग्वैदग्ध्य अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया है। 'नेत्रों के प्रति कहे पदों' और 'भ्रमरगीत' में सूरदास विदग्ध कवि के रूप में ही सामने आते हैं। विहारी की वाग्विदग्धता का क्या कहना ! उदाहरण के लिए—

ढीठि परोसिन ईठि ह्वै कहेजु गहे सयानु।
सबै संदेसे कहि कह्यो मुसुकाहट लौं मानु॥

ईठि (मित्र) होकर ढ़ीठ पड़ोसिन ने सब संदेश कहे जो चतुराई से उसे कहने को मिले थे और अंत में मुस्कुराहट में मान की बात कही। परंतु साहित्य-रीति से परिचित पाठक जानता है कि पड़ोसिन परकीया है, नायक से उसका प्रेम है। मुसकुरा कर मान की बात कहना साधारणतः समझ में नहीं आता परंतु पड़ोसिन याद दिला रही है कि कभी नायिका ने हमें बातें करते देख कर मान किया था, आज उसी ने लाचार हो कर मुझे संदेश के लिए चुना। उसकी ढ़ीठता से इशारा है कि अब दोनों का गुप्तप्रेम खूब चल सकेगा।

रहौ गुही बेनी लख्यौ गुहिबै को त्यौनार
लागे नीर चुवान ये नीठि सुखाये बार

यहाँ नायक नायिका के बाल गूंथने बैठा तो सूखे बालों से पानी झरने लगा। यदि पाठक यह नहीं समझता कि स्पर्श से दम्पति को स्वेद सात्विक भाव प्राप्त हुआ है तो दोहा उस पर खुल ही नहीं सकता।

यह तो हुई पांडित्य की बात। काव्यकला की दृष्टि से भी हमारा काव्य-साहित्य अत्यंत उत्कृष्ट है, परन्तु आधुनिक युग में हमारी कला-संबंधी धारणा बदल गई है। रीतिकाल को हम 'कला-काल' भी कहते हैं। उस समय कवियों की दृष्टि कविता के वाह्यांगों को सँवारने-सुधारने की ओर विशेष थी। विद्यापति के पदों, विहारी के दोहों तथा मतिराम और पद्माकर के सवैयों में कला है। परंतु प्राचीन कला का आदर्श प्रतिष्ठित रूढ़ियों और परंपराओं का पालन एवं अलंकार और अनुप्रास की योजना थी। बिहारी के इस दोहे में असंगति अलंकार का चमत्कार देखिये—

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीत।
परत गाँठ दुरजन हिये, नई दई यह रीत॥

यहाँ इस अलंकार को निभाना ही कला है। रसलीन के इस दोहे को लीजिये—

अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

उपमा और यथासंख्य अलंकार की बड़ी सुन्दर योजना यहाँ हुई है। इस समय 'कला का रूप और सौंदर्य प्रतिष्ठित परंपराओं तथा नियमों के सफल निर्वाह पर ही निर्भर था। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में भी कला का यही आदर्श रहा।' "किंतु स्वच्छंदतावाद आंदोलन (छायावाद) के द्वितीय चरण में प्रतिष्ठित रूढ़ियों, परंपराओं और नियमों को विदा दे दी

गई और कला व्यक्तिगत प्रतिभा की अभिव्यंजना मात्र हो गई। कविता के संगीत और चित्राकंन में अभिव्यक्त होनेवाली कल्पना-शक्ति आधुनिक कवि की काव्यकला की कसौटी है। भाषा की अर्थ और नाद-व्यंजना की सहायता से कवि दृश्य-रूपों की सृष्टि करता है। अब केवल कुछ अलंकारों द्वारा ही किसी वस्तु का वर्णन करना कला नहीं है, वरन् काव्य-जगत की वस्तुओं को स्वप्न-चित्रों के समान पाठकों के सामने उपस्थित कर देना ही कला की सफलता है। आधुनिक काव्य एक जाग्रत स्वप्न है।" (आधुनिक हिं० सा० का विकास, पृ०३९—४०)

८

हिंदू काव्य और हिंदू धर्म

हमारे साहित्य का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण और विशाल अंग हिंदू चिंता और हिंदूधर्म के रस में डूब कर हमारे सामने आया है। उसमें दार्शनिकों, धर्मचेत्ताओं, साधकों और विरक्तों की शतशः अनुभूतियाँ और सहस्रशः विचारधाराएँ रही हैं। वह पहले धर्म के देवमंदिर का पूजा-पुष्प है, साहित्य की रस-श्रेणी में आकर साहित्य-गोष्ठियों और अध्ययन-अध्यापन की वस्तु बाद को बना है। अतः इस सारे साहित्य के अध्ययन की वीथिका के रूप में हमें हिन्दू धर्म का गहरा अध्ययन और उसकी प्रमुख विचार-धाराओं और अनुभूतियों से परिचित होना अत्यंत आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हो जाता है।

हिंदी का सबसे पहला काव्य सिद्धकाव्य है जिसके रचयिता बौद्ध सिद्ध साधक हैं। उनकी साधनाओं पर हिंदू तांत्रिक साधनाओं का प्रभाव स्पष्ट है परंतु उनके काव्य का हिंदू धर्म से कोई सीधा संबन्ध नहीं है। जो कुछ सम्बन्ध है, वह नाथों

के साहित्य और संतों के साहित्य के माध्यम-द्वारा स्थापित होता है। नाथों के साहित्य में सिद्धों की विचार-धारा, उनकी गोप्य साधना, उनके आचार-विचार सभी से अखाडा लेने की भावना दिखलाई पड़ती है। सिद्धों के प्रतीकों को नाथ-साहित्य में अनोखे और ऊँचे आध्यात्मिक अर्थ दे दिये गये हैं। इस प्रकार नाथों ने सिद्धों के धर्म को परिष्कृत किया है और उसे हिंदू धर्म का रूप दिया है।

सिद्धों का साहित्य नैपाल की तराई में बना जो आठवीं शताब्दी में बौद्ध महायानियों का केन्द्र था। परन्तु इस समय सारे भारतवर्ष में हिंदू धर्म का बोलबाला था। ब्रह्मा, विष्णु, शिव और शक्ति की उपासना चल रही थी। शक्ति की उपासना पूर्वी भारत में प्रधान रूप से और ब्रह्मा की उपासना पुष्करतीर्थ जैसे दो-एक स्थानों में ही शेष रह गई थी। परन्तु विष्णु और शिव की मंदिर-पूजा और भक्ति का व्यापक प्रभाव बढ़ रहा था।

हर्ष की मृत्यु के बाद ही हिन्दू राष्ट्र की दृष्टि से भारत का विकेन्द्रीकरण हो गया था। छोटे-छोटे सामंत उठ खड़े हुए थे और उन्होंने धीरे-धीरे युद्ध-वृत्ति को प्रश्रय देकर देश को कलह और कूट प्रपंचों में बाँध दिया था। तीसरी शताब्दी पूर्व ईसवी से ही विदेशी शक, हूण, सिथियन-प्रभृति जातियाँ हिंदू-धर्म में धीरे २ प्रवेश करने लगी थीं और इन युद्ध-व्यवसायी जातियों को क्षत्रिय वर्ग में ब्राह्मणों द्वारा स्थान मिल चुका था।

७ वीं – ८ वीं शताब्दी तक यह प्रक्रिया चलती रही और इसने वीरदर्पी, उद्दंड, साहसी, मृग्या-प्रिय, युद्धलिप्स राजपूत जाति के अनेक वंशों को जन्म दिया। १२ वीं शताब्दी तक देश का शासन पूर्णतय: इनके हाथ में था। विष्णु, सूर्य और बुद्ध की उपासना का उल्लेख हर्ष के जीवनचरित्र में मिलता है। राजपूत वीरताप्रिय थे। ६ वीं शताब्दी के बाद से देश के धर्म, समाज और राजनीति में योगियों का महत्त्व विशेष हो गया और १३-१४ वीं शताब्दी तक धम और समाज में इनका प्रभुत्व महत्त्वपूर्ण रूप से बना हुआ था। ये योगी शिव के उपासक थे। इन्होंने शिवभक्ति का ही प्रचार किया। वे स्वयं राजनैतिक पक्ष लेकर लड़ते थे—पृथ्वीराज रासो में एक योगीराज के युद्ध का विस्तृत वर्णन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के योग-काव्य (नाथ-काव्य) और वीरकाव्य पर हिन्दू धर्म की महत्त्वपूर्ण छाप है। यह छाप या तो नाथों में होकर आई है या हिन्दूधर्म के सम-सामयिक धार्मिक प्रभाव के कारण। वीरगाथाकाव्य धार्मिक काव्य नहीं है, परन्तु उसमें मूल रूप से हिन्दूधर्म का आदर्श ही स्थापित हुआ है। मनु-पाराशर व्यवस्थाकारों ने जिस आदर्श क्षत्रिय की कल्पना की थी, वह वीरकाव्य में मूर्त होकर हमारे सामने आता है।

महमूद ग़ज़नवी ने जब ११ वीं शताब्दी के आरंभ में भारत-वर्ष पर आक्रमण किया तो मथुरा-वृन्दावन और गुजरात

(सोमनाथ) आदि स्थानों पर वैभवशाली मंदिर उपस्थित थे जिनमें पूजाकृत्य अत्यंत विधि-विधान से संपन्न होते थे। इन मंदिरों में श्रद्धामूलक व्यवस्थापूर्ण पूजापद्धति चलती थी। विष्णु और शिव विशेष रूप से प्रिय थे। 'सोमनाथ' शिव ही थे परंतु वृन्दावन में कृष्ण की पूजा-भक्ति ही प्रचलित होगी, यह संभावना ग़लत नहीं होगी। देश में स्थान-स्थान पर बौद्धों के चैत्य, विहार और विद्यापीठ थे यद्यपि उनका प्रभाव धीरे-धीरे नष्ट हो रहा था। शंकर और मंडन मिश्र प्रभृति आचार्यों ने बौद्ध दार्शनिकों और आचार्यों के प्रभाव को नष्ट कर दिया था, हिन्दू योगियों ने वामाचारी सिद्ध साधकों को। इसलिए बंगाल को छोड़कर शेष भारतवर्ष में बौद्धों के केन्द्र नहीं रह गये थे। चैत्य और विहार हिदू मंदिर हो गये थे और देश भर में छतरियों, समाधियों और मंदिरों की धूम थी। योगियों के साथ-साथ सन्यासियों का एक विशाल समाज प्रतिष्ठित हो गया था और नवीन हिन्दुत्व की रक्षा का भार उठाने के लिए वह विशेष रूप से सतर्क था। मुंडित-मस्तक काषायधारी बौद्धों और इन सन्यासियों में कोई विशेष अंतर भी नहीं था। अतः साधारण जनता ने शीघ्र ही यह परिवर्तन स्वीकार कर लिया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १० वीं शताब्दी से १२ वीं शती तक देश में साकारोपासना का प्राधान्य था और विभिन्न देवताओं की पूजार्चना चलती थी। वेदांतियों, योगियों

पंडितों—सब की इन नाम-रूप-संपन्न देवताओं में आस्था थी। निराकार की उपासना पंडितों और विशेष व्यक्तियों को चाहे मान्य रही हो, चाहे कुछ जन मूर्ति को निराकार का प्रतीक मान कर चल रहे हों, परंतु साधारण जनता में मूर्ति-पूजा का प्राधान्य था और पुराणों के कथाप्रवाह के कारण अनेक देवताओं से विष्णु का अवतार-संबंध स्थिर हो चुका था। भागवत, अध्यात्म रामायण आदि ग्रंथ इसी समय बने। हिंदी में इस युग के धर्मकाव्य का अभाव है। यदि वह मिल सकता तो हमें गीतों (पदों) की वह परंपरा प्राप्त हो जाती, जिसको हम कबीर और सूरदास के काव्य में विकसित पाते हैं। उस समय हिंदी का रूप अनगढ़ था, १० वीं शताब्दी तक अपभ्रंश का ही काव्य-भाषा के रूप में राज्य था। हाँ, लोक-भाषा हिंदी हो रही थी और इसमें साकारोपासना के भक्तिगीत अवश्य लिखे गये होंगे। इस साकारोपासना के साहित्य की परंपरा बाद में सूरदास और तुलसीदास द्वारा प्रतिष्ठित हुई।

परंतु यह आश्चर्य का विषय है कि इस सारे साकारोपासक प्रदेश के भीतर से हिंदी की वाणी फूटी तो उसने निराकार की अभ्यर्थना की। इसका समाधान भी हमारे पास है। साकारोपासना इस देश की कई शताब्दियों की परंपरा थी। उसके लोक-साहित्य पर ध्यान जाना अनिवार्य नहीं था। वह वस्तुस्थिति के अनुकूल था। कबीर की वाणी में पहली बार इसका विरोध मुखरित हुआ और इस वाणी में इतना बल था कि

यह देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गई। इसके अतिरिक्त शीघ्र ही यह विरोधी वाणी अनेक संप्रदायों में जड़ीभूत होकर युग की स्थायी संपत्ति बन गई और आज भी अनेक संप्रदायों में सुरक्षित है। कबीर के 'शब्दों' को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें साकार रामकृष्णोपासना, शिव, विष्णु और शक्ति की भक्ति का अत्यंत सतर्कता, तेज और बल से विरोध करना पड़ा है। इससे कबीर के समय में साकारोपासना की प्रबलता ही लक्षित है।

हिंदी साकारकाव्य १६ वीं शताब्दी में सूर-तुलसी से आरम्भ होता है, परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यह भावना नष्ट हो चुकी थी। वास्तव में साकारोपासना साकार की भक्ति के रूप में धीरे-धीरे और भी दृढ़ और विकसित हो रही थी। १०० वर्षों का संतों का विरोध इसका मूलोच्छेदन नहीं कर सका और जब हमें इसका पहला परिचय हुआ तो हम इसे सारी शक्ति के साथ निराकार ब्रह्म और ज्ञान के साधन रूप की महत्ता के विरुद्ध खड़ा पाते हैं। तुलसी का 'कागभुशुण्डि-प्रसंग' और 'ज्ञानदीप' एवं सूरदास-नंददास के भ्रमरगीत इसके प्रमाण हैं। धीरे-धीरे यह विरोध कम हो गया। विरोधी दल बना रहा। अब भी निराकार के उपासक अनेक संप्रदाय चले आ रहे हैं, परंतु प्रधानता साकार भक्ति की ही रही। अतः हिंदी के धार्मिककाव्य के दो भाग किये जाते हैं :

(१) निराकार की ज्ञानमूलक पहचान एवं प्रेममूलक साधना।

(२) साकार की भक्तिमूलक साधना

दूसरे वर्ग में साधना के लक्ष्य या साधक के इष्टदेव के नाम-रूप की दृष्टि से भेद पड़ जाता है। साकारोपासना के प्रधान इष्ट-देव रहे शिव, हनुमान, राम, कृष्ण, शक्ति, पंचदेव। वैसे इष्ट-देवों की क्या गिनती ? रामभक्तिशाखा और कृष्णभक्तिशाखा नाम देकर हम कोई विशिष्ट विभाजन उपस्थित नहीं करते। इसी प्रकार भक्ति के अनेक भेदों के कारण भी विशेष वर्गीकरण संभव नहीं है। हमारे समय तक ये दोनों धाराएँ निरंतर क्षीण बल होती हुई भी बनी हुई हैं। इन दोनों धाराओं के काव्यसाहित्य में जो भावनाएँ और विचारधाराएँ प्रकाशित हुई हैं, उन्हें भलीभाँति हृदयंगम करने के लिए हिंदू-धर्म के मूल तत्त्वों और उसके स्वरूप एवं उसके अंगों का समझना आवश्यक है। अतः हम भिन्न-भिन्न शीर्षक देकर हिंदूधर्म और हिंदी काव्यसाहित्य का संबंध स्थापित करने की चेष्टा करेंगे।

(१) ज्ञान और अनुभूति

ज्ञान और अनुभूति—इन दोनों साधनाओं में से सत्य की परख और उस तक पहुँचने के लिए कौन अधिक आवश्यक है ? क्या इन दोनों के द्वारा एक ही सत्य जाना जा सकता है ?

क्या इन दोनों के द्वारा उपस्थित साक्षियाँ भिन्न नहीं हैं ? ये महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। हिंदू दार्शनिकों ने ज्ञान को ही विशेष महत्त्व दिया है। आचार्यों ने भाव-क्षेत्र को पीछे डाल कर ही एकांत सत्य की खोज का बीड़ा उठाया है और समस्याओं के मूल तक पहुँचने के लिए तर्क पर तर्क उपस्थित किये हैं। परंतु अंत में वे हार कर बैठ जाते हैं। ज्ञान से सत्य को साक्षात् नहीं किया जा सकता—सत्य को तो सच्चा सत्यसेवी ही पहचानेगा। हाँ, सत्य की शोध हमें उससे साक्षात्कार के लिए तैयार कर देगी। वेश्या सतीत्व के आनंद को क्या जाने ? उसे वह चमक क्या दिखलाई देगी जो सती की आँखों को दैवी बल देती है ?

सत्य तो यह है कि संसार की प्रत्येक वस्तु नश्वर है, अस्थायी है, आभास-मात्र है। तब प्रश्न यह होता है कि क्या प्रत्येक वस्तु नाश को प्राप्त हो जाती है, या अगले जीवन के लिये मृत्यु उसे सुरक्षित कर लेती है ? दार्शनिक कहता है कि इस दृष्ट सत्ता के पीछे जो अदृष्ट है वह नाम-रूप हीन अविनश्वर स्थायी वास्तविकता है, शेष नाम-रूपमय संसार असत्य है, मिथ्या है। दृश्यमान जगत के पीछे जो अदृष्ट सत्ता है, उसे ही 'ब्रह्म' कहा गया है। यह ज्ञानगम्य नहीं, इंद्रियगम्य नहीं, अनुभवगम्य नहीं। निराकार के उपासक संत और साकार के उपासक भक्त दोनों यही बात कहते हैं। कबीर कहते हैं :

मन-वाणी को अगम अगोचर सो जाने जो पावै

तुलसी कहते हैं—

सगुनहिं निगुनहिं नहिं कछु भेदा

सूर कहते हैं—

सब विधि अगम विचारहिं ताते
सूर सगुण लीलापद गावै

'शून्य', ब्रह्म', 'राम', कृष्ण—सब दृष्ट जगत के पीछे की अदृष्ट, रहस्यमय वास्तविकता हैं। उन्हें जाना नहीं जा सकता। इंद्रियों से वे परे हैं, मन से परे हैं, ज्ञान, अनुभव और कर्म से परे हैं। 'सो जाने जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हें तुम्हहिं होइ जाई।' (तुलसीदास) वस्तुस्थिति ऐसी ही है। इस रहस्यमय वास्तविकता तक पहुँचना कठिन है। कभी अकस्मात् ही जैसे नील कादम्बिनी में विद्युत्माला कूँद जाये, इस सत्ता के प्रत्यक्ष से हृदय उद्भासित हो जाता है। इसे संत-भक्त इस प्रकार कहते हैं कि यह उसकी कृपा से हुआ, उसकी अनुकंपा के बिना यह असंभव था। दोनों इस अप्रत्याशित-अनुभव के लिए अपने को तैयार करते हैं। संतों का सारा आचारशास्त्र और प्रेम-योग-साधना और भक्तों की सारी शास्त्रीय-पद्धतियाँ इस अंत:दर्शन (ईशानुकंपा) की वीथिका-मात्र तैयार करती हैं। व्रत-नियम, यज्ञ-याग, पूर्जाचना, शम-दम, संयम और ईशानुरक्ति, भक्ति के नवधा या षटधा-स्वरूप साधक के हृदय, मन, बुद्धि और आत्मा का मार्जन कर उसे इस अंतिम लक्ष्य (ब्रह्मदर्शन) के लिए तैयार करते हैं। यही इनकी उपादेयता है।

प्राणायाम, चक्रभेद और अखंड ब्रह्मचर्य – ये योगियों के मार्ग हैं। उच्चकोटि का नैतिक आचरण, गृहस्थ भाव में विरक्ति, कर्मयोग के साथ त्याग, सहज स्मरण (सुरति) ये संतों के साधन हैं जो अपेक्षाकृत सुलभ हैं। भक्तों ने सारी इंद्रियों के समस्त विकारों को ईशानुगम करके इन दोनों प्रकार के साधनों से पराङ्मुख होना सीखा है। इस प्रकार योगी, संत और भक्त के साधन उत्तरोत्तर सुगम हो गये हैं। विराग से राग की ओर प्रगति हुई है। जो साधना समाज से दूर भागती थी, वह क्रमशः समाज के भीतर प्रतिष्ठित हुई और उसे साथ लेकर चलने लगी। संत का वैराग्य उसे माया-जन्य संसार से दूर भगाता है, भक्त उसके सौन्दर्य, शक्ति और ऐश्वर्य को भगवान का सौन्दर्य, शक्ति और ऐश्वर्य समझता है। उसकी इंद्रियों के सारे राग ईश्वरोन्मुख हो जाते हैं। सब वस्तुओं में उसके ही प्रसाद का स्वाद चखता है, वाणी का प्रयोग उसके ही गुणगान में करता है, उसी के स्पर्श से उसे रोमांच आता है। इस प्रकार की रागोन्मुखता विराग से किस प्रकार कम है ? भगवान कृष्ण ने कहा है –

यः निशा सर्वभूतानां पश्यंति तं योगिना

इस प्रकार भक्तसाधक इंद्रियों के गुणों को भगवान में लय करके उन्हें अलौकिक और असाधारण शक्तिमय एवं आनन्दसम्पन्न बना देता है।

(२) निराकार-साकार

हिन्दी धार्मिक काव्य का एक बड़ा भाग ब्रह्म को निराकार अथवा साकार मान कर चलता है। मान कर चला ही नहीं है उसमें पक्ष-विपक्ष पर अनेक तर्क हैं। तुलसी के 'मानस' और सूरदास-नंददासके 'भ्रमरगीत' के यही विषय हैं।

'ब्रह्म' शब्द का पहला आगम उपनिषद् हैं। यहीं इस शब्द की अनेक प्रकार की परिभाषाएँ मिलेंगी जैसे 'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्। तद्धावतो ऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥ तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥ स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

इन अनंत गुणों वाले और विरोधी गुणों वाले ब्रह्म का ज्ञान मनुष्य कहाँ तक पा सकेगा? ऋषि कहते हैं —

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥
(केन II, ३)

इसी से तो साधक को उसके सामने नत-मस्तक होकर उसकी श्रद्धा को सिर पर चढ़ा कर ही आना पड़ेगा। केन I, २, ३, ४—८ में ब्रह्म का अत्यंत विस्तारपूर्वक वर्णन मिलेगा। उप-

निषद् के ऋषियों ने ब्रह्म की विरोधी धर्माश्रयता में निराकार-साकार की समस्या का समाहार कर लिया है ।

उपनिषद् में ब्रह्म का प्रतीक ओम् माना गया है और उसी के जाप (स्मरण) को ब्रह्म-प्राप्ति का एक साधन माना गया है । 'वृहदारण्यक' में इस जाप के द्वारा ब्रह्मसिद्धि प्राप्त करने वाले योगी की अन्तःअनुभूति के विशद वर्णन मिलते हैं । वास्तव में उपनिषद् में कर्मकांडों (यज्ञादि) का स्पष्ट विरोध है और उन्हें जर्जर नौका बताया गया है । उपनिषदों की साधना निश्चय ही अंतस्साधना है जिसमें आचार की प्रधानता है । योग, बौद्ध और जैन विचार-धाराओं में इसी प्रकार की आचार-मूलक अंतःसाधना पर बल दिया गया है । कालांतर में यही विचारप्रवाह व्यक्ति और समय की विभिन्नताओं से छन कर संत-मार्ग के रूप में हमारे सामने आता है ।

जब दूसरी शताब्दी पूर्व ईसवी के लगभग हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हुआ तो उसमें मूर्तिपूजा की प्रतिष्ठा हो गई और विष्णु, ब्रह्मा, शिव की त्रिमूर्ति एवं अनेक शक्तियों की उपासना चली । हिन्दू आचार्यों ने वेद-उपनिषदों से इस नवीन परंपरा का संबंध जोड़ने के लिए अवतारवाद की कल्पना की और निराकार के साथ साकार ब्रह्म की भी महत्ता बताई । इस प्रकार धर्म के क्षेत्र में एक नवीन परंपरा की उपज से दर्शनक्षेत्र में भी उसको स्थान देना पड़ा । अवतारों की प्रतिष्ठा अनेक प्रकार से अनेक पुराणों के द्वारा हुई । पहले सब अवतार विष्णु के

रूप माने गये। ब्रह्म को भुला ही दिया गया। फिर शनैःशनैः उपनिषदों के ब्रह्म से अवतारों का संबंध जोड़ा गया और आचार्यों ने अनेक प्रकार से ब्रह्म के अवतार लेने एवं व्यूह आदि की कल्पना की। अंत में अवतारी पुरुष रामकृष्ण को ही ब्रह्म या ब्रह्मपर मान लिया गया। सूरदास और तुलसीदास के काव्य में हम इस अंतिम स्थिति को पाते हैं।

(३) साधना और उसका लक्ष्य

समस्त साधनाओं का लक्ष्य एक ही है—मोक्ष या मुक्ति। मुक्ति के तीन प्रकार हैं—सारूप्य, सालोक्य, सायुज्य। सारूप्य में साधक भगवान का ही रूप हो जाता है। सालोक्य में वह भगवान के लोक में निवास कर उनकी लीला में भाग लेता है। सायुज्य में वह उनसे एकाकार हो जाता है। भक्तों का ध्येय सालोक्य है जिसमें वह लीला-संग के सुख की प्राप्ति कर सके। संत सायुज्य चाहता है क्योंकि उसके मत में वह चिरशक्ति का अंश है और अंत में उसी शक्ति में लीन हो जाना उसका ध्येय है। संतों और भक्तों दोनों ने यह चाहा है कि वे ससीम आत्मा में असीम का अनुभव करें। यही नहीं, उस असीम सत्ता से ससीम आत्मा तादात्म्य स्थापित करे। आत्मा की संभावनाएँ अनेक हैं, बहुमुखी हैं। ब्रह्म भी अनंतमुख, अनंतपाद है। अतः कोई एक निश्चित मार्ग नहीं है। किसी भी मार्ग से उस तक पहुँचा जा सकता है। इसी से उपनिषद् कहते हैं—'एकं सद् विप्रं बहुधा

वदामि।'[1] परन्तु फिर भी मनुष्य की आध्यात्मिक चेष्टाओं को हिन्दू नेताओं ने तीन भागों में बाँटा है—(१) ज्ञानमार्ग (२) भक्तिमार्ग (३) कर्ममार्ग। परन्तु ज्ञान, भक्ति और कर्म के आधार हैं बुद्धि, हृदय और मन। हिन्दू धर्मशास्त्रों में इनके संतुलन की बड़ी सुन्दर व्यवस्था है। साधारण रूप से धर्मशास्त्र ऐसे ही ज्ञान को ज्ञान मानते हैं जो परोक्ष सत्ता से, उस प्रेममय व्यक्तित्व से जो सर्वव्यापक होकर भी मनुष्य के अन्तर में निवास करता है, उस महान् से हमारा संबंध स्थापित करता है। उपनिषदों में ऐसे अनेक आख्यान हैं जो आत्म-ज्ञान को ही सर्वोपरि ज्ञान बताते हैं। सनत्कुमार के पूछने पर नारद ने तत्त्वविद्याओं के अनेक नाम गिनाये हैं जिनमें वे पारंगत थे। इस पर सनत्कुमार ने कहा—तूने जो कुछ भी यह अध्ययन किया है, शब्दमात्र है। वास्तव में हिन्दू-चिंतन के अनुसार ब्रह्म साक्षात्कार ही एक-मात्र ज्ञान है। इस चरम ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति न तर्क से होगी, न कल्पना से। 'ज्ञानं विज्ञानं सहितम्'—गीता ने कहा है। परन्तु इतना ही यथेष्ट नहीं है। चाहिये साधना से शुद्ध किया हुआ मन और प्रेम से संवेदित हृदय। इसी से संतसाहित्य के तीन अंग हैं :

---

[1] "As the birds float in the air, as the fish swim in the sea, leaving no trace behind, even so are the paths to God traversed by the seekers of spirit" (The Heart of Hindustan p. 9)

(१) *विज्ञान* – तर्क-द्वारा अर्जित वास्तविकता का ज्ञान।

(२) मनः-शुद्धि की साधना – योग के शम-दम आदि से समन्वित सहजयोग और कुण्डलीभेदन।

(३) भक्तिपूर्ण हृदय से संयोग और वियोग की अनुभूति अंत में तो हृदय के द्वारा ही उस तक पहुँचा जा सकेगा। ज्ञान और भक्ति किसी एक पर कितना बल दिया गया है, यह चिंत्य है। संतों और भक्तों दोनों में ज्ञान की महत्ता है, परन्तु संतों में अधिक। भक्तों में भी कृष्णभक्ति लगभग ज्ञानविरल है। केवल इतने ही भेदभाव से भ्रमरगीतकाव्य में भक्तों का ज्ञानविरोध स्तुत्य नहीं कहा जा सकेगा। उसका तात्कालीन और सांप्रदायिक रूप स्पष्ट है। रामभक्त तुलसी ने ज्ञान को तेज कृपाण की धार कहा है। वास्तव में ज्ञान-भक्ति का विरोध निराकार-साकार का विरोध है। निर्गुण मत इस प्रकार है –

× × अज अद्वैत अगुन हृदयेमा।

अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥
मन गोतीत अमल अविनासी। निर्विकार निरवधि सुखरासी॥
सौं तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। वारि-बीचि इव गावहिं वेदा॥

(उत्तर० दो० १११)

साकारोपासक तुलसी भी ब्रह्म राम के लिए लगभग इन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं –

व्यापक व्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता॥
अगुन अदंभ गिरा गोतीता। समदरसी अनवद्य अजीता॥

निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्यनिरंजन सुख संदोहा ॥
प्रकृतिपार प्रभु सब उर वासी। ब्रह्म निरीह विरज अविनासी ॥

(उत्तर, ७२)

भेद केवल इतना है कि यह ब्रह्म राम सगुण राम-रूप से लीला करते हैं। राम काकभुशुण्डि से कहते हैं – जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि (उ० ८५ क)। साधन के अनेक रूप राम को स्वीकृत हैं –

भगति ज्ञान विज्ञान विरागा। जोग चरित्र रहस्य विभागा ॥
जानव तैं सब कर बहु भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा ॥

परन्तु

मोहि भगत प्रिय संतत

इस प्रकार सगुण भक्ति-पथ में श्रद्धापूर्वक इस बात को स्वीकार कर लिया गया है कि ब्रह्म अवतार लेता है। इसी एक बात से संतों का विरोध है। यहीं से उनका मूर्ति-पूजा, वाह्याचार, उपासना-मार्ग आदि का विरोध शुरू होता है। इन्होंने मध्ययुग में कर्मकांड (यज्ञादि) का स्थान ले लिया था। कबीर ने इसी विरोध को अत्यंत तीव्रता से उपस्थित किया था। अतः तुलसी-सूरदास आदि को कबीर की तेजपूर्ण वाणी का विरोध उसी तेजी के साथ करना पड़ा। सूरदास ने कहा –

रूपरेख गुन जाति जुगत बिन निराधार मन चक्रित धावै ।
ताको सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुनपद गावै ॥

'रूप-रेख-गुन-जाति-जुगत'—लगभग यही शब्द कबीर में बार-बार आते हैं। तुलसी ने समस्त रामचरितमानस का ढाँचा ही कबीर के इस वाक्य पर खड़ा किया है—

दशरथ-सुत तिहु लोक बखाना ।
रामनाम का मरम है आना ॥

ऐसा कह कर 'राम' को निर्गुण ब्रह्म ही स्थापित किया गया है। निर्गुण ब्रह्म ही राम था। तुलसी ने कबीर के इस मत को पूर्वपक्ष में रखा और उत्तरपक्ष में ब्रह्म राम के अवतार का समाधान किया और उनके प्रति अदम्य विश्वासपूर्ण भक्ति की प्रतिष्ठा की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदीकाव्य में तीन साधनों का विशद वर्णन है—योग, ज्ञान और भक्ति। इनमें से ज्ञानमार्ग से योगमार्ग का और योगमार्ग से भक्तिमार्ग का विरोध भी लक्षित है।

(४) इष्टदेव और अन्य देव

हिंदीकाव्य में पंचदेव (विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश, शक्ति) गंगा-यमुना, हनुमान, शिव और शक्ति की भक्ति महत्त्वपूर्ण विषय हैं। परंतु साकारोपासना राम और कृष्ण को ही मुख्य

रूप से लेकर चलती थी। ये ही मुख्य इष्टदेव थे, अन्य देव वर्जित थे। कबीर ने स्पष्टतय: अन्य देवों की उपासना को वेश्यावृत्ति कहा है। भक्तों ने इसे स्पष्ट रूप से नरक की ओर ले जाने वाला बताया है। परंतु देवों को किसी प्रकार स्थान मिल ही गया।

शिव और हनुमान का परम रामभक्त होने के कारण तुलसी के साहित्य में स्थान मिला है। परंतु शिवशक्ति का एक स्वतंत्र साहित्य पहले से ही पूर्वी प्रदेश में चला आ रहा था। राजपूत-काल (६०० ई०—१२०० ई०) में त्रिमूर्ति में से शिव की भक्ति की प्रधानता हो गई थी। हिंदी के पूर्वी प्रदेश काशी और मिथिला एवं राजपूताने में शिव की उपासना अब तक चली आती है। इन्हीं प्रदेशों से शैवकाव्य हमें प्राप्त है। मिथिला की नचारियाँ विद्यापति के समय से ही चली आती हैं। उनका एक अपना साहित्यिक रूप है। राम-कृष्ण के नाते यमुना, सरजू, गंगा और उनसे संबंधित अन्य तीर्थों के प्रति भक्तिभाव प्रगट किये गये हैं। इस प्रकार हिंदी के काव्य में रामकृष्ण के सिवा अन्य देवों की भी प्रतिष्ठा है जो वैष्णव धर्म में ग्राह्य हैं। शक्ति की उपासना का विरोध कबीर में भी मिलता है। बाद को इस उपासना का हिंदीप्रदेश से उन्मूलन हो गया और बंगाल उसका केन्द्र हो गया। अत: हिंदी में शक्तिसंबंधी साहित्य केवल कुछ विनय-पदों तक सीमित है। हिंदीप्रदेश में सीता और राधा ने शक्ति का स्थान ले लिया था। मध्ययुग में

बंगाली पुरोहितों के प्रताप से राजपूताने में दुर्गा की पूजा चली, परंतु संस्कृत स्तोत्रों से ही काम चला लिया गया। किसी नवीन काव्यधारा की सृष्टि नहीं हुई।

इन देवताओं के सिवा अन्य देवताओं को हिंदी काव्य में स्वार्थी, निकम्मा और इर्ष्यालु ही चित्रित किया गया है। अतः उनका कोई महत्त्व नहीं है।

(५) पौराणिकता

यह स्पष्ट है कि हिंदी के साकार काव्य की मूल प्रेरणा पुराण हैं। मध्ययुग में पुराणों का कथा, प्रवचन एवं श्रवण का बड़ा रिवाज था। बाद में इसी के कारण कुछ पुराणों के अनुवाद भी हुए। रामकथा तो [illegible], अध्यात्म एवं काव्य-ग्रंथों से ग्रहण की गई। पुराणों की रामकथा का प्रयोग नहीं किया गया और वहाँ उसमें कोई नवीनता थी भी नहीं। परंतु शिवचरित और कृष्णचरित के लिए पुराणों का आश्रय लिया गया। शिवचरित का आधार शिवपुराण है। कृष्णचरित्र का मुख्यतः भागवत और ब्रह्मवैवर्तपुराण और गौणरूप से महाभारत का खिलपर्व 'हरिवंश'।

सच तो यह है कि मध्ययुग में भागवत यथेष्ट क्रांतिकारी सिद्ध हुआ है। सबसे पहले बल्लभाचार्य ने उसे उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और गीता (प्रस्थानत्रयी) के साथ 'चतुष्टयी' के रूप में स्थान दिया। परंतु भागवत पर निंबार्क और मध्वाचार्य की दृष्टि

पहले ही पड़ चुकी थी। हिंदी में भागवत के आधार पर कई काव्यविषय खड़े किये गये हैं :

(१) कृष्ण और उनकी लीलाएँ

(२) रास, वेणुगीत और भ्रमरगीत

(३) सुदामाचरित

(४) रुक्मिणी चरित

इन सब में कथा को छोड़ कर भागवत का आग्रह विशेष नहीं है। परंतु इससे भागवत का हिंदी पर प्रभाव कम नहीं होता। यही क्या कम है कि नंददास ने इसका अनुवाद किया और सूरदास ने अपने पदों को इसके आधार पर रख कर अपने ग्रन्थ को भागवत का अनुवाद करने में संतोष किया। वास्तव में विशेष-विशेष आचार्यों ने भागवत के विशेष-विशेष अर्थ किये थे। भागवत के विविध प्रसंगों को लेते समय इन्हीं साम्प्रदायिक अर्थों को ग्रहण एवं प्रकाशित किया गया।

परंतु पौराणिकता अन्य स्थानों में भी है। एक तो सारी धार्मिक कविता की शैली ही पौराणिक है, काव्यात्मक नहीं। रामचरितमानस पुराण ही है, भक्तकाव्य नहीं। महाकाव्य तो प्राचीन हिंदी में कोई है ही नहीं। जिन्हें कहा जाता है वह प्रकारांतर में कथा-काव्य या पुराण हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीनता में विश्वास, निगमागम, पुराण और ब्राह्मण में श्रद्धा, नवीनता के प्रति तीव्र संदेह और विरोध,

पौराणिक ढंग के अलंकारों और पौराणिक विषयों का पद-पद पर समावेश, वर्णनादि में संयम—ये मध्ययुग के काव्य की भित्ति हैं। इस काव्य को हम पौराणिक (Classical) श्रेणी में रख सकते हैं, यद्यपि राधाकृष्ण के प्रेमविलास के कारण कृष्ण-काव्य में रोमांस (स्वच्छंदतावाद) का भी समावेश हो जाता है। यह पौराणिक और स्वच्छंदतावादी काव्य कबीर के बुद्धिवादी काव्य के प्रति प्रतिक्रिया भी समझी जा सकती है।

ऊपर जो कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि हिंदी के मध्ययुगीन काव्य में हिंदू धर्म और हिन्दू चिंता का सबसे सुंदर रूप हमारे सामने आता है। उपनिषद्, गीता, भक्तिग्रन्थ, भागवत और ब्रह्मवैवर्तपुराण एवं अध्यात्मरामायण हमारी आर्यचिंता का सर्वश्रेष्ठ मणियाँ हैं। इनका पूरा-पूरा प्रकाश हमें मध्ययुगीन कविता में मिल जाता है। मध्ययुग में इनमें से कुछ ग्रंथों के अनुवाद और भावानुवाद भी उपस्थित किये गये। सूरदास और नंददास ने भागवत के दशमस्कंध की सामग्री को दोहा-चौपाई छन्दों में उपस्थित किया। और भी अनेक कवि अनुवाद तक सीमित रहे। परंतु साधना के रूप में इन ग्रन्थों की सामग्री को पचाकर उन्हें एकांतता नया रूप जहाँ दे दिया गया, वहाँ ही सचमुच हिंदू धर्मचिंता और साधना का सर्वश्रेष्ठ रूप हमें मिलता है। वस्तुत: मध्ययुग के काव्य में हमारी कई हजार वर्ष की शास्त्रचिंता, धर्मचिंता और अध्यात्म-साधना का सार आ जाता है। योग, ब्रह्मज्ञान, भक्ति और रहस्य-

साधना की चार धाराएँ इस देश में अनादिकाल से बह रही थीं। हिन्दी के नाथ साहित्य में हमें पंतजलि के योग-दर्शन का सार मिल जाता है यद्यपि उसमें और भी अनेक तत्त्वों का समावेश है। संतों के काव्य में औपनैषदिक ब्रह्मज्ञान का वैयक्तिक स्फुरण मिलता है। अंतर केवल इतना है कि उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म चिंता का विषय था, संतों के काव्य में वह प्रेम और अंतःस्फूर्ति का विषय भी है। साधारणतः यह कोई बड़ी बात नहीं जान पड़ती, परन्तु मध्ययुग के निर्गुण काव्य से जो परिचित हैं उन्हें यह अंतर बड़ा स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण दिखलाई देगा। वास्तव में उपनिषदों के रहस्यज्ञान की परिणति संतों के काव्य में ही दिखलाई पड़ेगी। इसमें संदेह नहीं कि उपनिषदों में ब्रह्मानंद के आनंद को प्रियमिलन के आनंद के समान कहा है। वृहदारण्यक में लिखा है—तद्यथा प्रियमा स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बह्यं किंचन वेदनांतरमे वमेवायं पुरुषः प्रज्ञानेनात्मना संपरिष्वक्तो ने बाह्यं किंचन वेद नांतरम्। तद्वा अस्य एतदाप्तकामं अकामं रूपम् (IV, ३, २१)। 'जिस प्रकार पति पत्नी से आलिंगित होकर उसे भूल जाता है, जो भीतर है और जो बाहर है, उसी प्रकार उस सर्वव्यापिन् परमात्मतत्त्व से आलिंगित जीवात्मा भीतर-बाहर के सारे पदार्थों को भूल जाता है, उसे उनका ज्ञान ही नहीं रहता'। जीवब्रह्म के इस अलौकिक संबंध की व्यंजना संतकाव्य में अनेक प्रकार से हुई है :

कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरुष एक अविनाशी
(कबीर)

इसी भाव को विकसित करते हुए दादू गाते हैं :

बाला सेज हमारे रे तूँ आव, हौं बारीरे, दासी तुम्हारी रे।
तेरा पंथ निहारूँ रे, सुन्दर सेज सँवारूँ रे, जियरा तुम पर वारूँ रे
तेरा अँगना पेखों रे, तेरा मुखड़ा देखों रे, तब जीवन लेखों रे।
मिलि सुखड़ा दीजे रे, यह लाहा लीजे रे, तुम देखें जीजे रे॥
तेरे प्रेम की माती रे, तेरे रँगड़े राती रे, दादू बारणे जाती रे।
(दादू)

मीरां में यह भावना कृष्ण के नाम से संबंधित होकर राधा और गोपियों की मधुमयी भूमिका में और भी मोहक रूप ग्रहण कर लेती है। भक्ति का तो सारा रूप बदल गया है। प्राचीन भक्ति को वैधी भक्ति या मर्यादा भक्ति कहा गया है। अध्यात्मरामायण में कई स्थलों पर भक्ति के वैधी रूपों की चर्चा है। परंतु जिस विह्वल, अश्रुविजड़ित, भावनाप्रधान, तन्मयासक्तिपूर्ण भक्ति के दर्शन सूरदास, तुलसीदास और हितहरिवंश में होते हैं, वह मध्ययुग का नया विकास है और उसे इसी रूप में देखना उचित होगा। भागवत और ब्रह्मवैवर्तपुराण का आश्रय लेकर मध्ययुग के साधकों ने जिस मधुरभक्ति का विकास किया, वह प्राचीन भक्तिभाव से अनेक सूत्रों द्वारा संबंधित होती हुई भी अंततः अपूर्व है।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि हिंदीकविता में हिन्दू

धर्म के अनेक पक्ष पूर्णतय: पुष्ट होकर हमारे सामने आते हैं और उसमें हिन्दू दार्शनिक चिंता, हिन्दू नैतिक भावना और हिंदू साधना का पूर्ण विकास मिलता है। पश्चिम में धार्मिक कविता (Religious and metaphysical poetry) के नाम पर जो चीज मिलती है, वह मध्ययुग की हिंदी कविता से बहुत नीचे है। उसमें बहुत कुछ ऐसा है जो संप्रदायगत है, परन्तु सार्व-भौमिक भी कम नहीं है। यही चीज़ उसे बड़ा बनाती है।

९

नवीन काव्य

हमारा प्राचीन काव्य हमारे प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों और हमारे जीवनसंबंधी दृष्टिकोणों की उपज है। १८०० ई० तक हमारे प्राचीन संस्कारों और आदर्शों को कोई चुनौती नहीं मिली थी। फलस्वरूप हमारा काव्य हमारी संस्कृति और हमारी आदर्शवादिता का पूर्ण-रूपेण प्रतिनिधित्व करता था। हमारी संस्कृति की इकाई था हमारा संयुक्त परिवार जिसका एक अत्यंत सुन्दर आदर्शचित्र 'रामचरितमानस' (१५७४ ई०) में सुरक्षित है। अवधी कथाकाव्यों और अनेक छोटे आख्यानों और मुक्तकों में इस आदर्श की एक सुव्यवस्थित रूपरेखा हमारे सामने उपस्थित है। हमारी आदर्शवादिता का सबसे सुन्दर रूप हमारी धर्म-भावना में मिलता है और कदाचित् हमारे प्राचीन काव्य में यह अंग अत्यंत व्यापक और पुष्ट है। भारतीय संस्कृति धर्म-प्राण है और यह धर्म-भावना सगुण और निर्गुण काव्य-धाराओं में भली भाँति प्रस्फुटित हुई है। इस धर्म-भावना में जहाँ एक

ओर व्यक्ति की अन्तर्मुखी साधना पर बल है और भक्त की तन्मयासक्ति, संत की सहज-साधना और सूफ़ी की अनलहक़-भावना इस अंतर्मुखी साधना की तीन विभिन्न परिणितियाँ हैं, वहाँ दूसरी ओर लौकिक स्तर पर अनेक वैयक्तिक और सामाजिक गुणों के संग्रह पर भी आग्रह है। दया, क्षमा, तप, अस्तेय, अपरिग्रह, परोपकार, सत्यनिष्ठा इत्यादि श्रेष्ठ मानवीय गुणों के कीर्तिगीतों से हिन्दी का मध्ययुगीन साहित्य पूर्णतय: मुखर है। जो भारतीय संस्कृति उपनिषद्, गीता, भागवत और कालिदास के नाटकों में भुवनभास्कर की भाँति भासमान है, वही कबीर, सूर और तुलसी के काव्य में सहस्रश: सुन्दर गीतों के रूप में विकीर्ण है। इस प्राचीन संस्कृति में परलोक की श्रेष्ठता पूर्णरूप से स्थापित थी परंतु इस लोक की एकदम उपेक्षा भी नहीं थी। लौकिक समृद्धि और ऐश्वर्य का प्रतीक सामंत या राजा था और उसे घेर कर लौकिक काव्य की सृष्टि भी होती थी जिसमें शृंगार और वीररस की प्रधानता रहती थी। हिन्दी के प्राचीन काव्य में चारण और गीतिकाव्य में प्राचीन भारतीय सस्कृति के इस पक्ष का ही विकास मिलता है। वस्तुत: संपूर्ण हिन्दी काव्य हमारी संस्कृति का एक संतुलित चित्र उपस्थित करता है। मुसलमानों के प्रवेश के साथ मध्ययुगीन समाज इस्लामी-ईरानी संस्कृति से परिचित हुआ परन्तु इस संस्कृति के मूलभूत तत्त्व भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्वों से किसी तरह भी भिन्न नहीं थे। फलस्वरूप इस्लामी प्रभाव से हमारी

धार्मिक, रहस्यात्मक और सामंती काव्यप्रवृत्तियों को गहराई ही मिली।

१८०० ई० के बाद हमारी संस्कृति में नये तत्त्वों ने प्रवेश करना चाहा। ये नवीन तत्त्व हमें पश्चिम से मिले। पश्चिम की संस्कृति व्यक्तिप्रधान, वित्तप्राण और एकांततः भौतिक थी। उसमें धार्मिक और नैतिक विचारधारा के क्षेत्र में कोई एकदम क्रांतिकारी चीज़ नहीं थी। पश्चिमी शिक्षा ने हमारे मध्यवित्त समाज में एक ऐसा वर्ग पैदा कर दिया जो धर्म को ढकोसला मानता है और जिसे उच्च नैतिक तत्त्व उपहासास्पद जान पड़ते हैं। आर्थिक संघर्ष के दबाव से संयुक्त परिवार टूटने लगे और सामंती सभ्यता की परंपरा धीरे-धीरे महाजनी सभ्यता का रूप ग्रहण करने लगी। हम मशीनों, होटलों और चमकते हुए सिक्कों की चकाचौंध में आ गये और हमारे समाज के अभिभावकों ने अपना मेरुदंड खो दिया। १६ वीं शताब्दी भारत के लिए संक्रांति काल रही है। वह सच्चे अर्थों में द्वापर है। इन सौ वर्षों में देश पूर्व और पश्चिम के बीच में अपना मार्ग ढूँढ़ता रहा और अन्त में उसने पश्चिम के अनेक तत्त्वों को आत्मसात करते हुए अपनी मौलिक सांस्कृतिक विशेषताओं की रक्षा का निश्चय किया। यह सचमुच बहुत बड़ी बात थी। अभी भी हमारे देश में पूर्व-पश्चिम का संपूर्ण समन्वय स्थापित नहीं हो सका है, परन्तु अब हम पश्चिम के अंधानुकरण को शंका की दृष्टि से देखने लगे हैं।

अंग्रेजी सभ्यता के संपर्क में आकर हमारे समाज के रूप में परिवर्तन हो गया और इस परिवर्तन का प्रभाव हमारे साहित्य और हमारी कविता पर भी पड़ा। आधुनिक हिन्दी कविता में हमारे युग के सुख-दुःख, इच्छायें-आकांक्षाएँ, भाव-अभाव और सफलताएँ-असफलताएँ वाणी प्राप्त करती हैं। हमारे मध्ययुग का समाज अधिकत: धार्मिक था और इस समाज ने हमें भक्तों और संतों का काव्य दिया। गोरखनाथ, कबीर, तुलसी, मीरां का काव्य हमारे मध्ययुगीन धार्मिक काव्य की सर्वोच्च उड़ान है। मध्ययुग के परवर्ती काल में हमारा समाज रसातल को पहुँच गया था और हमारे कवियों ने शृंगार और वासना के गीतों से साहित्य को भर दिया था। १८ वीं शताब्दी तक हमारे समाज में उथल-पुथल बनी रही और हमारे काव्य में एक विलासी और निर्बल देश के स्वर बजते रहे।

अंग्रेज़ आए, ज़माना बदला। मुग़ल-कालीन विलासिता के संरक्षक हिन्दू राज्य नष्ट हो गए परन्तु आधी शताब्दी तक शृंगार रस की धारा उसी तरह बहती रही। इस समय अलंकारों की ऊपरी झनझनाहट और अनुप्रास-चमक के चमत्कार को ही विशेष काव्यगुण मान लिया गया। आधुनिक कविता का आरम्भ भारतेन्दु (१८५०—८५) से होता है। उन्होंने भक्ति और शृंगार को अपना विषय बनाया परन्तु सामयिक घटनाओं पर पहली रचनाएँ भी उन्होंने ही लिखीं। इस प्रकार आधुनिक कविता का आरंभ १८६१ ई० के आस-पास होता है। इसके

बाद पंडित बालकृष्ण भट्ट और श्रीधरपाठक ने आधुनिक कविता को आगे बढ़ाया। इस आधुनिक कविता की एक विशेषता यह थी कि वह अपने समय की जन-भावनाओं की उपेक्षा नहीं करती थी। और दूसरी बात यह थी कि उसने प्राकृतिक व्यापारों को आलम्बन के रूप में अपना विषय बनाया।

आधुनिक कविता का नया रूप सन् १६०० से आरम्भ होता है और इस कविता के नायक महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। इस समय हिन्दू समाज अपने प्राचीन गौरव के गीत गाने में मग्न था। रीतिकाल की प्रेम और विलास की कविता से कवि ऊब गये थे। हिन्दू-राष्ट्रीयता की लहर देश में व्याप रही थी। इस युग के सबसे सुन्दर कवि मैथिलीशरण गुप्त हैं। उन्होंने १६१२ ई० के लगभग 'भारतभारती' की रचना की और आधुनिक कविता में इस रचना के द्वारा राष्ट्रीयता की नींव पड़ी। उनकी अन्य रचनाओं में हमें हिन्दू-संगठन और हिंदू-संस्कृति के सुन्दर चित्र मिलते हैं। 'साकेत' 'द्वापर' 'यशोधरा' हमारे उन पूर्वद पुरुषों के गान हैं जिनकी ओर राष्ट्रीय उत्थान में हमारी दृष्टि गई है। इस युग में हमने पौराणिक आख्यानों को एक नये ढंग से देखा। हरिऔध ने वियोगिनी राधा की जगह कृष्ण के राष्ट्रीय कामों में सहयोग देनेवाली सेवा-प्राण राधा का चित्रण किया है। १६१२ ई० के लगभग हमारी हिन्दी कविता पर अंग्रेज़ी और बंगाली काव्य का प्रभाव पड़ने लगा। इस प्रभाव की रूपरेखा स्थिर होने में देर लगी परन्तु १६१८ ई० में सुमित्रा-

नंदन पंत ने 'वीणा' और 'ग्रंथि' द्वारा और १६२६ में जयशंकर प्रसाद ने 'आँसू' के द्वारा इस नये आधुनिक काव्य को विशेष बल मिला। इस काव्य को लोगों ने 'छायावाद' काव्य कहा। इस काव्य में ईश्वर और जीव के संबंध को लेकर रहस्यवादी भावनाएँ उपस्थित की गई हैं। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, रामकुमार और माखनलाल चतुर्वेदी—ये छायावादी कवियों में अग्रगण्य हैं। इस छायावादी काव्य पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' का प्रभाव था और १६ वीं शताब्दी के अंग्रेजी रोमांटिक कवियों का अनुकरण भी था। अपना भी बहुत कुछ था। हमारे कवियों ने पहली बार आँखें खोल कर संसार को देखा था।

हिन्दी कवियों का नारी और प्राकृतिक व्यापारों के संबंध में एक अत्यंत संकुचित भाव रहा है। हमारे भक्त-कवियों और रीतिकाल के कवियों ने इन काव्य-विषयों की उपेक्षा की है या उन्होंने इन्हें अपने हृदय की उच्छृंखल भावनाओं में रँग कर इनका रूप ही बिगाड़ दिया है। आधुनिक युग के छायावाद काव्य में हम नारी को प्राकृतिक स्थान पर बैठा पाते हैं। वह राष्ट्र-शक्ति है। भोग्या-मात्र नहीं। अब हमारे कवि सूर्योदय और सूर्यास्त के सौन्दर्य पर मुग्ध होना सीख गये हैं। उनके भावक्षेत्र का विकास हुआ है।

छायावाद-युग अभी चल रहा है परंतु नई शक्तियाँ भी क्षेत्र में आ गई हैं। इन शक्तियों में प्रधान शक्ति बच्चन हैं।

उन्होंने आधुनिक कविता को शब्द-जाल के चक्कर से बाहर निकाला है और विद्रोह-भाव भरे उनके गीत हिन्दी क्षेत्र के कोने-कोने में गूँज गये हैं। १९३२ के बाद राष्ट्रीय आन्दोलनों की असफलता ने इस नई काव्यधारा को अत्यंत लोकप्रिय बना दिया। लोग आत्मघात और आत्म-सुख को ही सब कुछ मानने लगे। साथ ही देश में नई राजनैतिक धाराएँ आईं। समाजवादी विचारों ने हमारे कवियों का कंठस्वर बदल दिया और वे रहस्यवाद का आवरण उतार कर मज़दूरों और किसानों के संसार में आ गये। आज के कवियों में सबसे प्रधान सुमित्रा-नंदन पंत हैं। उनकी नई रचनाएँ इस नये युग की गीता है। 'युगांत' 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में उन्होंने मार्क्सवाद और गांधी-वाद के समन्वय की ओर संकेत किया था। 'स्वर्णधूलि', 'स्वर्ण-किरण' और 'युगपथ' नाम की अपनी नई रचनाओं में उन्होंने समाजवाद और मार्क्सवाद के आगे की स्वर्ण-भूमि की ओर संकेत किया है जहाँ आध्यात्मिक और प्राकृत जीवन का सम-न्वय हो जाता है। और भी अनेक कवि हैं जो अपने को 'प्रगतिवादी' कहते हैं। उन्हें रहस्यवाद, निराशावाद, हालावाद और भोगवाद से रुचि नहीं है। वह कला को जीवन की अभि-व्यक्ति-मात्र मानते हैं। वह जनसंस्कृति को आगे बढ़ाने का स्वप्न देख रहे हैं। उनका कहना है कि आज तक का सारा काव्य-साहित्य उच्च वर्गों की उपज है, अतः इसमें उसी वर्ग-विशेष की मनोभूमि मिलती है। नये काव्य के लिए विषय,

भाव, शैली, भाषा, छंद सब में नये प्रयोग करने होंगे और इन प्रयोगों के लिए हमें जनता के पास जाना होगा। जनता के लोकगीतों में जो शैलियाँ और जो छंद सुरक्षित हैं, उन्हें साहित्य का शृंगार बनाना होगा। जहाँ तक सिद्धांत का संबंध है यह ठीक ही है। हमारे देश की संस्कृति हमारे देश का साहित्य गंगा की तरह सर्वसुलभ हो, सबकी चीज़ हो, तब कहना ही क्या? परन्तु जहाँ प्रगतिवादी लोकगीतों और लोककथाओं को ही सब कुछ मान कर साहित्य की गति कुंठित कर देना चाहते हैं, वहाँ बात कुछ समझ में नहीं आती।

(क) हरिश्चंद से महावीरप्रसाद द्विवेदी तक

भारतेन्दु हरिश्चंद (१८५०—८५) से महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८८३—१९३९) तक हमारे आधुनिक काव्य का एक चरण चलता है। द्विवेदी का क्रियात्मक काल १९२१ तक समाप्त हो जाता है। इस तरह इस पहले चरण में लगभग ६० वर्ष आते हैं। इन ६० वर्षों में से पहले ४० वर्ष ब्रजभाषा काव्य के नए विकास से संबंधित हैं। इस विकास के प्रवर्तक और प्रेरक भारतेन्दु ही थे। भारतेन्दु ने अपने युग के ब्रजभाषा काव्य को दो नई दिशाएँ दीं। उन्होंने अपने शृंगार रस के कवित्त-सवैयों में भाषा को नये संस्कारों के साथ उपस्थित किया और उनमें परंपरापालन को छोड़ कर उन्हें स्वयं अपनी मार्मिक अनुभूति से भरा। उनके कवित्त-सवैये घनानंद, रसखान,

ठाकुर और बोधा की रचनाओं की श्रेणी में आते हैं। भाषा की नई भंगिमा, उसका शुद्ध ब्रजरूप, कहीं-कहीं भावों की एकांत नवीनता और अभिव्यंजना की तीव्रता—ये कुछ ऐसी चीजें थीं जो उन्हें परवर्ती रीतिकवियों से एकदम अलग कर देती हैं। आधुनिक कविता की दो मुख्य विशेषताएँ हैं आत्माभिव्यक्ति और भाषाशैली का लाक्षणिक प्रयोग। भारतेन्दु के कवित्त-सवैयों में ये दोनों विशेषताएँ मिल जाती हैं। वह प्रेम के रस में पूर्णतः पगे थे, फलतः उनके कवित्त-सवैये रस में डूब कर निकलते थे और श्रोता का हृदय मोह लेते थे। जब वे कहते हैं—

बैन हूँ अथान लागे,
नैन कुम्हिलान लागे,
प्राननाथ, आओ अब,
प्रान लागे मुरझान

या

देख्यो एक बारहूँ न
नैन भरि तोहि यातें,
जौन-जौन लोक जैहैं
तहीं पछितायँगी।
बिना प्रानप्यारे भये
दरस तिहारे हाय,

देखि लीजो आँखें
ये खुली ही रहि जायँगी ॥

तो वे पद्माकर और द्विजदेव जैसे परम्परावद्ध कवियों से अलग अनुभूति की विह्वलता और वाणी के सहज स्वाभाविक प्रवाह से पुष्ट नये काव्य की ही ओर मुड़ते हैं। प्रसाद की 'कानन-कुसुम' (१६१३) की कविताओं द्वारा हम भारतेन्दु के काव्य और आधुनिक छायावादी काव्य में एक निश्चित संबंध की स्थापना कर सकते हैं। भारतेन्दु की यह नई परंपरा उनके बाद प्रेमघन और सत्यनारायण मिश्र में विकसित हुई है।

परन्तु भारतेन्दु काव्यविषयों में भी परिवर्तन करना चाहते थे और इस तरह ब्रजभाषाकाव्य को अधिक व्यापक भूमि क्षेत्र भी देना उनका ध्येय था। इसके लिए उन्होंने लोकगीतों और लोकछंदों की शैली में सामयिक समाजसुधार एवं राष्ट्रीयता संबंधी रचनाओं का श्रीगणेश किया। मई १८७६ की 'कवि-वचनसुधा' में एक विज्ञप्ति निकाल कर उन्होंने समसामयिकों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था और नये विषय इस प्रकार दिये थे—'बालविवाह से हानि, जन्मपत्र मिलाने की अशास्त्रता, बालकों की शिक्षा, अंगरेजी फैशन से शराब की आदत, भ्रूण-हत्या, फूट और बैर, बहुजातित्व और बहु-भक्तित्व, जन्मभूमि से स्नेह और उसके सुधारने की आवश्यकता का वर्णन, स्वदेशी—हिन्दुस्तान की वस्तु हिन्दुस्तानियों को व्यवहार

करना—इसकी आवश्यकता, इसके गुण, इसके न होने से हानि का वर्णन इत्यादि'—। यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु काव्य को वैयक्तिक भावोच्छ्वास मात्र नहीं समझते थे। वह उसे समाज और राष्ट्र के केन्द्र में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उन्होंने समय की आवश्यकता को समझा था और हिंदी कविता को नई भित्ति देनी चाही थी। उनके बाद इस श्रेणी की कविता की धूम रही। बालकृष्णभट्ट, राधाचरणगोस्वामी, प्रेमघन और अनेकानेक कवियों ने इस नये काव्य में योग दिया। द्विवेदी युग की कविता का एक बड़ा अंश इन विषयों पर लिखा गया है यद्यपि उसकी भाषा खड़ी बोली है। यह स्पष्ट है कि परवर्ती युग में कवियों ने भारतेन्दु के युग-नेतृत्व को स्वीकार कर लिया और समाजसुधार और सामयिक जीवन की विवेचना को काव्य का विषय बनाया। भारतेन्दु जैसी रसदृष्टि और उन जैसा कविहृदय सब के लिए सुलभ नहीं था। फलतः भारतेन्दु के बाद उनकी रसभूमि का प्रसार कुछ इने-गिने कवियों के हाथ में रहा और अधिकांश कवि समाजसुधार और सामयिक विषयों को लेकर बैठे रह गये। फलस्वरूप कविता में इतिवृत्तात्मकता और गद्यात्मक की प्रधानता हो गई।

खड़ी बोली कविता के आदि कवि भारतेन्दु नहीं हैं यद्यपि उनके अनेक प्रयोग आज हमें उपलब्ध हैं। परन्तु प्रयोग प्रयोग हैं और वे ऐतिहासिक महत्त्व से अधिक आगे नहीं बढ़ते। खड़ी

बोली काव्य का प्रारम्भिक विकास श्रीधर पाठक (१८५९-१९२८) की रचनाओं में मिलता है। उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं वसंतागम (१८८१), बसंतराज्य (१८८२), वसन्त (१८८३), हिमालय (१८८४), मेघागम (१८८५), सरस वसंत (१८८५), घनाष्टक (१८८६), एकांतवासी योगी (१८८६), हेमंत (१८८७), ऊजड़ ग्राम (१८८९), शरदसमागत स्वागत (१८९९), घनविजय (१८९९), गुणवंत हेमंत (१९००), नववसंत (१९००), काश्मीर-सुषमा (१९०४), बनाष्टक (१९१२), गोपिकागीत (१९१६) और भारतगीत (१९१८)। इन रचनाओं में साहित्य की सुषमा अधिक नहीं है, परन्तु वे खड़ी बोली की प्राथमिक रचनाएँ होने के कारण महत्त्वपूर्ण हैं। नये छंदों के प्रवर्तन, गीतिशैली के जन्म और विकास और आधुनिक हिंदी कविता में प्रकृति के स्वच्छन्द चित्रण के जन्मदाता के रूप में श्रीधर पाठक सदैव महत्त्वपूर्ण रहेंगे, इसमें किंचित् भी संदेह नहीं। वे कवि की अपेक्षा कविकर्मी ही अधिक हैं, परन्तु उन्होंने नई दिशा में अनेक नई संभावनाओं की सूचना दी है। उनका काव्य समाज-सुधार को नहीं अपनाता परन्तु उसमें राष्ट्रीय जागरूकता की कमी नहीं। कदाचित् खड़ी बोली के सर्वप्रथम राष्ट्रगीत उन्होंने ही गाये हैं।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही खड़ी बोली काव्य की प्रमुख भाषा के रूप में स्वीकृत हो गयी यद्यपि पहले दशाब्द में इस संबंध में पत्रों में वादविवाद ही चलते रहे। इस शताब्दी

के पहले २० वर्षों में खड़ी बोली काव्य का नेतृत्व पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया। वैसे उन्होंने गद्य-पद्य के भाषा-संस्कार में ही अपनी शक्ति सबसे अधिक लगाई और इसी क्षेत्र में उन्होंने अधिक सफलता भी पाई परंतु 'सरस्वती' के पृष्ठों में उन्होंने काव्य की नई परिभाषा भी उपस्थित की और स्वयं 'काव्यमंजूषा' (१८६५ – १६०२) और 'सुमन' (१८६५ – २०) की कविताओं और 'कुमारसंभवसार' (१६०२) की रचना कर नये कवियों के सामने नये काव्य का आदर्श भी उपस्थित किया। उन्होंने स्पष्ट रूप से रीतिकालीन काव्यधारा का विरोध किया—'वही तुक, वही छन्द, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक। इस पर भी लोग पुरानी ही लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। नखशिख, नायिकाभेद, अलंकारशास्त्र पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ की बनावटी बातों से देवी-देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचाते।' उन्होंने गद्य-पद्य की भाषा के अंतर का विरोध किया और संस्कृत और मराठी काव्य के अनेक आदर्शों की ओर इंगित किया। उनके अनुसार कविता का विशेष गुण मनोरंजकता और प्रभावोत्पादिता है। प्रभावोत्पादकता के लिए कवि को शब्दस्थापना में पटु होना चाहिये, ऐसा भी उन्होंने कहा है। उनका कहना था कि 'कविता सादी हो, जोश से भरी हो, और असलियत से गिरी हुई न हो। सादगी से यह मतलब नहीं कि शब्द-समूह ही सादा हो, परंतु विचार-परंपरा भी सादी हो। भाव और विचार

ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ में न आवे या देर से समझ में आवे। × × असलियत से सिर्फ़ इतना ही मतलब है कि कविता बेबुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो वह मानवी विकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो।' × × 'जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक होता है। काव्य-वस्तु को देखकर किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से वह उस पर कविता करने के लिए विवश हो जाता है, और उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है।' यह कथन चाहे आज क्रांतिकारी नहीं लगे परंतु रीतिकाव्य के सामने रखने पर इन विचारों की प्रगतिशीलता आज भी समझी जा सकती है। काव्य-भाषा के संबंध में उनका मत स्पष्ट था—'ब्रजभाषा की कविता के महत्त्व के गीत अलापने का समय गया। अब फिर नहीं आने का। ब्रज की बोली में कविता न करने या उस बोली को न जानने वाले चाहे लंगूर बन जायें चाहे गीदड़, इससे बोल-चाल की भाषा की कविता का प्रवाह वन्द नहीं होगा। (सरस्वती, १५—४—२२८) भाषा के बाद छन्द की बात आती है। द्विवेदीजी किन्हीं विशेष छन्दों के पक्षपाती नहीं थे, परंतु उन्होंने संस्कृत के वर्णवृत्तों का अपने काव्य में विशष रूप से प्रयोग किया। उन्नीसवीं शताब्दी के खड़ी बोली के कवियों ने जनगीतों में प्रचलित कजरी, लावनी, ख्याल, चौबोला आदि शैलियों का प्रयोग किया था। ये छन्द हिंदी की संस्कृति के

अधिक निकट थे। परंतु द्विवेदीजी लोक-जीवन से अधिक साहित्य को देखते थे, फलतः उन्होंने मराठा काव्य का आदर्श लेकर संस्कृत के वर्णवृत्तों को हिंदी में चलाना चाहा। वर्णवृत्त हिंदी की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं थे और हरिऔध के 'प्रिय-प्रवास' (१६१४) को छोड़ कर वर्णवृत्तों में लिखी कोई भी हिंदी-रचना स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सकी है।

द्विवेदीजी के काव्यादर्शों को लेकर चलने वाले कवियों में सबसे प्रमुख मैथिलीशरण गुप्त हैं। द्विवेदीयुग (१६०३—२२) में उन्होंने अपने सर्वश्रेष्ठ काव्यों की रचना नहीं की। ये वर्ष उनके प्रयोगों के वर्ष थे परंतु बाद की रचनाओं में उन्होंने जिन आदर्शों को प्रमुख स्थान दिया वे द्विवेदीजी के काव्यादर्शों का ही विकास था। इसी से उन्हें द्विवेदीयुग का प्रतिनिधि कवि कहा जाता है। गुप्तजी की रचनाओं की अनेक श्रेणियाँ हैं :

(१) पौराणिक काव्य—जयद्रथवध (१६१०), तिलोत्तमा (१६१६), चंद्रहास (१६१६), त्रिपथगा (१६२८), शक्ति (१६२८) और नहुष (१६४०)

(२) खण्डकाव्य और महाकाव्य—पंचवटी (१६२५), साकेत (१६३२), द्वापर (१६३६)

(३) कथाकाव्य—रंग में भंग (१६१०), अनघ (१६२५), गुरुकुल (१६२६), विकटभट (१६२६), सिद्धराज (१६३६) और कुणालगीत (१६४२)

(४) चंपू—यशोधरा (१६३३)

(५) देशभक्तिपूर्ण काव्य—भारतभारती (१६१२), स्वदेशसंगीत (१६२५), किसान (१६१७)

(६) हिंदू-जातीयता—हिंदू (१६२७)

(७) मुक्तक—पद्यप्रबंध (१६१२), वैतालिक (१६१६), झंकार (१६२६), मंगलघट (१६३४)

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि द्विवेदीयुग की सारी प्रवृत्तियाँ हम गुप्तजी के काव्य में एक जगह इकट्ठी पाते हैं और वह भी विकसित रूप में। लगभग ४० वर्षों की काव्य-साधना का इतिहास इन ग्रंथों में सुरक्षित है।

परंतु द्विवेदीजी के प्रभाव के बाहर भी गुप्तजी और उनके काव्य की महत्ता कम नहीं है। गुप्तजी ने केवल द्विवेदीयुग का प्रतिनिधित्व नहीं किया है, उन्होंने हिंदूजातीयता, राष्ट्रीयता, वैष्णव-धर्मभाव और गाँधीवाद को भी अपना हृदय-मन दिया है और उनकी कला समय के साथ बराबर विकसित होती गई है। वे हमारी राष्ट्रीयता के प्रथम उन्नायक हैं—प्रथम वैतालिक हैं। परंतु उनकी राष्ट्रीयता भारतीय संस्कृति और उस संस्कृति की प्रतीक हिंदू-जातीयता की विरोधिनी नहीं है। 'साकेत', 'द्वापर', 'यशोधरा' और झंकार' उनकी ऐसी कृतियाँ हैं जो हमारे काव्य-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं और जिनसे हिंदी कविता गौरवान्वित ही हुई है।

बीसवीं शताब्दी के पहले बीस वर्षों को हम खड़ी बोली कविता का प्रयोगकाल भी कह सकते हैं। इन बीस वर्षों में चरित्र काव्य, कथा-काव्य सामाजिक और राष्ट्रीय कविता, विनोद-व्यंग, प्रकृतिसंबंधी काव्य और गीतों के रूप में सैकड़ों रचनाएँ हिंदी के भंडार में आईं। आज इन रचनाओं में से कितनी पढ़ी जाती हैं ? इनमें स्थायी सामग्री कितनी है ?—इस प्रकार के कुछ प्रश्न उठते हैं। परन्तु प्रत्येक युग में चोटी की रचनाएँ कितनी होती हैं और प्रत्येक युग के साथ क्या लोकप्रियता के तत्त्व बदल नहीं जाते ? परन्तु क्या किसी भव्य प्रसाद की शोभा पर मुग्ध हो कर उसकी नींव की ईंटों के महत्त्व को भुलाया जा सकेगा ? द्विवेदीयुग के अनेकानेक प्रयोगों ने ही खड़ीबोली को इतना सूक्ष्म बनाया कि वह बाद में सौन्दर्य और कला के चित्रमहल बना सकी और 'आँसू' (१९२६), 'पल्लव' (१९२८), 'परिमल' (१९२९) 'कामायनी', (१९३६), 'दीपशिखा' (१९४२) और 'कुरुक्षेत्र' (१९४६) जैसी चीज़ें उसमें सजा सकी। इसमें संदेह नहीं कि द्विवेदीयुग का हिंदीकाव्य भारतेन्दुयुग के बाद के काव्य की अनिवार्य कड़ी है।

(ख) छायावाद काव्यः पंत, निराला, प्रसाद

छायावाद काव्य आधुनिक हिन्दी कविता की एक नई प्रवृत्ति है जिसके जन्म एवं विकास का समय १९०९ ई० से १९३६ ई० तक माना जाता है। परन्तु छायावाद की कविता अब भी

हो रही है, और यद्यपि साहित्यिक आंदोलन के रूप में वह महत्त्वपूर्ण नहीं है, परन्तु परंपरा के रूप में उसका पालन अब भी हो रहा है। १६१८ ई० के लगभग से प्रसाद के 'आँसू' और सुमित्रानंदन पंत की 'वीणा' से खड़ी बोली हिन्दी की कविता की जो धारा चली उसे छायावाद के नाम से पुकारा गया। साधारण जनता में यह नाम अब भी वर्तमान कविता के लिए चल रहा है। जिस किसी ने इस नाम का सूत्रपात किया, उसका उद्देश्य व्यंग था। उसे एक नई श्रेणी की कविता से परिचय प्राप्त हुआ जिसमें उसने बंगाल की श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' और अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों की कविताओं की छाया देखी। बंगाल में जिस अर्थ में रहस्यवाद शब्द का प्रयोग हो रहा था, ठीक उसी अर्थ में, परन्तु निश्चय ही व्यंग से, क्योंकि हिन्दी कविता बंगाली की नक़ल समझी जाती थी, 'छायावाद' का प्रयोग हुआ। धीरे-धीरे छायावाद ने बंगाली भावुकता और रहस्यवादी आध्यात्मिकता के अतिरिक्त अनेक नये अंगों का भी विकास किया, परन्तु नाम चलता रहा। अन्त में व्यंग का भाव भी दूर हो गया परन्तु इसके लिए बहुत समय लगा। अभी हाल तक लम्बे बाल, आकाश की ओर ताकती आँखें, अस्पष्ट भावना, कठिन शब्दावली का प्रयोग, सतर्कता-रहित उच्छृंखल व्यवहार, अव्यावहारिकता—ये बातें छायावादी कवि को विशेषता समझी जाती थीं। उसे कल्पनाजीवी समझा जाता था।

१६०६–१० से १६३६ तक अनेक कवियों ने इस काव्य-

धारा में योग दिया, परन्तु इन कवियों में सब से महत्त्वपूर्ण हैं मुकुटधर पांडेय, रामनाथ सुमन, मोहनलाल महतो, शांतिप्रिय द्विवेदी, सियारामशरण गुप्त, मंगलाप्रसाद विश्वकर्मा, बालकृष्ण राव, जनार्दन झा, नरेन्द्र, तारा पांडेय, बच्चन, इलाचंद जोशी, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा और भगवतीचरण वर्मा। सामूहिक रूप से इस सारे काव्य का अध्ययन बड़ा रोचक है। यह स्पष्ट है कि इस शताब्दी का पहला दशक बीतते-बीतते छायावाद की धारा ऊपर आने लगी थी। १६००-१० ई० की सरस्वती का अध्ययन करने से पता चलता है कि द्विवेदीयुग की इतिवृत्तात्मक, गद्यात्मक कविताओं के साथ अंग्रेजी के उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिक कवियों की रचनाओं की ओर भी हमारे कवियों का ध्यान जाने लगा था। कूपर, ब्लेक, बाइरन और शैली की कुछ रचनायें इस पहले दशक में अनुवाद के रूप में सामने आईं। परन्तु प्रवृत्ति के रूप में इस धारा का जन्म १६०६-१० के लगभग ही माना जाना चाहिये। पहली उत्कृष्ट छायावादी रचनायें 'इन्दु' (काशी) और 'सरस्वती' (प्रयाग) में ही प्रकाशित हुईं। ये कविताएँ पहले-पहल प्रयोग-रूप में ही सामने आईं। पहला प्रकाशित कवितासंग्रह 'कानन-कुसुम' (१६१३) है। १६२६ ई० में 'आँसू' और १६२७ ई० में 'वीणा' के प्रकाशन के साथ इन काव्यधारा में स्थायित्व आ गया। आगे के दस वर्ष इस धारा के सबसे उत्कृष्ट वर्ष हैं।

छायावाद के तीन पहले महत्त्वपूर्ण कवि जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत और सूर्यकांत त्रिपाठी निराला हैं। इन कवियों ने जिस समय हिंदी काव्य-क्षेत्र में पदार्पण किया उस समय सारा काव्य द्विवेदीयुग की जड़ता और इतिवृत्तात्मकता से निष्क्रिय और निष्प्राण हो रहा था। यह काव्य मूलतः नैतिकवादी था। नारी-सौन्दर्य, कल्पना-विलास, जीवन के आनंद का स्वच्छंद प्रकाशन का इस काव्य में ज़रा भी स्थान नहीं था। श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त के काव्य को छोड़ कर उसमें क्या धरा था ? क्रांति का कहीं नाम नहीं था। रूढ़ियों और परंपराओं का समर्थन जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता समझी जाती थी।

परन्तु १९ वीं शताब्दी का अंत होते-होते हिंदीप्रदेश बंगला काव्य से परिचित हो चला था। माइकेल, विहारीलाल, हेमचंद और रवीन्द्र हिन्दी के प्रदेश में पहुँच गये थे। इनमें रवीन्द्रनाथ की कविता पर अंग्रेज़ी स्वच्छंदतावाद, उपनिषदों के रहस्यवाद, बंगला की भावुकता और वैष्णव-भक्ति का प्रभाव था। १९१३ ई० के लगभग उनके काव्य के अनुकरण से ये प्रभाव हिंदी में आ गये। परन्तु अकेले रवीन्द्रनाथ ने छायावाद का जन्म दिया, यह कहना अत्युक्ति होगी। शताब्दी के आरंभ से ही अंग्रेज़ी के रोमांटिक कवियों की कविताएँ हिन्दी में अनुवादित होने लगी थीं और अंग्रेज़ी की उच्च कक्षाओं में रोमांटिक काव्य पढ़ाया जाने लगा था। नये हिन्दी कवि इससे परिचित नहीं

रहे थे। पंत द्वारा अंग्रेज़ी रोमांटिक काव्य का प्रभाव मुख्य रूप से हिन्दी में आया। पंत और निराला दोनों रवीन्द्र के काव्य से प्रभावित थे। पंत के 'पल्लव' और निराला की कविताओं में रवीन्द्र के स्वर स्पष्टतय: बोल रहे हैं। निराला ने विवेकानंद के अद्वैत-भक्ति के काव्य से भी स्फूर्ति ली। प्रसाद ने रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' के प्रभाव को ग्रहण किया। 'झरना' की कविताएँ इसका उदाहरण हैं। परन्तु उन्होंने इस प्रभाव को शीघ्र ही छोड़ दिया। उर्दू काव्य की व्यंजनाशैली और भावुकता एवं संस्कृत मुक्तकों और आचार्यों की स्थापना से इंगित लेकर उन्होंने अपने लिए एक विशिष्ट काव्यशैली का निर्माण किया।

केवल एक दशक (१९१०-२०) के भीतर हिन्दी काव्य में महान् क्रांति हो गई। जिन लोगों ने इसका सूत्रपात किया वे बंगला या अंग्रेज़ी काव्य के पंडित थे। जितनी शीघ्रता से यह क्रांति हुई उसका उदाहरण इस देश की कविता के इतिहास में मिलना असम्भव है। इस क्रांति के कारण पाठक कवियों से बहुत पीछे रह गये। उन्होंने कवि पर अस्पष्ट छायात्मकता, अनैतिकता और पाश्चात्य काव्य एवं रवीन्द्रनाथ के अंधानुकरण के सौ तरह के लांछन लगाये। लगभग एक दशक तक यह विरोध चलता रहा। १९३० ई० के लगभग साधरण जनता में ये छायावादी कवि लोकप्रिय हो चुके थे। समीक्षकों ने उनके काव्य में सौन्दर्य का पता लगा लिया था। १९३५—३६ तक

हिंदी काव्यजगत पर छायावाद का राज्य रहा। इसके बाद धीरे-धीरे उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया ने जन्म लिया और प्रगतिवाद की एक नई धारा प्रकाश में आई। छायावाद के अग्रगण्य कवि उसके प्रवर्तक बने।

यह स्पष्ट है कि छायावाद द्विवेदीयुग की काव्यपरंपरा से हट कर एक नई काव्य-परंपरा स्थापित करने में समर्थ हुआ। जितनी बड़ी क्रांति 'छायावादी' काव्य ने की उतनी बड़ी क्रांति हिंदी कविता के किसी भी युग में नहीं हुई थी। भाव, भाषा, शैली, व्यंजना सभी में शत-प्रतिशत क्रांति थी। अँग्रेज़ी और बंगला काव्य के अध्ययन के सहारे, आचार्यों के अभिव्यंजनावाद और उर्दू की व्यंजनात्मक शैली से प्रभावित हो इन नये कवियों ने छाया और प्रकाश के जो नए मार्ग हिंदी कविता में खोले वे अत्यंत आकर्षक थे। इस नये काव्य में आत्माभिव्यक्ति की ओर अधिक ध्यान दिया गया था। कवि अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को अत्यंत मुखर स्वर में गा उठता। वह जैसे एक बार ही आत्मविभोर हो उठा हो। जहाँ तक दार्शनिक पृष्ठ-भूमि की बात है छायावाद ने अद्वैतवाद को अपना आधार बनाया, परन्तु अज्ञात सत्ता के प्रति प्रेममिलन और वियोग के गीत भी गाये जिससे रहस्यवाद की सृष्टि हुई। महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा और निराला की कितनी ही कविताएँ इसी प्रेममूलक अद्वैत पर खड़ी हैं। परन्तु जो सबसे स्पष्ट बात थी, वह यह थी कि कवियों ने सौन्दर्य के विषय में एक नई

अंतर्दृष्टि विकसित कर ली थी। उन्होंने जिस जीवन की कलात्मक अनुभूति को अपने काव्य का विषय बनाया वह प्रतिदिन के साधारण जीवन से भिन्न था। एक प्रकार की अतीन्द्रिय, रहस्यमयी, अशरीरी सौन्दर्य-निष्ठा जैसे सारे नये काव्य पर छा गई। प्रकृति और मनुष्य के रागात्मक संबंधों की भी खोज हुई।

परन्तु इतना ही सब कुछ नहीं था। कविता की अंतरात्मा ही बदल गई थी। फिर अंतरात्मा के साथ वाह्य कलेवर भी बड़ी शीघ्रता से बदला। लाक्षणिकता की प्रधानता हो गई। भाषा की अर्थ-शक्ति की गवैषणा हुई। नये-नये प्रतीक खोजे जाने लगे। नये-नये छन्दों का निर्माण हुआ।

हम यह मानने को तैयार हैं कि छायावाद की ये विशेषताएँ संपूर्णतः मौलिक नहीं हैं। इनमें से कुछ के लिए उसे कबीर, रवीन्द्र या अंग्रेज़ कवि शैली का मुंह जोहना पड़ा है, परन्तु धीरे-धीरे इस काव्य ने व्यक्तित्व विकसित कर लिया। कवियों ने धीरे-धीरे कवि-कर्म में कुशलता प्राप्त कर ली और उन्हें लोकप्रियता मिली। परन्तु काव्यात्मा और काव्य-देह में ये परिवर्तन कुछ इतनी शीघ्रता से हुए कि इसमें समय लगा। हमारी अपनी काव्यपरंपरा पीछे छूट गई थी—इतनी कि इस काव्य को समझने के लिए उससे सहारा नहीं लिया जा सकता था। अतः नये मूल्यों का सृजन करना पड़ा। आलोचना के नये मानदंड बने। तब कहीं यह काव्य जनता तक पहुँचा।

परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इस काव्य-धारा में बहुत कुछ सचमुच सुन्दर था। अब तक हमारे कविता के विषय कुछ थोड़े ही थे। इस काव्य में नारी, प्रकृत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन, मानव-मन, सौन्दर्य और कला को पहली बार ग्रहण किया गया। इससे काव्यभूमि का अत्यंत व्यापक प्रसार हुआ। अद्वैतमूलक रहस्यवाद इस काव्य का एक प्रधान अंग रहा, परन्तु वही सब कुछ नहीं था। वस्तुत: इस नई काव्यधारा द्वारा हमारे काव्य में नए मूल्यों और नई भावनाओं का समावेश हुआ। भाषा, शैली, छन्द, मूर्तिमत्ता, नाद-सौन्दर्य—सभी क्षेत्रों में नये दृष्टिकोण का प्रयोग सचमुच एक अभूतपूर्व घटना थी। आज की हिंदी कविता छायावाद काव्य की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों को आत्मसात करके ही आगे बढ़ने में समर्थ हो सकी है।

जयशंकर प्रसाद छायावाद के आदिकवि हैं। उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं करुणालय (१९१२), काननकुसुम (१९१२), प्रेमपथिक (१९१३) महाराणा का महत्त्व (१९१४), चित्राधार (१९१८), आँसू (१९२६), झरना (१९२७), लहर (१९३५) और कामायनी (१९३६)। 'चित्राधार' और 'कानन-कुसुम' की कविताओं के द्वारा भारतेन्दु से उनका संबंध जोड़ना अत्यंत सरल है। भारतेन्दु के बाद उनकी विह्वल अनुभूति और लाक्षणिक प्रयोगों की परंपरा लगभग समाप्त हो गई थी। प्रसाद ने अपनी प्रारंभिक ब्रजभाषा की कविताओं में इस परम्परा

को पुनःस्थापित किया और ब्रजभाषा कविता को रोमांटिक (स्वच्छंदतावादी) कल्पना और अनुभूति से, नये विषयों, नये छंदों और नई भाषा-शैली से मंडित किया। उस समय कदाचित् उनकी रचनाओं की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। परन्तु जब उन्होंने खड़ीबोली में इसी तरह के प्रयोग किये तो उनकी रचनायें द्विवेदीयुग की इतिवृतात्मक और गद्यप्राण रचनाओं के सामने एकांततः नवीन लगीं। 'प्रेमपथिक' में उन्होंने अतुकांत छंद का नया प्रयोग किया और प्रेम को मानवी व्यापार के रूप में उपस्थित किया। उनका 'आँसू' नई शैली का उपालंभ काव्य है और कवि की करुणा और मंगलाशा की अभिव्यंजना के कारण वह साधारण विरह-काव्य से बहुत ऊपर उठ गया है। उसकी लाक्षणिक शैली प्रसाद की अपनी देन है। 'झरना' और 'लहर' में हम प्रसाद के प्रेमचिंतन और उनकी लाक्षणिक शैली को सतत विकसित पाते हैं। प्रसाद मुख्यतः प्रेम, सौन्दर्य, ऐश्वर्य, आनंदवाद और विलास के कवि हैं और उनकी भाषाशैली उनके अभिजात्य के गौरव और उनकी अपनी मधुमयी प्रवृत्ति से रंजित है।

'कामायनी' प्रसाद की अंतिम और कदाचित् सर्वश्रेष्ठ रचना है। इस रचना में कवि ने मानव को एक नया जीवन-दर्शन देने का उपक्रम किया है। एक अत्यंत छोटे और निर्बल कथानक का सहारा लेने के कारण इस जीवनदर्शन की रूप-रेखा पूर्णतयः स्पष्ट नहीं पाई है और कविता का रस भी अप-

र्याप्त मात्रा में उभर कर रह गया है। परंतु फिर भी कई दृष्टि-कोणों से यह रचना अद्वितीय है और छायावाद काव्य की बहुमुखी प्रवृत्तियों एवं उसकी शक्ति और दुर्बलता का प्रति-निधित्व करती है। प्रसाद के अनुसार श्रद्धा और इडा (बुद्धि) मनुष्य के जीवन के दो पक्ष हैं। इन पक्षों के बीच में मानव (मनु) है। मानव श्रद्धा से सहारा लेकर चले या बुद्धि का सहारा ले। मनु प्रारंभ में श्रद्धा के प्रति आत्मसमर्पण कर देते हैं। परंतु श्रद्धा (हृदयतत्त्व) की सहज शक्ति को न समझकर वह उससे ऊब जाते हैं। बुद्धिवाद, संकल्प और अपार कर्मण्यता का नया जीवन उन्हें आ[illegible] करता है। 'इडा' सर्ग के छन्दों में कवि ने इस मनोवैज्ञानिक खोज और मनु के परिवर्तन को बड़ी कुशलता से अंकित किया है। परंतु केवल बुद्धि भी जीवन की एक बड़ी भारी विडंबना सिद्ध होती है। अंत में मनु इडा (बुद्धि) का आश्रय भी छोड़ देते हैं और तपस्या और अंतः-दर्शन द्वारा एक नये मार्ग की ओर उन्मुख होते हैं। अन्त में वह ज्ञान (इडा), कर्म और भाव (श्रद्धा) के पूर्णरूपेण संतुलन और शैवागम एवं तंत्रों के आनंदवाद, समरसवाद और अद्वैतवाद में नये जीवन के अनुरूप एक दर्शन की खोज कर लेने में सफल होते हैं।

'निराला' के काव्य में छायावाद के ओज, अद्वैतवाद, प्रकृति और मानव-संबंधी नए दृष्टिकोण का प्रकाशन हुआ है। उनकी रचनाएँ हैं अनामिका (१९२३, १९३४), परिमल

(१९३०), गीतिका (१९३६), तुलसीदास (१९३९), बेला और नये पत्ते (१९४६)। निराला की प्रारंभिक कविताओं में ही हमें प्राकृतिक सौन्दर्य, अद्वैतवाद और कवि की ओजपूर्ण राष्ट्रीय एवं सामाजिक भावना के दर्शन हो जाते हैं। 'परिमल' की लगभग आधी रचनायें प्रकृति से संबंधित हैं। बंगाल की शस्यश्यामला भूमि, बंगाल के नदी-नद, बंगाल के मेघ कवि की रचनाओं में बार-बार प्रतिबिंबित हो उठते हैं। निराला का सारा यौवन वंगभूमि की क्रोड़ में बीता है। बंगभूमि की प्राकृतिक सुषमा और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं और गीतों ने कवि के हृदय के जो स्रोत उन्मुक्त किये उन्होंने हिंदी कविता को एकदम नई दीप्ति प्रदान की। जुही की कली, तुम और मैं, यमुना के प्रति, स्मृति, दिल्ली, शिवाजी का पत्र-जैसी अनेक रचनायें आज भी उतनी ही सप्राण हैं जितनी वे बीस वर्ष पहले थीं। परन्तु कवि की सर्वोत्तम रचनायें कदाचित् वे हैं जिनमें उसके व्यक्तित्व का प्रकाशन है या जिनमें उसने अपने युग को चुनौती दी है। सरोज के प्रति, बनबेला, तुलसीदास और राम की शक्तिपूजा कवि की चार बड़ी कविताएँ हैं और इनमें हम उन्हें स्वच्छंदतावादी कलाकार और रूपविधान के कुशल संयोजक के रूप में एक साथ उपस्थित पाते हैं। निराला का व्यक्तित्व विषम परिस्थितियों में भी हार नहीं मानता। वह दीर्घ निदाघ में तप कर भी स्नेह और करुणा की अजस्र वर्षा करने में समर्थ हैं। 'बेला' और 'नये पत्ते' कवि के

अंतिम प्रयोग हैं। इन प्रयोगों को 'प्रगतिवादी' परंपरा से संबन्धित किया गया है, परन्तु इन्हें चाहे जहाँ रखा जाये इसमें संदेह नहीं कि निराला का ओजमय, व्यंगप्राण जागरूक और विद्रोही व्यक्तित्व ही यहाँ नई सामाजिक और राष्ट्रीय भूमि से बोल रहा है।

सुमित्रानंदनपंत की प्रारंभिक रचनाएँ 'वीणा' (१६२७) में संग्रहीत हैं। उनके अन्य काव्यसंग्रह हैं 'पल्लव' (१६२७), ग्रंथि (१६३०), गुंजन (१६३२), ज्योत्स्ना (१६३४), युगांत (१६३७), युगवाणी (१६३६), ग्राम्या (१६४०) स्वर्ण-किरण और स्वर्णधूलि (१६४६—७), उत्तरा और युगपथ (१६४८)। परन्तु अभी उनका रचनाक्रम समाप्त नहीं हुआ है और हिन्दी को उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। 'पल्लव' तक पंत का प्रारंभिक कल्पना-प्रधान भावुक रूप हमारे सामने खुलता है। वह प्रथमतः प्रकृति के अनेक रूपों-रंगों, सौन्दर्य, प्रेम और चिंतन के उपासक हैं और उनकी रचनाओं में आरम्भ से ही कलासौष्ठव, नाद-सौन्दर्य और संविधान-सम्बन्धी जागरूकता के दर्शन होते हैं। कल्पनातिरेक के कारण 'पल्लव' की अनेक रचनाएँ वाजीगरी बन गई हैं। परन्तु अन्त में 'विदा, मेरे कवि बाल' कह कर कवि अधिक संयत हो जीवनचिंतन के नये क्षेत्र में उतरता है। 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में वह जीवन के उल्लास और सौन्दर्य का उपासक और मंगलाशी कवि है। 'ज्योत्स्ना' रूपक है परन्तु यह रूपक कवि के मन की नई सौन्दर्य-सृष्टि का ही

प्रतिबिंब है और इसके गीत कवि की भावनाओं और काव्यकला को एक अभिनव दिशा दे देते हैं। 'ज्योत्स्ना' के बाद कवि सौन्दर्य और प्रकृति के रूपों से विरक्ति भाव दिखलाता है और मानव-जीवन के लिए कुछ नये-पुराने मूल्यांकन उपस्थित करता है,। 'युगांत', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में हम उसे मार्क्सवाद और गांधीवाद पर तर्क-वितर्क करते और एक तरह का समझौता उपस्थित करते पाते हैं। कवि का हृदय गांधीवाद की ओर है; उसकी बुद्धि मार्क्स के समाज-तन्त्र से बँधी है। परन्तु कदाचित् इन ग्रन्थों का समाज और राष्ट्रचिंतन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी महत्त्वपूर्ण है उसकी नई सहानुभूति। कवि जन-जीवन के अनेक हृदयग्राही चित्र उपस्थित करता है। 'पल्लव' के बाद कदाचित् 'ग्राम्या' ही कवि की सबसे सुन्दर रचना है। इस कवितासंग्रह में कवि एक बार फिर काव्यरस के उन्मीलन में सफल हुआ। 'युगवाणी' में उसकी सैद्धांतिक विवेचना के नीचे काव्य के स्वर एकदम दब गये हैं। अगली तीन-चार रचनाओं में कवि ने 'ग्राम्या' के पथ से हट कर एक बार फिर जीवनचिंतन उपस्थित करने का प्रयत्न किया है परन्तु इस बार वह चेतनवाद, उपचेतनवाद या अरविंदवाद के रूप में केवल आध्यात्मिक छायावाद की सृष्टि कर सका है। औपनैषदिक रहस्यवाद व्यक्तिगत साधना की परिणिति मानी जा सकती है, परन्तु उसके आधार पर किसी भी समाज-तन्त्र को स्थापित करना असम्भव है। इन परवर्ती रचनाओं में न 'पल्लव' की

चित्रमयी मूर्तिमत्ता है, न 'गुंजन' का सौन्दर्यबोध, न 'ग्राम्या' का जन-जीवन का मार्मिक और सौन्दर्यनिष्ठ चित्रण। कवि कुछ अपने में डूब कर, कुछ अरविंद की अतिमानवता के गीत गाकर, कुछ चेतन-उपचेतन के मनोवैज्ञानिक उपकरणों के सहारे जो कुछ कहना चाहता है, वह बहुत कुछ अस्पष्ट और असंतुलित रह जाता है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि पंत के काव्य में आधुनिक हिंदी कविता की अनेक दिशाएँ पुष्ट हुई हैं और उसने 'पल्लव' की छायामयी, कल्पनातिरेक-प्रधान मूर्तिमत्ता से लेकर 'उत्तरा' और 'युगपथ' के छायापथों तक अनेक मंज़िलें पार की हैं। कवि का सौन्दर्यबोध, उनकी कला-ग्नता, उनकी बौद्धिक पकड़ और उनका संयत भावविलास आज भी जाग्रत है और वह उनके आध्यात्म और समाज-चिंतन के नीचे एकदम दब नहीं गया है।

(ग) छायावाद काव्य—अन्य कवि

छायावाद काव्य पंत, निराला और प्रसाद पर ही समाप्त नहीं हो जाता। मुकुटधर पांडेय, रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, मोहनलाल महतो, दिनकर, अंचल और नरेन्द्र उसके कुछ अन्य प्रमुख कवि हैं। मुकुटधर पांडेय और माखनलाल चतुर्वेदी की कुछ रचनायें छायावाद के जन्म से एकांततः संबंधित हैं। प्रसाद की 'झरना' में संग्रहीत कविताएँ भी इसी काल की हैं। पांडेय की 'आँसू' शीर्षक कविता की एक कड़ी इस प्रकार है:

मेरे जीवन की लघु तरणी,
आँखों के पानी पर तर जा।
मेरे उर का छिपा ख़ज़ाना,
अहंकार का भाव पुराना,
बना आज तू मुझे दिवाना,
तप्तश्वेत बूँदों में ढ़र जा।

बसन्त-समीर के झोंकों में वह किसी अज्ञात प्रियतम की खोज देखते हैं—

फिरती आज बसन्त-समीर
किसके दर्शन-हित यह ऐसी उत्सुक अधीर!
कुसुमित किंशुक के उपवन में,
मुकुलित आज आम्रकानन में,
जाने किसको ढूँढ़ रही है
व्याकुल तरिनी-तीर!

माखनलाल चतुर्वेदी के गीतों में व्यंगमय भंगिमा कहीं अधिक है:

मुझसे कह छल-छंद बने,
जो शान दिखाने वाले!
मैं तो समझूँगा बाहर क्या?
भीतर भी हो काले।

(१६०८)

यार पाँच बटमार साँवले,
रह तू पंचबटी में।
छिने प्राण प्रतिमा तेरी भी
काली पर्णकुटी में।
(१६११)

कुटिल प्रहार कुसुम-सम होंगे,
यह प्रहार गौरव होगा।
पद-पद्मों से दूर स्वर्ग भी
जीवन का रौरव होगा।
(१६१४)

मुकुटधर पांडेय का देहांत १६१८ ई० में अत्यंत अल्पावस्था में हो गया और वह नये काव्य की परम्परा को आगे नहीं बढ़ा सके, परन्तु माखनलाल चतुर्वेदी आज भी हमारे बीच में हैं और अनेक राष्ट्रीय एवं सामाजिक कार्यों में व्यस्त होते हुए भी उन्होंने हमारी काव्यपरम्परा में विशिष्ट रूप से योग दिया है। मोहनलाल महतो की प्रसिद्ध रचनायें हैं 'निर्माल्य' (१६२६), 'एकतारा' (१६२७) और 'कल्पना' (१६३५)। छायावाद काव्य के प्रथम संस्थापकों में उनका भी नाम लिया जाता है। कलकत्ते के मासिक 'सरोज' में उनकी कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचनायं प्रकाशित हुई थीं और आज भी उनका ऐतिहासिक महत्त्व कुछ कम नहीं हुआ है।

छायावाद की प्रथम त्रयी के बाद महादेवी, रामकुमार और

भगवतीचरण का नाम आता है और उन्हें छायावाद की लघु-त्रयी भी कहा जाता है। इसमें संदेह नहीं कि पहले तीन कवियों के बाद यही सबसे महत्त्वपूर्ण कवि हैं। इनमें महादेवी और रामकुमार का क्षेत्र लगभग एक है। दोनों रहस्यगीतों के कवि हैं और किसी अज्ञात प्रेममयी सत्ता के प्रति प्रणय-निवेदन, विरह और मिलन के गीत गाते हैं। परन्तु जहाँ महादेवी अनुभूति और आभ्यांतरिक साधना के द्वारा इष्ट के पास पहुँचने में सफल होती हैं, वहाँ रामकुमार कल्पना और वाग्विलास के पंखों पर उड़ कर उतना ऊँचा नहीं पहुँच पाते। इसमें संदेह नहीं कि उनके कुछ रहस्यगीत बहुत मार्मिक बन पड़े हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। वे मुख्यतः नश्वरता, सौन्दर्य, कल्पना, और संकल्पनात्मक वेदना के कवि हैं। कविता की अपेक्षा उनका व्यक्तित्व उनके कथाकाव्य 'निशीथ', खंडकाव्यों और एकांकियों में अधिक प्रकाशित हो सका है। महादेवी का रहस्य-काव्य आधुनिक हिन्दी कविता की एक नितांत नई कोटि है। उन्हें जायसी, कबीर और मीरां जैसे प्राचीन रहस्यवादियों के साथ रखा जा सकता है यद्यपि उनके रहस्य-भाव के जन्म और विकास का अपना अलग इतिहास है जो क्रमशः 'नीहार' (१९३०), 'रश्मि' (१९३२), 'नीरजा' (१९३५). 'सांध्यगीत' (१९३६) और दीपशिखा (१९४२) में सुरक्षित है। 'नीहार' की कविताओं से हमें उनके विकास-क्रम का पता चल जाता है। जीवन की नश्वरता और वेदना की व्यापकता की गहरी

अनुभूति उन्हें करुणा और अवसाद की ओर उन्मुख करती है। 'रश्मि' में वह करुणा और वेदना के व्यापक प्रसार के बीच में अपनी आध्यात्मिक खोज शुरू करती हैं। अंतिम तीन रचनाओं में वह धीरे-धीरे अभिसार, मान, वियोग और मिलन के रूपकों के सहारे नाश और जीवनव्यापी दुःख के ऊपर सृजन और विश्वव्यापी आनंद का स्वर सुनती हैं। वह गा उठती हैं—

मेरा प्रतिपल छू जाता है
कोई कालातीत
स्पंदन के तारों पर गाती
एक अमरता गीत

वह प्रियतम के चिर-विरह को ही प्रियमिलन की भाँति मधुर मान लेती हैं और उनकी अतृप्ति ही तृप्ति का रूप धारण कर लेती है। वे कहती हैं—

मुझे झंझा-उच्छ्वास पुकारें;
तरी सागर, लहरें पतवारें;
मुझे अब पार है एक कहानी,
अदेश अकूल सदा बहती मैं;
अकेली वियोग-कथा कहती मैं।

कवियित्री की कल्पना और अनुभूति का सबसे अधिक विस्तार 'दीपशिखा' में मिलता है। आधुनिक रहस्यवाद कदाचित् 'दीपशिखा' से ऊँची उड़ान लेने में समर्थ नहीं हो सकेगा।

भगवतीचरण, अंचल और दिनकर का काव्य छायावाद की धूमिल भूमि से आरंभ होता है परन्तु उसमें सामाजिक विद्रोह, ओज और स्थूल सौन्दर्यदृष्टि के तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक थे और इसी से ये कवि प्रगतिवादी धारा का नेतृत्व कर सके हैं। इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक युग की प्रगतिवादी धारा छायावाद से अनेक सूत्रों द्वारा संबंधित है। उसमें सामाजिक और राजनैतिक स्फूर्ति अपेक्षाकृत अधिक है और कदाचित् छायावाद के सौन्दर्य, नारी-निष्ठा, प्रेम और रहस्यगान के प्रति उसकी आस्था अधिक नहीं है। परन्तु अनेक प्रकरणों में वह छायावाद-काव्य से भिन्न, कभी-कभी विरोधी भूमि पर चलती हुई भी अंततः उसी का प्रसार है। बदलते हुए युग ने कवियों को नये विषय दिये, नई अंतर्दृष्टि दी और फलतः काव्य के मान भी बदले। इसमें शंका और क्षोभ की कोई बात नहीं है। आधुनिक हिन्दी काव्य के भिन्न-भिन्न चरणों को यदि हम भारतेन्दु से आरम्भ होती हुई एक ही काव्यप्रक्रिया का विकास समझें तो कदाचित् हम सत्य के अधिक निकट हों। साहित्य की प्रत्येक धारा पहली धारा से ही विकसित होती है और परवर्ती धारा इस नई धारा का विकास या विरोध ही सूचित करती है। जहाँ विरोध है, वहाँ भी काव्यभूमि शतप्रतिशत नई नहीं होगी। वह अनेक सामान्य तत्त्वों द्वारा पिछली धारा से संबंधित होगी। प्रगतिवादी काव्यधारा के संबन्ध में भी यह बात उतनी ही सत्य है जितनी छायावादी काव्यधारा के

संवन्ध में। जिन तीन कवियों का हमने अभी २ उल्लेख किया वे काव्य की दो महत्त्वपूर्ण धाराओं की संधि पर खड़े हैं। इससे उनकी महत्ता ही बढ़ती है।

(घ) नया काव्य : प्रगतिशील काव्य

इस नई काव्यधारा का जन्म १६३६ के लगभग हुआ। उस समय पत्रों में 'छायावाद' के विरोध में आवाज़ें उठाई गईं। छायावाद की कलात्मक सज्जा, कोमलकांत पदावली, सूक्ष्म-भावों के विश्लेषण की प्रवृत्ति और जीवन से पराङ्मुख होने की विशेषता समसामयिक जोवन से मेल खाती नहीं दिखलाई देती थी। १६३० ई० के बाद देश में राजनीति की ही प्रधानता हो गई थी। नये-नये राजनैतिक दलों और नई-नई विचार-धाराओं से देश परिचित हो रहा था। छायावाद उस समय तक स्वयं एक बड़ी रूढ़ि बन गया था। उसमें समसामयिक जीवन की किसी भी परिस्थिति का चित्रण नहीं था। कवि रूपों-रंगों, प्रकृति, नारी और दर्शनचिन्ता में डूब गये थे। परंतु समसामयिक जीवन को माँग बड़ी कड़ी थी। रूस के साहित्य ने एक नया आदर्श उपस्थित किया था—साहित्य जनजीवन का नेतृत्व करे, वह प्रगतिशील शक्तियों को आगे बढ़ाये। फलत: नये प्रगतिवादी काव्य की सृष्टि हुई। छायावाद काव्य के कुछ नेताओं ने भी इस काव्यधारा में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इनमें निराला, पंत और भगवतीचरण वर्मा मुख्य थे। निराला का काव्य उनके प्रारम्भिक काव्य की तरह मुख्यत: विद्रोही था।

उसमें नई भाषा, नई शैली में अनेक धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक मान्यताओं की खिल्ली उड़ाई गई थी। पंत के काव्य में मार्क्सवाद के दर्शन को काव्य का रूप देने का प्रयत्न किया गया था यद्यपि कवि अपनी कविता को प्राणवान् बनाने में लगभग असफल रहा था। 'ग्राम्या' (१६४०) में पंत ने गाँवों, मज़दूर बालकों और ग्रामीण युवतियों का चित्रण किया। इस संग्रह की कई कविताएँ नई मांसलता, नई शोभा और नये व्यंग से ओतप्रोत थीं। परन्तु कवि अपनी पुरानी पृष्ठभूमि और पुराने संस्कारों को पूर्णतय: छोड़ नहीं सका था। उसने विश्व को ग्रामीण नयन से देखने का दावा किया था, परन्तु वह असफल रहा। भगवतीचरण वर्मा के नये काव्य में भी व्यंग और विद्रोह की रूप-रेखाओं की ही प्रधानता है। इन कवियों ने अपने प्राचीन काव्य-साहित्य से हट कर जीवन की अनेक दिशाओं को छूने का प्रयत्न किया, परन्तु उनकी अपनी सीमायें उनके नये काव्य की भी सीमायें बन गई हैं।

इस नये धारा का प्रतिनिधित्व हमें नये तरुण कवियों में मिलेगा। नये काव्य का एक संग्रह 'तार सप्तक' नाम से निकल चुका है। इसमें युग के प्रतिनिधि सात नये कवियों की रचनायें हैं। ये कवि हैं गजानन मुक्तिबोध, नेमिचंद्र, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण नये कवि हैं त्रिलोचन शास्त्री, शमशेरबहादुर सिंह, शिवमंगल सिंह

सुमन, रांगेयराघव और नागार्जुन। इन कवियों का प्रचुर काव्य आज हमारे सामने है और इसके आधार पर हम नई काव्यधारा का पूर्णरूपेण विश्लेषण कर सकते हैं। परन्तु इसमें संदेह नहीं है कि नए काव्य ने अपना सबसे बड़ा कवि अभी हमें नहीं दिया है। इसका एक कारण यह भी है कि नये काव्य का प्रणेता भारतीय साहित्य-संस्कृति को ताक़ में रख कर अमरीका, यूरोप और रूस के साहित्य की ओर अधिक देखता है। फलतः वह अभी तक किसी महत्त्वपूर्ण काव्य की रचना नहीं कर सका है। वह अभी तक प्रयोगात्मक है।

नये काव्य के दृष्टिकोण को समझने के लिए कदाचित् 'प्रतीक' के पहले संपादकीय की ये पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं— 'हम साहित्य को आकाश-बेल नहीं मानते; जिस धरती से वह उगता है, जिस मिट्टी से रस ग्रहण करता है, जिस पानी से लहलहाता है, जिस आतप से हरा होता है, जिस समीर से फूलता है—और जिस लहू से वह झुलसता है, जिस पाले से मरता अथवा जिन व्याधियों से ग्रसित होता है—वे सब कृष्टि (संस्कृति) से संबद्ध हैं और उनका अध्ययन, विवेचन, मापन, ग्रहण, प्रचार, प्रसार, नियमन और निराकरण साहित्यकर्म का अनिवार्य अंग है।'...यह स्पष्ट है कि नये कवि धरती की मौलिक शक्ति में विश्वास करते हैं और जन-जीवन एवं जन-काव्य को अपनी प्रेरणा बनाते हैं। नया कवि कहता है—

हम तारों के नाते अंबर के अपने हैं
हम लहरों के नाते सागर के अपने हैं
हम रजकन के नाते धरती के अपने हैं
हम जीवन के नाते जगती के अपने हैं

(शिवमंगल सुमन)

या छन्दों के बंधन को एकदम ठुकरा कर—

बज उठे हैं आज फिर
घंटे
दिशायें भेद कर
स्वर आ रहा है
कठिन है
स्वरसाधना यह
शीश-नत आचार्य-गण हैं
बंदना कर
मुग्ध होते,
और मैं अति मुग्ध
व्याकुल-सा विभोर
विलोकता हूँ
समय है निरवधि कि पथ उन्मुक्त आगे
सतत आवाहन तुझे देता रहेगा
तू युगों से बाँट कर यह समय फैला
मंज़िलों में बाँट पथ चलता रहेगा

पीढ़ियाँ मंज़िल बनेंगी किंतु फिर भी
धार तो आगे रहेगी सतत बहती
हर क़दम मंज़िल बनाता चल रहा हूँ
देख जीवन के पगों पर मृत्यु झुकती।

(रांगेय राघव)

प्रकृति के बँधे-सधे रूपों से नये कवि को प्रेम नहीं है। आज वह अपनी अनुभूति के प्रति अधिक से अधिक जागरूक होना चाहता है, प्रकृति के एक-एक भाव, एक-एक इंगित पकड़ना चाहता है। परंतु कभी २ नया कवि इस विषय में 'अति' तक पहुँच जाता है और अपनी संवेदना के प्रति ईमानदार होने के प्रयत्न में वह काव्य के रूप-रंग और गठन की ही बलि कर देता है। उदाहरण के लिए हम रांगेय राघव की एक कविता 'एवैक्युई' की कुछ पंक्तियाँ ले सकते हैं :

स्टेशन,
भीड़,
पूरी गरम,
आगरे का पेठा,
पान, बीड़ी, सिगरेट,
लोहे की पटरियाँ,
धुँआछोड़ गाड़ियाँ,
कुलियों का शोरगुल

(पिघलते पत्थर)

हो सकता है, कवि के मन में इसी प्रकार से, इसी क्रम से चित्र उठे हों, परन्तु कोरे चित्रों का उल्लेख मात्र कर देना तो कविता नहीं है। यदि कवि के छन्द कवि की संवेदना को पाठक के हृदय में नहीं जगा सके तो वह असफल ही हैं। हम कवि से केवल कलात्मक ईमानदारी की माँग नहीं कर सकते। उसका काव्य हमारे भीतर उसकी अनुभूति को पूर्णरूपेण जाग्रत कर सके—तभी वह सफल है।

१०

नवीन काव्य का विश्लेषण

नवीन काव्य के अंतर्गत पिछले सौ वर्षों का सारा काव्य-साहित्य आ जाता है, कम से कम खड़ी बोली का काव्य-साहित्य। ब्रजभाषा में प्राचीन काव्य की परंपरा अभी रत्नाकर की मृत्यु (१९३६ ई०) तक सशक्त रूप से चलती रही है और एक वर्ग अब भी इस रीतिकालीन परंपरा को निबाहता चला आता है परंतु ब्रजभाषा और उसकी काव्य-रूढ़ियाँ आधुनिक कविता के अंतर्गत नहीं आतीं। अत: आधुनिक काव्य की विवेचना करते हुए हमें खड़ी बोली की उस काव्यपरंपरा को लेना होता है जो भारतेन्दु से हमारे समय तक अक्षुण्ण रूप से चली आती है। इन सौ वर्षों में विविधता, अनेकरूपता और परिमाण की दृष्टि से इतनी अधिक सामग्री इकट्ठी हो जाती है कि उसका विश्लेषण करना कठिन हो जाता है, परंतु फिर भी कुछ मूल प्रवृत्तियों के आधार पर ऐसा विश्लेषण संभव है।

यह विश्लेषण दो प्रकार से हो सकता है। एक तो काव्य के विषय और उसके उपादान की दृष्टि से और दूसरा कविता की रूप और शैली की दृष्टि से। पहले हम काव्य के विषय और उपादान को लेंगे।

आधुनिक युग की समस्याएँ वही नहीं थीं जिस तरह की समस्याएँ प्राचीन युग के सामने थीं। प्राचीन काव्यसाहित्य के कुछ चुने हुए विषय थे जो अध्यात्म (भक्ति, वैराग्य-भावना रहस्यवाद आदि), शृंगार, रीति, नीति और वैयक्तिक वीरता के अंतर्गत आ जाते हैं। इन कुछ विषयों को लेकर ही सब कुछ लिखा गया। वस्तुतः प्राचीन साहित्य में लौकिक जीवन की समस्याओं के दर्शन भी नहीं होते। उसमें मानव की केवल दो वृत्तियों का ही विस्तार मिलता है, एक है ईश्वरसंबंधी, एक नारीसंबंधी। भक्त कवि सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, योग-भक्ति के तर्क-वितर्क में लगे रहे या अपने-अपने इष्टदेवों की रूपमाधुरी और लीला में इतने लीन कि उन्हें सामाजिक और राष्ट्रीय हलचलों से कोई काम नहीं था। भक्तिकाल के आरंभ होते ही देश मुसलमानी सत्ता के हाथ में चला गया और सारा देश मंदिरों के तोरणों, मूर्ति-मंडपों और खंडित मूर्तियों के भग्नांशों से भर गया। परंतु भक्त-कवि के लिए यह कोई बड़ा बवंडर नहीं था। उसने लोक को परलोक के भुलावे में लीन रखा और स्वयं एक अलौकिक, अतीन्द्रिय सत्ता के प्रति विरह और मिलन के गाने गाता

रहा। स्वयं सूर और तुलसी के समय में राणा साँगा और राणा प्रताप के नेतृत्व में चित्तौड़ ने दो बार बलि की हुताग्नि प्रदीप्ति की परंतु भक्तिकवियों को यह विश्वास था कि पृथ्वी पर अत्याचार बढ़ जायेंगे तो उनके इष्टदेव स्वयं उन पर कृपा कर उन अत्याचारों के निराकरण के लिए पृथ्वी पर अवतार धारण करेंगे। इस विश्वास को खोकर अपने युग के महावीरों की ओर देखने का उन्हें अवकाश ही नहीं मिला। तुलसी की रामकथा में हमें थोड़ा वीरोन्मेष प्राप्त भी है, कुछ क्षत्रियतेज का पता भी चलता है. परंतु वह सब राम की लीला का सहारा लेकर। कृष्णभक्तिकाव्य में इतना भी नहीं है। भगवान कृष्ण के महान् वीर कृत्यों से ये भक्तकवि परिचित भी थे, यह समझना कठिन है। गीता की ज्ञानगरिमा से मंडित कृष्ण यहाँ साधारण नायक मात्र बन गए हैं। विरहाकुल राधा और गोपियों के आँसुओं में सारा ब्रजमंडल ही नहीं डूबा, सारा भारत डूब गया और कई शताब्दियों तक उसका उद्धार नहीं हो सका। रीतिकविता के विषय थे नायिकाभेद और प्रेमविलास। शास्त्रचिंतन के नाम पर जो कुछ था, वह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं था। रीतिकवि के नर-नारी केवल नायक-नायिका थे। प्रकृति का उनके मन में कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। वह उद्दीपन-मात्र थी। उनका सारा काव्य प्रेमी-प्रेमिकाओं के हास-विलास, उनकी चुहलों, उनके उत्तप्त निःश्वासों और आँसुओं तक ही सीमितहै। १६०० ई० से १८५० ई० तक

न जाने देश और समाज में कितने परिवर्तन हुए परंतु रीतिकाव्य में उनका ज़रा भी इंगित नहीं है। राजसिंह, शिवाजी और गुरुगोविंदसिंह ने मुग़ल सम्राटों से जिस साहस और त्याग की भावना के साथ मोर्चा लिया, वह अश्रुत है, परन्तु हिन्दू राष्ट्रीय अभ्युत्थान की यह मंगलशंख-ध्वनि उनके कानों तक नहीं पहुँच सकी। यही नहीं, राम, कृष्ण, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर, कर्ण आदि भारतीय आदर्श पुरुष उनके लिए ज़रा भी महत्त्वपूर्ण नहीं थे। हिन्दू जाति, धर्म और संस्कृति के गर्व से संचालित होकर उन्होंने अपनी लेखनी नहीं उठाई थी। इस संकुचित दृष्टिकोण के कारण उनका काव्य जनजीवन से दूर पड़ कर निरर्थक परंपरापालन मात्र रह गया। एक तरह से लगभग चार शताब्दी की कवि-कल्पना किसी ब्रज की कुंज-गलियों में चक्कर काटती रही और नटनागर कृष्ण और ब्रजनागरी राधा ने धीरे-धीरे सामान्य नर-नारी का स्तर ग्रहण कर लिया।

नवीन काव्य का प्रणेता साकेत और ब्रज तक केन्द्रित नहीं रह सका। नए युग ने उसके सामने जीवन के शत-शत राजपथ मुक्त कर दिये थे। धर्म और अध्यात्म की भावना क्षीण हो चली थी। जो मध्यवित्त समाज समाज का नेतृत्व कर रहा था उसके लिये शृंगार और रीति की भूलभुलैयों का आनन्द लेना संभव नहीं था। देशी राज्य बड़ी शीघ्रता से लोप हुए जा रहे थे और कवियों के लिए सामंतों का आश्रय ग्रहण

करना लज्जास्पद बात थी। ऐसा आश्रय कितने दिन चलता। फलतः उन्होंने अपनी ओर ही देखना आरंभ किया। वह केवल अपने वर्ग पर आश्रित रह सकते थे और अपनी व्यक्तिगत बात कहकर ही अपने वर्ग की सहानुभूति प्राप्त कर सकते थे। इन्हीं कुछ कारणों से नई कविता का स्वर ही बदल गया।

आधुनिक कविता के प्रमुख उपादान हैं ईश्वरावतार (राम और कृष्ण), देवी और देवता, महावीर, सामान्य मानवता, प्रेम, प्रकृति, राष्ट्रभूमि अथवा जन्मभूमि। जीवन की नश्वरता, रहस्यमय मिलन और वियोग, जीव-ब्रह्म और वैयक्तिक सुखों-दुखों के संबध में भी बहुत कुछ कहा गया है। अधिकांश विषय नये हैं, समय की उपज हैं, या पश्चिम की देन हैं। उदाहरण के लिये हम प्रकृति-संबंधी दृष्टिकोण और जन्मभूमि की भावना को ले सकते हैं। राष्ट्र अथवा जन्मभूमि की भावना इस देश के लिए एकदम नई चीज़ है। पश्चिम में भी राष्ट्रीय भावना का जन्म १८ वीं शताब्दी में हुआ और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस भावना से हिंदीप्रदेश की जनता भी प्रभावित होने लगी। आलंबन रूप में प्रकृति का चित्रण एकदम नई चीज़ थी और इसकी शिक्षा हमारे कवियों ने बाहर से ली। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक कविता ने अयाचित ही इस संसार में प्रवेश किया और उसने युग की आवश्यकतानुसार नये-नये विषयों का आविष्कार कर लिया।

(१) ईश्वरावतार, देवी-देवता और महावीर

राम-कृष्ण के रूप में ईश्वरावतारों के भक्ति और प्रणति के गीत मध्ययुग के कवियों के प्रिय विषय थे। विष्णु के अन्य अवतारों के प्रति इतनी आस्था न तब थी, न अब। राम और कृष्ण अब भी लोकप्रिय हैं और उनको लेकर अनेक श्रेष्ठ काव्यों की रचना हुई है। परंतु इन काव्यों में काव्य-तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक हैं और हम उन्हें मध्ययुग के भक्ति-काव्य की श्रेणी में नहीं रख सकते। आधुनिक युग विज्ञान और तर्कवाद का युग है। फलस्वरूप आज केवल श्रद्धा के सहारे चलना असंभव हो गया है। आज का कवि अपने इष्टदेवों से संबंधित कथाओं को मानव-मनोविज्ञान, इतिहास और कला की तुला पर तौलना चाहता है। माइकेल मधुसूदन ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'मेघनाद-बध' में पौराणिक कथा को नये रूप में देखने का एक नया आदर्श स्थापित किया था। 'मेघनादबध' में आदि काव्य की कथा को दान्ते और मिल्टन की प्रतिभा के सहारे एक नये दृष्टिकोण से देखा गया है। जिन राक्षसपात्रों के प्रति आदिकवि की जरा-सी भी सहानुभूति नहीं है, वही नये कवि से हृदय का सारा रस प्राप्त कर सके हैं। वे पूर्वतः मानव हैं। आधुनिक कवि देवताओं, राक्षसों और अतिमानवों में भी 'मानवपन' की स्थापना कर देता है। जहाँ एक ओर वह मनोविज्ञान के तथ्यों का आश्रय लेता है,

वहाँ दूसरी ओर कथा में अपने युग की समस्याओं का भी आरोप करता है। हिंदी के आधुनिक काव्य में 'मेघनाद-वध' की परंपरा ही विकसित हुई है।

इस श्रेणी की रचनाओं में सबसे प्रमुख 'प्रियप्रवास' (१९१४) 'साकेत' (१९३२), 'यशोधरा' (१९३३), 'द्वापर' (१९३६) 'रामचरित-चन्द्रिका' (१९१९) 'पंचवटी' (१९२५) और 'अशोक' वन (१९४७) हैं। इनमें से अधिकांश रामकथा से सम्बन्धित हैं। 'प्रियप्रवास' महाकवि हरिऔध की रचना है जिसमें ब्रजेश्वरी राधा का अत्यंत सुन्दर और हृदयग्राही चित्र उपस्थित किया गया है। प्रियप्रवास के कृष्ण हमारे परिचित सूर के कृष्ण नहीं हैं। वहाँ उनमें ईश्वरत्व के विपरीत आदर्श मानव की प्रतिष्ठा की गई है। 'प्रियप्रवास' की भूमिका में कवि स्वयं कहता है—'मैंने श्रीकृष्णचन्द्र को इस ग्रन्थ में एक महापुरुष की भाँति इंगित किया है, ब्रह्म करके नहीं। अवतारवाद की जड़ में मैं श्रीमद्‌भागवत् का यह श्लोक मानता हूँ—'यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्त देवावगच्छ त्वंमम तेजोशसम्भवम्।' अतएव जो महापुरुष है उसका अवतार होना निश्चित है। परन्तु आधुनिक युग का कवि केवल यहीं नहीं रुक जाता। वह प्राचीन कथा की नई व्याख्या भी उपस्थित करने का साहस करता है। गोवर्धन-धारण का प्रसंग कृष्ण-कथा का एक साधारण प्रसंग है, परन्तु 'प्रियप्रवास' के कवि ने उसे एक नये रूप में उपस्थित किया है। एक बार ब्रज में घनघोर वर्षा

हुई। उस समय कृष्ण ने गोपाल आदि को गोवर्धन पर्वत की कन्दराओं में पहुँचा कर उस अतिवृष्टि से बचा लिया था। श्रीकृष्ण के अपार साहस का वर्णन कर अन्त में कवि कहता है—

भ्रमण ही करते सबने उन्हें,
सकल काल लखा सप्रसन्नता।
रजनि भी उनकी कटती रही,
सविधि रक्षण में ब्रजलोक के।
लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में,
व्रजधराधिप के प्रियपुत्र का;
सकल लोग लगे कहने उसे
रख लिया ऊँगली पर श्याम ने।

(प्रियप्रवास, पृ० १५६)

'रामचरित-चिंतामणि' में रामचरित उपाध्याय ने रामकथा को राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। इस नये दृष्टिकोण में नवीनता तो है परन्तु विशेष काव्योपयोगी स्थलों की अवतारणा न होने के कारण उनकी कथा उतनी ऊंची नहीं उठ सकी है। रामकथा-संबंधी सर्वश्रेष्ठ आधुनिक ग्रंथ मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' (१६३२) है। 'पंचवटी' में उन्होने कई वर्ष पहले रामसीता की एक मनोरम झाँकी प्रस्तुत की थी और हिंदी-संसार ने उसका स्वागत किया था। इस नये ग्रंथ का विस्तार अपेक्षाकृत कहीं अधिक व्यापक है। कवि इस महाकाव्य में रामसीता के

स्थान पर लक्ष्मण और ऊर्मिला को कथा का केन्द्र बनाते हैं। काव्य की उपेक्षिता ऊर्मिला के संयोग-वियोग के अत्यंत सुन्दर चित्र इस महाकाव्य में उपस्थित हैं। नवें सर्ग में ऊर्मिला विरहिणी राधा बन गई है। परन्तु यह तो केवल एक नवीन उद्भावना-मात्र है। 'साकेत' की मौलिकता की कुछ नई दिशाएँ इस प्रकार प्रस्फुटित हैं कि उसमें पर्याप्त आधुनिकता आ जाती है। साकेत का कौटुम्बिक जीवन, कैकेयी का मनोविज्ञान, सुमित्रा का वीर क्षत्राणी रूप, भरत और राम के चरित्रों का नया विस्तार ये कुछ नए प्रकरण हैं जिन्होंने रामकथा को एक नया वैज्ञानिक रूप दे दिया है। पूर्वभाग में कैकेयी और दशरथ के मानसिक संघर्ष को उन्होंने अत्यंत काव्योपमेयता से उपस्थित किया है। तुलसी के बाद आज तक अयोध्याकांड को छूने का साहस किसी कवि को नहीं हुआ था। वह इतना पूर्ण था। 'साकेत' के कवि की प्रतिभा ने वहाँ भी नये वातायन खोले हैं। 'यशोधरा' में कवि ने 'साकेत' की ऊर्मिला के आलोक में राहुल-जननी की मार्मिक व्यथा के गीत गाये हैं और 'द्वापर' में उसने एक संधिकाल के भौतिक, आध्यात्मिक और मानसिक संघर्षों का चित्रण किया है। 'द्वापर' का कवि एक द्विधामय समाज और संस्कृति के महान् प्रश्नों की ओर इंगित करता है। नर-नारी के संबंध और कर्मकांड एवं कृषि-यज्ञ के विषय में नई आधुनिक विवेचना इस छोटे से काव्य में मिलेगी। इसमेंसं देह नहीं कि आधुनिक कवियों में पौराणिक कथाओं और चरित्रों

के व्याख्याता के रूप में सबसे अधिक सफलता मैथिलीशरण गुप्त को ही मिली है। 'पंचवटी' निरालाजी की मुक्तछंदात्मक रचना है जिसकी रचना नाटकीय शैली में हुई है। इसे हम गुप्तजी की 'पंचवटी' के सम्मुख रख सकते हैं। 'अशोकवन' में सुमित्रानंदन पंत ने रामकथा की साम्यवादी एवं प्रगतिवादी व्याख्या उपस्थित की है। यहाँ सीता पृथ्वी की चेतना है जो नये युग का प्रवर्तन करने के बाद फिर पृथ्वी में ही समा जाती है। इस रचना में रामकथा को प्रतीक-रूप में ही ग्रहण किया गया है। फलतः कथा और चरित्र की दिशा में किसी नवीनता के दर्शन हमें नहीं होते।

आधुनिक कविता में देवी-देवताओं को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिला है। स्वतंत्र रूप से उन्हें लेकर नई रचनाएँ उपस्थित नहीं की गई हैं। परन्तु पौराणिक कथाओं पर आश्रित रचनाओं में देवी-देवता स्वतः आ जाते हैं। मैथिलीशरण गुप्त की 'शक्ति' जैसी कुछ रचनाओं में कुछ स्वतंत्र चित्रण भी मिल जाता है, परन्तु वह महत्त्वपूर्ण नहीं है। आज का युग अतिमानवों और देवी-देवताओं की ओर आकर्षित नहीं होता।

परन्तु प्राचीन महापुरुषों और महावीरों को नायक बना कर इस युग में अनेक श्रेष्ठ काव्यों की रचना की गई है। पौराणिक कथाओं और रामायण एवं महाभारत से संबंधित वीरों को हम हटा भी लें, तब भी इस विषय की बहुत सी सामग्री हमें मिल जाती है। मैथिलीशरण गुप्त का 'रंग में भंग' (१९०९),

लाला भगवान दीन का 'वीरपंचरत्न' (१६०६—१४), सियाराम शरण सिंह का 'मौर्यविजय' (१६१४), गोकुलचंद शर्मा का 'प्रणवीर प्रताप' (१६१५), मैथिलीशरण गुप्त का 'विकट भट' (१६१५) और 'गुरुकुल' (१६२५), रामकुमार वर्मा का 'वीरहमीर' (१६२३), सुभद्राकुमारी चौहानी की 'झांसी की रानी' (१६२६), मुंशी अजमेरी की रचना 'हेमल सत्ता' (१६२८), उदयशंकर भट्ट का 'तत्तशिला' (१६३१), मैथिली शरण गुप्त का 'सिद्धराज' (१६३६), सियाराम शरण गुप्त और दिनकर की 'बापू' शीर्षक रचनायें (१६३८, ४८) निराला का 'तुलसीदास' (१६३६) और 'राम की शक्तिपूजा' (१६३८), राजेश्वर गुरु की रचना 'दुर्गावती' (१६४०), श्यामनारायण पांडेय की 'हल्दीघाटी' (१६४१) इस श्रेणी की रचनायें हैं। राष्ट्रीय आन्दोलनों ने देश की जनता में एक नई बलिभावना की ज्योति जगा दी थी और वे राष्ट्रीय वीरों का कीर्तिगान सुनने के लिए तैयार हो गये थे। फल-स्वरूप प्राचीन और समसामयिक वीरों को केन्द्र बना कर अनेक ग्रंथों की रचना हुई। कवियों ने मौर्यकाल से लेकर अपने समय तक ही सारी ऐतिहासिक चित्रपटी खोज डाली और उसमें से अनेक अनूठे रत्न निकाल कर हिंदी भारती को उपहार के रूप में भेंट किये। मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, निराला और श्यामनारायण पांडेय इस क्षेत्र के अत्यंत कृती लेखक हैं और इनकी रचनाएँ साहित्य की श्रेष्ठ सम्पत्ति हैं। निराला की दोनों रचनाएँ स्वच्छं-

दतावादी काव्य को सारा उच्छ्‌वास लेकर उपस्थित हुई हैं और कलात्मक सज्जा, ओज और विषय-निर्वाह की दृष्टि से वे संसार की किसी भी भाषा के काव्य के सामने रखी जा सकती हैं।

(२) सामान्य मानवता

आधुनिक काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें कवि पहली बार जीवन के सामान्य धरातल पर उतर आया है। प्राचीन काव्य में जिन अवतारों, महापुरुषों और महावीरों का चित्रण है वह सामान्य मानवता से बहुत दूर थे। प्राचीन कवि या तो अपने इष्टदेव के विग्रह की ओर देखता था और उसके अपार ऐश्वर्य पर मुग्ध हो जाता था या अपने आश्रय-दाता सामंत के वैभव की चकाचौंध में आ जाता था। उसकी वीरता उनके प्राणों की प्रतिध्वनि नहीं, झाँझ की थोथी झंकार है। वह बहुधा प्रशस्ति-मात्र बन गई है। जान पड़ता है कि प्राचीन कवि के संसार में कृषक, श्रमिक, भिक्षुक, उपेक्षित और लांछित थे ही नहीं। सामान्य जीवन के सुख-दुख, ईर्ष्या-द्वेष, हर्ष-विषाद, व्यंग-परिहास का उसमें कोई स्थान ही नहीं था। कवि सामयिक जीवन और समाज की ओर किंचित् भी उन्मुख नहीं था। भारतेन्दु हरिश्चंद (१८५० – ८५) ने पहली बार कवि के सामने एक नया आदर्श रखा। उन्होंने काव्य के लक्ष्य 'सहृदय' श्रोता के स्थान पर जनसाधारण को रख दिया। एक

विज्ञप्ति में उन्होंने लिखा "भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। इस विषय में बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाशित होते हैं, किंतु वे जनसाधारण के दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गाँव-गाँव में, साधारण लोगों में प्रचार की जायँ। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी, उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्रामगीत शीघ्रता से फैलते हुए और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से बने संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है।" आगे चलकर उन्होंने इन ग्रामगीतों के विषय भी दिये—बालविवाह से हानि, जन्मपत्र मिलाने की आशक्तता, बालकों को शिक्षा, अंगरेजी फैशन से शराब की आदत, भ्रूणहत्या, फूट और बैर, बहु जातित्व और बहु भक्तित्व, जन्मभूमि से स्नेह और उसके सुधारने की आवश्यकता का वर्णन, स्वदेशी—हिंदुस्तान की वस्तु हिन्दुस्तानियों को व्यवहार करना—इसकी आवश्यकता, इसके गुण, इसके न होने से हानि का वर्णन—आदि। स्वयं उन्होंने कविता की उस नई धारा का प्रवर्तन किया जो सामान्य

मानवता को अपना विषय बनाती थी। अपने युग की दुर्भिक्ष-पीड़ित जनता की वेदना को उन्होंने अपनी प्रसिद्ध 'होली' में इस प्रकार निरूपित किया—

जुरि आए फाँके मस्त होली हो रही
घर में भूँजी भाँग नहीं है तो भी न हिम्मतपस्त
होली होय रही।
महँगी परी न पानी बरसा बजरौ नाहीं सस्त
धन सब गवा, अक्किल नहिं आई तो भी मंगलमस्त
होली होय रही।
परवस कायर कूर आलसी आवें पेट-परस्त
सूझत कुछ न वसन्त माँहि वे भे खराब औ खस्त
होली होय रही।

उनके बाद तो यह प्रक्रिया इतनी तीव्रता से आगे बढ़ी कि हमारा काव्य अवतारों, देवी-देवताओं और महामानवों को भूल कर दीनों-उपेक्षितों के सुख-दुख और अनेक सामाजिक समस्याओं में रँग गया। स्वच्छंदतावादी कवियों को आकाशचारी बता कर उन्हें लांछित करने की एक लीक-सी पड़ गई है, परन्तु इन कवियों में से कम से कम निराला ने अपने प्रारंभिक काव्य में ही सामान्य मानवता की ओर ध्यान दिया। वह खुली आँखों से अपने चारों ओर के दुखों को देखते हुए, दुःखियों को अपने कवि-हृदय की सारी सहानुभूति दे सके हैं। 'भिक्षुक' उनकी प्रसिद्ध कविता है—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाये,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दयादृष्टि पाने की ओर बढ़ाये।
भूख से सूख ओंठ जब जाते
दाता—भाग्यविधाता से क्या पाते?
घूँट आँसुओं की पीकर रह जाते।
चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।

उनका एक अन्य कविता है 'विधवा'। विधवा की पवित्रता और उसके करुणापूर्ण जीवन का चित्र कवि इस प्रकार उपस्थित करता है—

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा सी,
वह दीपशिखा सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-तांडव की स्मृति-रेखा सी,

वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की विधवा है।
षट्ऋतुओं का शृंगार,
कुसुमित कानन में नीरव पदसंचार,
अमर कल्पना में स्वच्छंद विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है,
उसका एक स्वप्न अथवा है।
उसके मधु-सुहाग का दर्पण
जिसमें देखा था उसने
एक बार बिम्बित अपना जीवन-धन,
अबल हाथों का एक सहारा
लक्ष्य हृदय का प्यारा—वह ध्रुवतारा—
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनंत पथ से करुणा की धारा।

'धूलि कण' 'रास्ते के फूल से' जैसे तुच्छ विषयों पर कवि ने बड़ी सहानुभूति से लिखा है। इस प्रकार नायिका की वियोग-व्यथा, उसके श्वासोच्छ्वासों और प्रेम की करुणापूर्ण परि-स्थितियों से बाहर निकल कर हिन्दी के कवि ने पहली बार जनता के दुखों को काव्य का विषय बनाया। महान् को छोड़ कर तुच्छ और अपदार्थ की ओर सहानुभूति से देखने की प्रवृत्ति बलवती हुई। जिस देश में कविता का काम देव-प्रशंसा, चाटु-

कारिता या नायक-नायिका की चुहलों का वर्णन रहा हो, उसके लिए जन-जीवन के भीतर इतनी सहानुभूति के साथ प्रवेश करना सचमुच बड़ी क्रांतिकारी बात थी। साधारण कण से लेकर हिमालय तक और क्षुद्र भिक्षुक से लेकर भगवान तक सभी कविता के विषय बन गये। 'ग्राम्या' में पंत ने इसी भूमि पर कुछ अत्यंत सुन्दर रचनायें उपस्थित की हैं। 'ग्राम-चित्र', 'गाँव के लड़के', धोबियों का नृत्य', 'नहान', 'गंगा', 'चमारों का नाच', 'कहारों का नाच', 'संध्या के बाद', 'मज़दूरिनी के प्रति' जैसी कविताएँ इस वाणी की सर्वोत्तम रचनाएँ हैं। 'ग्राम-युवती' यह एक चित्र देखिये :

कानों में गुड़हल
खोंस, — धवल
या कुँई, कनेर, लोध पाटल,
वह हरसिंगार से कच सँवार,
यह मौलसिरी के गूँथ हार,
गउओं सँग करती वनविहार,
पिक-चातक के सग दे पुकार,—
वह कुंद, काँस से,
अमलतास से,
आम्र मौर, सहजन, पलाश से,
निर्जन में सज ऋतु-सिंगार।

ऐसे बीसियों चित्र आधुनिक काव्य को विशिष्टता प्रदान करते

हैं। आज का कवि इस दिशा में और भी आगे बढ़ा है। सामान्य मानव की मंगलध्वनि करता हुआ वह गाता है—

राजे दिनकर-जैसे,
विचरे नर पृथ्वी पर !

उसके सामने जनजीवन की क्रांति का एक नया लक्ष्य है। वह कहता है—

जल्द जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ !
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला,
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अँधेरे का ताला,
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ !
(निराला)

(३) प्रेम

हिंदी कविता में प्रेम का स्वस्थ चित्रण बहुत कम है। प्रारंभिक काव्य-धाराओं का ध्येय आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का पोषण था। स्त्री-पुरुष के प्रेम का पहला चित्रण हमें जायसी आदि सूफ़ी कवियों में मिलता है परंतु उसमें जहाँ एक ओर अध्यात्म के तत्त्वों की व्यंजना है, वहाँ दूसरी ओर फ़ारसी और उर्दू के विदेशीय प्रेम की झलक है। भक्त कवियों में केवल सूरदास ही ऐसे हैं जिन्होंने राधाकृष्ण के प्रेम को नैसर्गिक भूमि पर

चित्रित किया है। राधाकृष्ण का सौन्दर्य, प्रथम परिचय, प्रेम-विकास और प्रेम की त्याग-भावना का इतना ऊँचा काव्य संसार में नहीं। सूर का विप्रलंभ पक्ष संयोग पक्ष से कहीं अधिक पुष्ट है और भँवरगीत प्रसंग में इन्होंने गोपियों की विरह-वेदना का जैसा निरूपण किया वह सब तरह अपूर्व है। सूरदास का एक प्रसिद्ध पद है—

ऊधौ विरही प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहत न रंग को रंग न रसै परै॥
ज्यों फर देह बीज अंकुर गिरि तो सत फरनि फरै।
ज्यों घट अनल दहत तन अपुनौं पुनि पय अमा भरै॥
ज्यों रण शूर सहत शर सन्मुख तो रवि रथहि ररै।
सूर गोपाल प्रेमपथ चलि करि क्यों दुख-सुखन डरै॥

(सूरसागर, पृ० ५५१)

इस पद से सूर के काव्य की प्रेमसंबंधी स्वच्छंदवादी भावना के संबंध में हमें अच्छा परिचय मिलता है। नंददास ने अपने 'मंजरी'-ग्रंथों में प्रेम-तत्त्व की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। वस्तुतः कृष्ण-काव्य में राधा-कृष्ण और गोपियों के व्याज से प्रेमभाव का अत्यंत सुन्दर प्रकाशन हुआ है।

रीतिकाव्य का तो प्रधान विषय ही प्रेम था। कहीं स्पष्टरूप से लौकिक, कहीं राधा-कृष्ण का व्याज लेकर चलता हुआ। हिंदी साहित्य का रीतिकाल कदाचित् भक्तिकाल के संयम के विरुद्ध सामूहिक प्रतिक्रिया थी। परंतु साथ में

वास्तविक जीवन में जिस अनैतिकता की प्रतिष्ठा हो गई थी उसका प्रतिबिंब भी उसकी कविता में था। इसका फल यह हुआ कि जहाँ रीतिकालीन कविता ने जनता की रुद्ध अचेतन भावनाओं को प्रकाश में लाकर जनभावना को यौनविकृति से शुद्ध रखा, वहाँ दूसरी ओर अपरिष्कृत शृंगार के साहित्य को जन्म दिया। रीतिकाल की नारी पूर्वमध्यकालीन संस्कृत-साहित्य की काव्यरूढ़ियों के भीतर से विकसित हुई और उसका अपना निजत्व कुछ भी नहीं रह गया। 'योनि-मात्र रह गई मानवी।'

परन्तु रीतिकाल के उत्तरपक्ष में हमें प्रेमसंबंधी आदर्शों में कुछ नवीनता दिखलाई पड़ने लगती है। भारतेन्दु का काव्य इस दिशा में भी प्रमाण है। 'पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं।' कैसे स्पष्ट कथन है! प्रेम के संबंध में यह दृष्टिकोण धीरे-धीरे और भी विकसित होता गया है। 'प्रेमपथिक' में हम पहली बार प्रसाद को प्रेम की नई व्याख्या उपस्थित करते पाते हैं—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांतभावना में रुक जाना
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं

रीतिकाव्य के लालसा-प्रधान कवित्त-सवैयों में जिस अंतर्वृत्ति का प्रकाशन हुआ था उससे यह आदर्श एकदम भिन्न, एकदम नवीन, एकदम अनूठा है। प्रसाद, पंत और रामकुमार वर्मा के काव्य में इस अंतर्वृत्ति के कुछ अत्यंत सुन्दर चित्र मिले

हैं। 'ग्रंथि', 'कामना' और 'निशीथ' जैसी रचनाओं में प्रेम ने कथाकाव्य का रूप ग्रहण कर लिया। प्रसाद और पंत की कुछ कविताओं में उसका मुक्तक रूप में लाक्षणिक ढंग का प्रकाशन मिलता है। प्रसाद का 'आँसू' सचमुच एक अभिनंदनीय रचना है।

छायावाद के पहले कवि जिस समय लिखना शुरू कर रहे थे, उस समय सामाजिक बंधन आज की अपेक्षा भी दृढ़ थे। यौन-संबंधी आकर्षण को किसी भी प्रकार प्रकट करना एक महान् अपराध होता। इसीलिए अधिकांश कवि प्रकृति को ही अपना विषय बनाकर चले। उन्होंने जहाँ-जहाँ भौतिक प्रेम को अपना लक्ष्य बनाया, वहाँ-वहाँ देह की ओर अस्पष्ट संकेत करके रह गये। यह क्षेत्र पहले ही बदनाम था। इससे उन्हें ज़रा सतर्क होकर चलना था। फलतः नारी का चित्रण करते समय वे या तो उसके दैहिक सौन्दर्य और उसके प्रति आकर्षण की उपेक्षा करते या उर्दू कविता के आदर्श को स्वीकार करते हुए अपनी बात का लाक्षणिकता के आवरण में छिपाते। परन्तु धीरे-धीरे परिस्थिति बदली। उनका स्वागत हुआ। नियंत्रण भी कम हुआ और उनकी कायिक वृत्ति ने साँस ली। उन्होंने नारीसौन्दर्य की ओर भी ध्यान दिया। परन्तु तब कठोर नियंत्रण में रहने के कारण उनका यह दृष्टिकोण दूषित हो गया था। उनकी सौन्दर्यानुभूति रहस्य-मयता की ओर बढ़ रही थी। फल यह हुआ कि उन्होंने नारी को

एक रहस्यमय, अलौकिक और अपार्थिव जीव के रूप में देखा। उनके इस दृष्टिकोण की जड़ में उनकी रहस्यवादी प्रवृत्ति थी जो लौकिक को अलौकिक और नगण्य को उच्चतम करके देखती थी।

कुछ समय बाद नई काव्यधारा में नारी का ऐहिक रूप भी स्पष्ट होने लगा। 'आँसू' में जो सौन्दर्य लक्षणा के सहारे उभारा गया था, 'निशीथ' में उसका सहज स्वाभाविक चित्रण है। भगवतीचरण वर्मा, अंचल और नरेन्द्र की कविताओं में हमें हाड़-मांस की नारी से परिचय प्राप्त होता है। अब वह 'ज्योति की तन्वि' नहीं रह गई है। इन कविताओं का विरह-रोदन हमारे हृदय के तन्तुओं को छू लेता है। परन्तु भगवती चरण वर्मा के प्रेम में विद्रोह और झूठी मस्ती की भावना अधिक है और नरेन्द्र के प्रेम में पुरुषत्वहीन आत्मसमर्पण की। अंचल की कविता में नारी के वासनामय और हाहाकारमय चित्र ही अधिक मिलते हैं। उसमें नारी का कल्याणी रूप नहीं है। फिर भी छायावाद की अमूर्त, कल्पना-रहस्यप्रधान, अपार्थिव नारीमूर्ति के सामने, चाहे प्रतिक्रिया-रूप में ही सही, एक अतीव पार्थिक और स्थूल, यद्यपि अस्पष्ट और हाहाकार-मयी नारी-चित्र रखने का श्रेय अंचल को है।

नारी के प्रति ठीक दृष्टिकोण हमारे कवि अभी तक बना नहीं पाये हैं। इसका कारण है। अभी तक नर-नारी के बीच की सामाजिक प्राचीर उसी तरह दृढ़ बनी हुई है। यह अवश्य

है कि अब मध्यवर्ग में यौन-संबंधी दृष्टिकोण कुछ सुलझ रहा है और वैवाहिक प्रतिबंध कुछ शिथिल हो रहा है, परन्तु अभी परिस्थितियाँ ऐसी नहीं हैं कि हमारी कविता उस तरह की प्रेम-कविताओं को जन्म दे जिनका स्वर ज़रा भी विकृत न हो गया हो। कहीं पाशविक ऐन्द्रियता है तो कहीं स्त्रैण आकर्षण। नरेन्द्र की कविता में नारी के प्रति कोमल भावनाएँ अपेक्षाकृत अधिक संख्या में मिलती हैं परन्तु उनका प्रेम तरुण का प्रेम नहीं है। उसमें किशोर का कंठ फूट रहा है। पुरुष नारी के चरणों में एकांत समर्पण के अतिरिक्त उससे कुछ नहीं चाहता। उनके प्रेम में भावुकता और सस्ता विरह-निवेदन है यद्यपि उनकी कविता अनुभूतिपूर्ण और जनप्रिय है। उसमें अपना आकर्षण है। फिर भी जब तक हमारे समाज में नारी अपने प्राकृतिक स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं होती, जब तक उसे अपना पूरा आकार नहीं मिलता, तब तक न हमारा साहित्य उसके प्रति अपने स्वस्थ दृष्टिकोण का ही निर्माण करता है, न हमारे प्रेम-गीत ही विश्वसाहित्य के प्रेमगीतों की तुलना में पूरे उतर सकेंगे।

परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आज नारी-जागरण के शंख बज उठे हैं। आज का कवि गाता है :

मुक्त करो नारी को मानव !
चिर बंदिनि नारी को,
युग-युग की बर्बर कारा से,
जननि, सखी, प्यारी को !

छिन्न करो सब स्वर्ण पाश
उसके कोमल तन-मन के,
वे आभूषण नहीं, दाम
उसके बन्दी जीवन के !
पुरुष-वासना की सीमा से
पीड़ित नारी-जीवन,
नर-नारी का भेद तुच्छ है
केवल युग्म-विभाजन ?
उसे मानवी का गौरव दे
पूर्ण सत्व दो नूतन,
उसका मुख जग का प्रकाश हो
उठे अंध अवगुण ।

पिछले राष्ट्रीय आन्दोलनों ने भारतीय नारी को घर की संकीर्ण सीमा से बाहर निकाला है और आज देश के स्वतंत्र हो जाने पर अनेक नये-नये राजपथ उसके लिए उन्मुक्त हो गए हैं। नए काव्य की पुकार है कि नारी नर के साथी के रूप में प्रतिष्ठित हो। वह केवलमात्र भोग्या बनकर नहीं रह जाये। वह जाया है। गृहिणी है। देश की मातृशक्ति है। जब नारी अपने प्रकृत स्थान पर प्रतिष्ठित होगी तब नर के साथ उसका संबंध भी अधिक स्वस्थ बन सकेगा और उसके होठों पर जो फूल खिलेंगे वे लालसा के नहीं, मातृत्व और मंगल के होंगे।

(४) प्रकृति

प्राचीन हिंदी कविता में प्रकृति का चित्रण प्रायः कुछ बँधे ढंग पर हुआ है :

१—उपमान के रूप में।

२—भावों के उद्दीपन-स्वरूप, विशेषत: रतिभाव के।

३—साधारण स्वतंत्र वर्णन के रूप में जिसमें नामावली की ही प्रधानता है। संश्लिष्ट योजना वाले चित्र गोस्वामी तुलसीदास के एकाध पद को छोड़ कर बहुत कम हैं। मानव-हृदय के अनेक भावों के साथ प्रकृति को मिलाकर नहीं देखा गया। स्वतंत्र चित्रण वीरकाव्य को छोड़कर अन्य स्थान पर बहुत थोड़ा मिलता है। यहाँ भी प्रकृति-निरीक्षण का लगभग अभाव है। जायसी के काव्य में प्रकृति के रोमांटिक चित्र मिलते हैं और प्रकृति को अध्यात्म चित‌तत्त्व की प्राप्ति में तत्पर एवं साधक के लिए साधनारूप चित्रित किया गया है। इसके सिवा जो कुछ है वह अलंकार-प्रतिष्ठा और चमत्कार-विधान के लिए है जिसे हम किसी भी प्रकार महत्त्वपूर्ण नहीं कह सकते। रीतिकाल की तुलना अंग्रेजी के पोप और ड्राइडन के काल की कविता से की जा सकती है। उस समय जो कविता लिखी गई वह पूर्णतय: नागरिक थी। उसका विकास नगरों में हुआ। उसमें या तो प्रकृति को कोई स्थान ही नहीं मिला या उसका परंपरागत रूप ही स्वीकार कर लिया गया। वह भी शृंगार

के भावों, अनुभावों और विभावों के उद्दीपन के लिए। रीति-काल की प्रकृति स्वतंत्र नहीं है। वह कवि की दासी है और बुलाने पर वेश्या की तरह अनैसर्गिक शृंगार करके उसके सामने आती है। गृहिणी-जैसा सरल, निश्छल और पातिव्रत्य-पूर्ण व्यवहार उसका नहीं है।

आधुनिक युग में प्रकृति को काव्य में स्वतंत्र रूप से स्थान मिला। उसकी एक अपनी अलग सत्ता प्रतिष्ठित हुई। आधुनिक युग में प्रकृति को काव्यपरिपाटी से उन्मुक्त करने वाले पहले कवि पं० श्रीधर पाठक हैं जिन्होंने गोल्डस्मिथ की कविताओं से प्रेरणा प्राप्त की। उनकी 'काश्मीर-सुषमा' आदि कविताओं ने हिंदी को एक नई दिशा दिखलाई। हिंदी कविता के द्विवेदी युग के कवि पाठक की रचनाओं से प्रभावित रहे परंतु उनमें से अधिकांश प्राकृतिक वस्तुओं के परिगणन से आगे नहीं बढ़ पाये। इन कवियों में पं० लोचनप्रसाद पांडेय और पं० रूपनारायण पांडेय प्रमुख हैं। परंतु इस समय भी कवियों का अधिकांश वर्ग काव्य-परिपाटियों के भीतर से देख रहा था एवं संयोग और विप्रलंभ शृंगार के उद्दीपन के रूप में ही उसका वर्णन कर रहा था। इसी समय कुछ कवियों ने प्रकृति का अच्छा अध्ययन किया और अपने निरीक्षण के आधार पर उसका रूप निश्चित किया। ये कवि थे पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय (हरिऔध), पं० रामचंद्र शुक्ल और श्रीमैथिलीशरण गुप्त। इन तीनों कवियों

की रचनाओं में बड़ा अंतर है । उपाध्यायजी प्राचीन परिपाटी के अधिक निकट हैं। वे प्रकृति के दृश्यों के संस्कृत एवं अलंकृत रूप को ही काव्य में स्थान देते हैं। संस्कृत शब्दों और वर्णवृत्तों का सहारा लेने से उनके प्रकृति-चित्रण में पौराणिकता एवं अलौकिकता आ जाती है परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदी में प्रकृति का विस्तृत, अलंकत चित्रण पहले-पहल हरिऔध ने ही किया। उनका महाकाव्य 'प्रियप्रवास' प्रकृति के अत्यंत सुन्दर चित्रों से भरा पड़ा है। पं० रामचंद्र शुक्ल को प्रकृति के प्रति तन्मयतापूर्ण अनुराग है। उन्हें गुलाब भी प्रिय हैं, कटीली झाड़ियाँ भी। प्रकृति के सामान्य रूपों को चित्रित करने में वे सिद्धहस्त हैं। उनकी निरीक्षणशक्ति अत्यंत सूक्ष्म है। उन्होंने ही पहली बार प्रकृति के अंततम सौंदर्य का उद्घाटन किया और प्रकृति के रसबोध का शास्त्रीय विश्लेषण भी उपस्थित किया। गुप्तजी के काव्य में भी प्रकृति के अनेक सुन्दर चित्र मिलते हैं। साकेत के अंत में—

स्वच्छतर अंबर में छनकर आ रहा था
    स्वादु मधुगंध से सुबासित समीर सोम।
समुदित चंद किरणों की चार ढारता था।
    आरती उतारता था दिव्यदीप वाला व्योम॥

ऐसा व्यापक चित्र प्राचीन काव्य में कहाँ मिलेगा ?

छायावादी कवियों ने प्रकृति को देखने का दृष्टिकोण ही बदल दिया। महादेवी वर्मा के शब्दों में—'छायावाद ने

मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस संबंध में प्राण डाल दिये जो प्राचीनकाल से बिंब-प्रतिबिंब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। काव्य के मान भी बदले। रंगों में, तूलिका में, अन्य उपादानों में बाहुल्य और बहुमूल्यता का समावेश हुआ। अंग्रेज़ी कविता के रोमांटिक कवियों की भाँति उनकी पुकार थी—प्रकृति की ओर लौटो।' 'पल्लव' (१६२८) और 'परिमल' (१६३०) छायावाद के दो महत्त्वपूर्ण प्राथमिक काव्यसंग्रह हैं। इन दोनों संग्रहों की आधी से अधिक कविताएँ प्रकृति से संबंधित हैं। कुछ प्रारंभिक कविताओं में प्रसाद पहले ही मार्गप्रदर्शन कर चुके थे। उनका प्रभात-सुषमा संबन्धी एक सुन्दर जागरण-गीत है—

बीती विभावरी जाग री—
अम्बर-पनघट पर डुबा रही तारा-घट ऊषा नागरी
खग-कुल कुल कल-कल बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो, वह लतिका भी भर लाई
मधु-मुकुल-नवल-रस गागरी

इसी प्रकार निराला का एक सुन्दर संध्याचित्र है :

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है

वह संध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे
तिमिरांचल में चंचलता का कहीं नहीं आभास
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर
किंतु ज़रा गंभीर, नहीं है उनमें हास-विलास
हँसता तो है तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों में

परंतु वस्तुचित्रण भी कम नहीं हुआ है। पंत का पर्वत ही क्षण-क्षण परिवर्तित प्रकृति का चित्र—

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्त्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार
जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल
मोती-सी लड़ियों से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर
गिरिवर के उर से उठ-उठ कर
तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर
उड़ गया अचानक लो भूधर

इस प्रकार के सैकड़ों रहस्यवादी और स्वच्छंदतावादी चित्र

आधुनिक काव्य में मिलेंगे। परंतु वर्तमान कवियों में एक वर्ग ऐसा भी है जो प्रकृति का यथातथ्य चित्रण करता है। इस वर्ग के कवि प्रकृतिवादी कहे जा सकते हैं। दिनकर, भक्त और नैपाली ऐसे ही कवि हैं। दिनकर की एक कविता में साँझ का वस्तुचित्र है—

स्वर्णांचला अहा खेतों में उतरी संध्या श्याम परी
रोमंथन करती गायें आ रहीं रौंदती घास हरी
घर-घर से उठ रहा धुँआ जलते चूल्हे बारी बारी
चौपालों में कृषक बैठ गाते 'कहं अटके बनवारी'

'भक्त' ने अपनी फुटकर कविताओं में और 'नूरजहाँ' में प्रकृति का बहुत ही सुन्दर चित्रण उपस्थित किया है। नैपाली की 'नौका-विहार,' 'धरहरा' आदि कितनी ही प्रकृति-सम्बन्धी सुन्दर कविताएँ हिन्दी साहित्य की विशिष्ट रचनायें हैं।

द्विवेदी काल तक प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार कर ली गई थी। पश्चिमी सभ्यता के साथ नगरों का जीवन तेज़ी से बदल रहा था। प्रकृति के जो चिह्न [illegible] के पिछले युग में नगर में रह गये थे, वे भी नष्ट हो रहे थे। आर्थिक संघर्ष ने जीवन को और भी जटिल, और भी नीरस बना दिया था। इससे कवियों की दृष्टि प्रकृति की ओर गई। वे नगर के रहने वाले थे। उनकी भावुक सहानुभूति कभी काश्मीर की सुषमा पर जाती, कभी ग्राम्यजीवन की सरलता की ओर, कभी ग्राम प्रकृति की ओर। जो हो, उन्होंने प्रकृति की ओर देखा, चाहे

उनका दृष्टिकोण उनके इस आदर्शभाव से प्रभावित होकर निरर्थक ही क्यों न हो गया हो जिससे प्रेरित हो बाद में प्रेमचंद गाँवों पर मोहित हो गए थे। नवयुग के कवियों ने जीवन की इतिवृत्तात्मकता, यथातथ्यता और कटुता के प्रति भावुक विद्रोह किया और अपनी भावनाप्रिय प्रकृति के कारण उसकी उपेक्षा कर उन्होंने उसे आँख की ओट करना चाहा। परन्तु वे शीघ्र ही अति की ओर झुक गये। उनके प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण में एक आसक्तिपूर्व भावुकता ने प्रवेश कर लिया। शीघ्र ही वे प्रकृति के संबंध में रहस्यवादी हो गये। कितने ही कवियों के प्रकृतिचित्र उनके रहस्यवाद या उनकी रोमांटिक भावनाओं के कारण अतिरंजित हैं। उनमें न प्रकृति की स्वाभाविकता है, न उसकी विशदता। परन्तु अति आधुनिक प्रगतिवादी कवियों ने प्रकृति के प्राकृत रूप की ओर भी दृष्टिपात किया है। वे प्रत्येक दिन के दृश्यों में सौन्दर्य भरने में सफल हुए हैं। उन्होंने नये छंदों में, नई भाषाशैली में, नई मूर्तिमत्ता के साथ प्रकृति को नए-नए रंग-रूपों में बाँधा है।

(५) राष्ट्रीयता और देशभक्ति

राष्ट्रीयता और देशभक्ति आधुनिक काव्य की एक अत्यंत प्रबल प्रवृत्ति है और काव्य में अनेक रूपों से इसका प्रकाशन हुआ है। स्वयं भारतेन्दु की कविताओं में राष्ट्रीयता का पहला स्फुरण स्पष्ट रूप से दिखलाई देता है। 'नये ज़माने की

मुकरी' (१८८४) इसका प्रमाण है। परन्तु और भी अनेक रचनाएँ हैं जिनकी राष्ट्रीयता के संबंध में कोई मतभेद नहीं हो सकता। उन्होंने ही पहली बार अंग्रेज़ी राज्य की सुख-समृद्धि के छल की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने कहा—

भीतर-भीतर सब रस चूसै
हँसि-हँसि कै तन तन धन मूसै
जाहिर बातन में अति तेज़
क्यों सखि साजन नहिं अँगरेज़

उन्होंने जिस सामयिक कविता की नींव डाली उसकी भित्ति ही राष्ट्रीय भावना थी। बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशाब्दों की रचनाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण रचनायें थीं मैथिलीशरण गुप्त की 'भारतभारती' (१९१२) और श्रीधर पाठक के 'भारतगीत' (१९१८)। १९१९ ई० से राजनीति के क्षेत्र में गाँधीजी के पदार्पण के बाद राष्ट्रीयता की भावना की प्रधानता रही और सैकड़ों उत्साहपूर्ण काव्य लिखे गये। द्विवेदीयुग के प्रमुख कवि सुमित्रानंदन पंत नहीं हैं, मैथिलीशरण गुप्त हैं, परन्तु उनके काव्य-संग्रह में ऐसी कितनी ही रचनाएँ हैं जिन्हें देशभक्ति की रचनायें कहा जा सकता है। छायावादी कवि राष्ट्रीय आंदोलन में प्रमुख नहीं हैं। परंतु निराला का ओजपूर्ण काव्य, माखनलाल चतुर्वेदी की रहस्यात्मक अनुभूति और मर मिटने की साधना और पंत के परवर्ती काव्य में इस प्रकार की कविता की शोध

अत्यंत सफल है। आज भी राष्ट्रीयता की भावना उतनी निर्बल नहीं हुई है।

(६) जीवन की नश्वरता एवं रहस्यमय मिलन और वियोग

आधुनिक काव्य की छायावादी धारा में हमें जीवन की नश्वरता और असहाय्य, दुख, करुणा और अवसाद के चित्र बार-बार मिलते हैं। प्रसाद का 'आँसू' (१६२६) पंत का 'आँसू', 'ग्रंथि' और 'उच्छ्वास' और महादेवी एवं रामकुमार वर्मा के प्रारंभिक काव्य में जीवन की नश्वर भावना और दुख का जैसा प्रसार मिलता है, वह संतकाव्य को छोड़कर और कहीं नहीं मिलेगा। यह दुःखवाद बहुत कुछ वैयक्तिक है। प्रसाद ने अपने किशोर-काल में ऐश्वर्य और विलास का एक ऐसा संसार देखा था जो शीघ्र ही खंडहर बन गया। 'आँसू' इसी ध्वंस का चीत्कार है। उसमें असफल प्रेमी के अनेक हृदयोद्गार मिलेंगे। 'आँसू' के पहले संस्करण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि की अनुभूति एकांततः लौकिक है। बाद में उसने ग्रंथ में ऐसे अनेक छंद जोड़ दिये हैं जिनसे यह एकांतिक अनुभूति, व्यापक दुःखवाद, अध्यात्म और मानव के प्रति मंगलाशा का रूप धारण कर लेती है। प्रसाद की तरह पंत की माता का देहांत भी बालकाल में हो गया था और उन्होंने भी अपनी किशोरावस्था में प्रेम की असफलता की एक तीव्र अनुभूति प्राप्त की थी। 'ग्रंथि' में उन्हीं की प्रेम-कहानी लिपिबद्ध है। यही 'आँसू'

और 'उच्छ्वास' में कवित्वमय भावना-प्रधान रूप ग्रहण कर लेती है। महादेवी वर्मा के प्रथम काव्यसंग्रह 'नीहार' (१९३०) और रामकुमार वर्मा के 'अभिशाप' (१९३०) में भी हमे दुःखवाद का स्फुरण मिलता है। यह स्पष्ट है कि छायावाद काव्य में जीवन के प्रति असंतोष के चिह्न बराबर मिलते हैं। अनेक सामाजिक और राजनैतिक रूढ़ियों ने देश के बल को कुंठित कर रखा था परन्तु इस कुंठा की अभिव्यक्ति ने सामाजिक विद्रोह का रूप ग्रहण नहीं किया। ओस की क्षणभंगुरता और फूल के झरने की बात कह कर एक प्रतीक की ओट ढूँढ ली गई। इस नश्वरभाव, दुःखवाद और वेदना का सबसे अधिक व्यवस्थित रूप हमारे महादेवी वर्मा के काव्य में मिलता है।

परन्तु कवि इस दुःखवाद और नश्वरता की भावना से चिपटा नहीं रह सका। उसने इस नश्वरता में किसी कालातीत का स्पर्श देखा—

मेरा प्रतिपल छू जाता है
                कोई कालातीत
स्पंदन के तारों पर गाती
                एक अमरता गीत

इसी 'कालातीत स्पर्श' को कवि ने रूपक में बाँधना चाहा। वह जो अनायास ही चुपके से आकर हमें अपने स्पर्श से ऊपर उठाता है, वही तो अज्ञात प्रियतम है। यह विरह-मिलन की क्रीड़ा बराबर चलती रहती है। नष्टप्राय चीज़ों में एक अवि-

नश्वर, अमर अस्तित्व की कल्पना कभी तो छलना-मात्र जान पड़ती है, परन्तु नाश और पीड़ा के पीछे निर्माण और आनंद का स्वर कहीं भी नहीं है, इस पर कवि को सहसा विश्वास नहीं होता। महादेवी कहती हैं—

कैसे कहती हो सपना है
अलि ! उस मूक मिलन की बात ?
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू उनके हास।

उन्हें पूर्ण रूप से यह विश्वास है कि वे अपनी पीड़ा के द्वारा ही अपने प्रियतम का अभिषेक कर सकेंगी, उनके सपने आँसू के जल में कभी भी घुल कर नष्ट नहीं होंगे—

मैं अनंत पथ में लिखती जो
सस्मित सपनों की बातें,
उनको कभी न धो पायेंगी
अपने आँसू से रातें !
उड़-उड़ कर जो धूलि करेगी
मेघों में नभ का अभिषेक
अमिट रहेगी उसके अंचल
में मेरी पीड़ा की रेख

इस प्रकार नश्वरता, अवसाद और दुःख से आरंभ होकर आधुनिक काव्य एक अतीन्द्रिय अमर लोक का निर्माण करता है। वह सीमा में असीम का इंगित पढ़ता है। उसके लिए सारी

प्रकृति उसके प्रियतम का क्रीड़ा-स्थल है। विस्मय से चकित हो वह पूछता है—

अवनि-अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता,
तैरते घन मृदुल हिम के पुंज से
ज्योत्सना के रजत पारावार में,
सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे,
नींद के उच्छ्वास-सा वह कौन है!

कभी प्रभातकालीन प्राकृतिक सुषमा कवि के हृदय में एक गुद-गुदी उठा देती है और वह जिज्ञासा-भाव से भर कर पूछ उठता है—

मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि, क्या प्रिय आने वाले हैं?

कभी वह कल्पनात्मक से मिलन का अभिनय करता है—

अश्रु मेरे माँगने जब
नींद में वह पास आया!
स्वप्न-सा हँस पास आया!
हो गया दिव की हँसी से
शून्य में सुरचाप अंकित;
रश्मि-रोमों में हुआ
निस्पंद तम भी सिहर पुलकित;

अनुसरण करता अमा का
चाँदनी का हास आया !

कभी वह मिलन-सुख में विह्वल हो गा उठता है—

मैं तुमसे मिल गया प्रिये !
यह है जीवन का अन्त,
इसी मिलन का गीत कोकिले !
गा जीवन-पर्यंत !
सुमन मधुप को बुला-बुला कर
देंगे यह संवाद,
कलियाँ कल जागेंगी लेकर
इसी मिलन की याद।

कभी वियोग के गीत गुनगुनाता है :

कौन आया था न जाने
स्वप्न में मुझको जगाने;
याद में उन अंगुलियों के
हैं मुझे पर युग बताने;
रात के उर में दिवस की
चाह का शर हूँ !
शून्य मेरा जन्म था,
अवसान है मुझको सवेरा;
प्राण आकुल के लिए
संगी मिला केवल अँधेरा;

मिलन का मत नाम ले
मैं विरह में चिर हूँ !

इस प्रकार साधक अपने नश्वर भाव को कभी किसी अविनश्वर की छाया मान कर संतोष करता है, कभी अपनी नश्वरता को प्रिय का वरदान समझ कर उस पर गर्व करने लगता है। जीवन के प्रति इस दृष्टिकोण का क्या मूल्य होगा, आज यह कहना कठिन है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि रहस्यवाद के गीतों की अपने साहित्य में एक लम्बी परंपरा है और आज के कवि के रहस्यवादी गीत इसी परंपरा की नई कड़ी हैं। युग के अनुरूप उनमें नये प्रतीक-विधानों के माध्यम से कवि अपनी बात कहता है परन्तु इसी एक बात से वह छोटा नहीं हो जाता।

११

उपसंहार

पिछले दस अध्यायों में हमने हिन्दी कविता की १२०० वर्षों की प्रगति देखी। सिद्धों की कविता का आरंभ सरहपाद (सरहपा) से होता है जिसका समय ७५० ई० के लगभग है। आज हम फिर एक अर्द्धशताब्दी पार कर रहे हैं। बीच के बारह सौ वर्षों की मध्यदेश की सारी उथल-पुथल हमारे काव्य-साहित्य में सुरक्षित है। हिन्दी काव्य-संपदा में भारत के मध्यदेश की जनता की लगभग १२०० वर्षों की चिंता-धाराओं, भावनाओं, धर्म, संस्कृति और आशाकांक्षाओं का ऐसा बड़ा संकलन है जो काल के सर्वभक्षी मुख से बच कर आज हम तक पहुँच सका है। गोरखनाथ से लेकर आधुनिक युग के संत और भक्त-संप्रदाय तक भारत में एक विराट धार्मिक समन्वय, एक महान् सांस्कृतिक ऐक्य की स्थापना की एक परंपरा चलती रही है। गोरखनाथ, कबीर, जायसी, सूरदास, तुलसीदास, दादू, रज्जब अनेकानेक भक्तों, संतों, गोरखपंथियों, सूफ़ियों और निरंजनियों

ने इस परंपरा में योग दिया है। दस शताब्दियों तक भारत के महान् कवियों और सांस्कृतिक नेताओं ने जो सोचा-समझा, जिस अनुभूति को उन्होंने अपने हाड़-मांस के ताप से तपाया, जिसके प्रचार को अपने जीवन का ध्येय बनाया, जो जानकर अमरता प्राप्त की, वह आज हिन्दी काव्यसाहित्य की अमूल्य निधि है। हिन्दी काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह केवल कविता नहीं है। धर्म, देश, संस्कृति, जीवन-विज्ञान, नीति और संगीत की अनेक धाराएँ उसका अविच्छिन्न अंग बन गई हैं।

इसी से हिन्दी कविता की सारी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपरा को एक पुस्तक में समेटना कठिन है। युगों-युगों की पुरानी अंतस्साधनाओं को पुनर्जीवित करना और उनके नेताओं के व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण सरल काम नहीं है। संतों, भक्तों और सूफ़ी साधकों ने जो काव्य-साहित्य हमें दिया है, उसमें उनकी अपनी साधना पूरी-पूरी समा सकी है, इसमें संदेह ही रहेगा। संतपीठों, देवमंदिरों और ख़ानकाहों के बाहर जो आया है वह बहुत कुछ है, परन्तु सब नहीं है। इसीसे आज प्राचीन काव्य को केवल काव्य मानकर हम बहुत दूर नहीं जा सकेंगे। उसे संतों, भक्तों और सूफ़ियों के व्यक्तित्व और उनकी अपनी-अपनी साधना की पृष्ठभूमि में रख कर देखना होगा। सच तो यह है कि इस कविता में इतना कुछ श्रेष्ठ है, इतना कुछ महान् है कि आज हम उसी को लेकर प्रांतीय भाषाओं

और संसारों की अन्य भाषाओं के साहित्य के सामने उपस्थित होते हैं। संसार के किसी भी देश में कविता ने लाखों-लाखों मनुष्यों के जीवन-निर्माण में इतन महत्त्वपूर्ण भाग नहीं लिया। संस्कृत की बात हम छोड़ देते हैं। वेद, उपनिषद्, गीता, पुराण और भागवत निःसन्देह उच्च श्रेणी के काव्य हैं। उनमें धर्म, दर्शन और जीवन-निर्माण की ऊँची से ऊँची व्यवस्था है। आज भी लाखों-लाखों मनुष्य अपने आध्यात्मिक और धार्मिक जीवन की व्यस्था इन ग्रंथों में पाते हैं। परन्तु संस्कृत कभी भी जनता की भाषा नहीं बनी। करोड़ों-करोड़ों लोगों तक पहुँचने की संभावना उसके विषय में कभी नहीं रही। इसी से हिन्दी का काव्य-साहित्य अपूर्व रहा है। आज भी यह साहित्य २२ करोड़ लोगों की अध्यात्म और धर्म की व्यवस्था दे रहा है। कबीर, दादू, सूर, तुलसी और नानक के पद हिन्दीप्रदेश की जनता के जीवन में इतने घुल-मिल गये हैं कि वे कविता रह ही नहीं गये। ५००० वर्षों की अपने देश की संत-परंपरा और सन्त-संस्कृति में इन्हीं महाप्राणों की वाणी वाणी से फूटी थी। आज यह अमृतवाणी हिन्दी के प्राणों की वाणी है। वह जन-जीवन से अभिन्न बन गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का सारा प्राचीन काव्य-साहित्य मुख्यतः धार्मिक है। परन्तु धार्मिक कहने से हम उसे छोटा नहीं कर सकेंगे। उसमें जहाँ एक ओर अत्यंत उत्कृष्ट काव्य-कला के दर्शन होते हैं वहाँ दूसरी ओर मानव-अंतर्मन

के निर्माण के लिए भी बहुत कुछ है। सच तो यह है कि मध्य-युग के इस विशाल वाङ्मय के जोड़ की चीज़ संस्कृत के भी पास नहीं है। वह परलोक की ओर अधिक देखता है, परन्तु यह इस साहित्य की दुर्बलता नहीं है। यह तो भारत की सांस्कृतिक विशेषता ही है। लौकिक जीवन की अनेक-रूपता, चहल-पहल, हास-विनोद, वैयक्तिक सुख-दुख, घृणा-द्वेष के लिए आपको और कहीं जाना पड़ेगा। इस साहित्य में तो हमें मनुष्य का सबसे अधिक दृढ़ ईश्वर-विश्वास मिलेगा। तुलसी कहते हैं—

एक भरोसो, एक बल, एक आस विस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥

इस विश्वास में केवल बौद्धिक संतोष ही नहीं है। यह आत्मा का पूर्णसमर्पण है। चाहे सगुण काव्य को लें, चाहे निर्गुण को, यह भावना दोनों में एक ही प्रकार ओत-प्रोत है। मीरां यदि कहती हैं—

आली री मेरे नैनन बान पड़ी।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत उर विच आन अड़ी।
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी।
कैसे प्रानपिया बिन राखूँ, जीवन मूल जड़ी।
मीरां गिरिधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी।

तो कबीर भी उस प्रियतम के वियोग में तड़पते दिखलाई देते हैं :

रात्यूं सूनी बिरहणी ज्यूं बंचौ कूं कुञ्ज।
कबीर अन्तर प्रजल्या प्रगट्या बिरहा पुंज॥
बिरह-भुवंगम तन बसै मंत्र न लागे कोइ।
रामवियोगी ना जिवै जिवै त मिरतक होइ॥
विरह जलाई मैं जलौं जलती जलहरि जाउँ।
मो देख्याँ जल, हरि जलै संतौ कहाँ बुझाउँ॥

यह अनन्य ईश्वर-प्रेम, यह उच्च कोटि का आध्यात्मिक विरह, यह संसार की असारता और ऐहिक-सुख की क्षणभंगुरता का वर्णन, यह परमात्मा का वात्सल्य और सख्य, यह आत्मा-परमात्मा (राधा-माधव) की केलि—अन्यत्र दुर्लभ है। जिस साहित्य में ऐसा अलौकिक भंडार है उसे किसी भी बात की कुंठा नहीं हो सकती। असंत-संत, दुःख-सुख संतोष और विराग, तप और संयम, आध्यात्मिक जागरूकता और लौकिक कर्तव्य-निष्ठा यही सैकड़ों ढंग से काव्य, अनुभूति और साधना के विषय बन गये हैं। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि मध्ययुग के इस साहित्य ने अशांति और अधर्म के युग में भी राष्ट्र का मेरुदंड सशक्त बनाये रखा। १००० वर्षों की गुलामी के बाद भी भारतवर्ष का साधारण कृषक-श्रमिक आज भी दया, क्षमा, प्रेम, सहयोग, त्याग और तपस्या के महत्त्व को जानता है तो यह मध्ययुग के इस साहित्य का ही आभार है। आज भी जनता के विश्वास, चरित्र और संस्कृति के मेरुदंड कबीर, दादू, मीरां, सूर और तुलसी ही हैं। गीता, भागवत, उपनिषदों और

वेदों में वह सब तत्त्व हैं जो इन कवियों के काव्य में मिलते हैं परन्तु यहाँ वे उपदेश-मात्र नहीं रह कर अनुभूति, सत्य और साधना बन गये हैं। वस्तुतः एक ही सत्य को हमारे कवियों और साधकों ने अपने ढंग पर अलग-अलग देखा है। इसी से वह मौलिकता से चिपटे नहीं रहे। पुष्पदंत का एक श्लोक है :—

असितगिरि समस्यात् कज्जलं सिंधु पात्रे।
सुरतरुवर शाखा लेखनी पत्रमुर्वी॥
लिखति यदि गृहत्वा शारदा सर्वकालम्।
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

इसी विचार को परवर्ती हिंदी कवि अपने ढंग से इस प्रकार उपस्थित करते हैं :

सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब बनराय।
सात समुद की मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाय॥
(कबीर)

जो गिरिपति मसि घोर उदधि मैं, सुरतरु निज हाथ।
मनकृति दोस लिखै बसुधा भर तऊ नहीं मित नाथ॥
(सूरदास)

अति अपार करता कर करना। बरनि न कोई पावै बरना॥
सात सरग जौ कागद करई। धरती समुद दुहूँ मसि मरई॥
जावत जग साखा बन ढाखा। जावत केस रोव पंखि पाखा॥

जावत खेह रेह दुनियाई । मेघ बूँद है गगन तराई ॥
सब लिखनी कै लिखै संसारा । लिख न जाय मति समुद, अपारा ॥
(जायसी)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीन काव्य में संस्कृत की परंपरा पूर्ण रूप से सुरक्षित हैं। वास्तव में हिंदी के कवियों के सामने संस्कृत और प्राकृत का अपूर्व साहित्य है। उसके प्रभाव से बचकर साहित्य की सृष्टि करना असंभव बात थी। परंतु फिर भी संत और भक्त कवियों ने जो कुछ लिखा वह उनकी अनुभूति का बल पाकर ही मौलिक बन जाता है।

इस प्राचीन काव्य में वैयक्तिक जीवन का चरम आदर्श मिल जाता है। कबीर कहते हैं।

कबीर रोड़ा होइ रहु बाट का तजि मन का अभिमानु ।
ऐसा कोई दासु होइ ताहि मिलै भगवानु ॥
कबीर रोड़ा हुआ त किआ भइआ पंथी कह दुखु देइ ।
ऐसा तेरा दासु है जिउ धरनी महि खेह ॥
कबीर खेह हुई तउ किआ भइआ जौ उर लागै अंग ।
हरिजनु ऐसा चाहीऐ जिउ पानी सरबंग ॥
कबीर पानी हुआ त किआ भइआ सीरा ताता होइ ।
हरिजनु ऐसा चाहीऐ जैसा हरि ही होइ ॥

विनम्रता का यह आदर्श किस देश और किस काल में सर्व-मान्य नहीं रहेगा। इसी प्रकार तुलसी कहते हैं—

कबहूँक हौं यहि रहनि रहौंगो ?
श्रीरघुनाथ-कृपालु कृपा तें संतसुभाव गहौंगो ॥
यथालाभ संतोष सदा काहू सौं कछु न चहौंगो ॥
परहित-निरत निरंतर मन क्रम बचन नेव निवहौंगो ॥
परुष-बचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो ॥
विगत मान, सम सीतल मन, पर गुन नहिं दोख कहौंगो ॥
परिहरि देहजनित चिंता दुखसुख सम बुद्धि सहौंगो ॥
'तुलसीदास' प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो ॥

विजय के रूपक में तुलसी ने इन वैयक्तिक आदर्शों को और भी सुन्दरता से उपस्थित किया है। राम विभीषण से कहते हैं—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना ॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ॥
ईस भजन सरथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना ॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा ॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहिसम बिजय उपाय न दूजा ॥
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहूँ न कतहुँ रिपु ताके ॥
महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर ॥
(लंकाकांड, ८० क)

सूरदास और मीरां के काव्य में हमें नैतिकता के स्वर नहीं

मिलते परंतु उनके पदों में जिस विह्वल प्रेमभक्ति का निरूपण हुआ है उसके लिए श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराण को कितने पृष्ठ रँगने पड़े हैं और कितने रूपकों का आश्रय लेना पड़ा है। उपनिषदों के किस भाव को, ब्रह्मज्ञान के किन तत्त्वों को संतों ने साखियों और पदों में नहीं गूंथ दिया है? यह कहना कठिन है कि उपनिषदों के ऋषि और तत्त्ववेत्ता उतने ही ऊचे साधक थे जितने हमारे मध्य युग के संत। सच तो यह है कि संस्कृत के धर्मशास्त्रों, तत्त्वचिंतन-संबंधी ग्रंथों और पुराणों में जिस नैतिक जीवन, जिस साधन, ज्ञान और भक्ति के समन्वित जिस 'रहनि' का आदेश था, वह हमारे मध्ययुग के साधकों और कवियों के जीवन के भीतर से फूट कर अमर हो गया। इसी से हिंदी का संत और भक्तिसाहित्य सभी तरह अपूर्व है। वह साधना और प्रयोगों की आग में तप कर और उज्ज्वल हो उठा है

केवल मध्ययुग के सामंती काव्य के सम्बन्ध में हम यह नहीं कह सकते। वीरकाव्य और शृंगारकाव्य इस साहित्य के दो पक्ष हैं। इन दोनों क्षेत्रों में संस्कृत काव्य-साहित्य के पास अधिक अच्छी निधि है। हिंदी का वीरकाव्य कुछ चारण कवियों और 'रासो' सरीखे ग्रंथ की परंपरा का पालन मात्र रह गया है। फिर भी अनेक दृष्टियों से वह महत्त्वपूर्ण है और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे मर्मी विद्वानों ने मुक्तकंठ से उसकी प्रशंसा की है। परंतु शृंगारकाव्य के नाम से जो कुछ है वह

बहुत कुछ—लगभग सारा—संस्कृत काव्य-शास्त्र, मुक्तक और साधारण काव्य का अनुकरण मात्र है। १६०० ई० के लगभग हिंदी में शृंगारकाव्य की स्वतंत्र रचनाएँ सामने आने लगती हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र का अनुकरण चला और संस्कृत मुक्तक काव्य को आदर्श बनाकर दोहे—कवित्त-सवैयों की रचना की एक परंपरा चल पड़ी जो १८५० ई० तक बराबर चलती रही। इस बृहद् कवित्त-सवैया-साहित्य में कवियों की प्रेरणा नितांत लौकिक है और वे परंपरागत विषयों, कवि और रूढ़ियों-अलंकारों का ही प्रयोग करते हैं। इस काव्य-साहित्य में फिर भी बहुत कुछ नवीन है, यद्यपि वह हिंदी काव्य-साहित्य को कोई विशेष महत्त्व या श्रेय की वस्तु नहीं देता। शृंगार काव्य की धारा ने हमें कालिदास, भारवि, माथ, हाल अथवा गोवर्धनाचार्य जैसे कवि नहीं दिये। हाल, गोवर्धन और अमरु के मुक्तक काव्यों को आदर्श बना कर विहारी और मतिराम जैसे कवियों ने जो कुछ लिखा वह काफी दूर तक महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत मुक्तक काव्य के अनुकरण में जो कबित्त-सवैया लिखे गये, उनके सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इन शृंगारिक कवियों ने कथा का आश्रय नहीं लिया और जहाँ 'रामचंद्रिका' के कवि की तरह वह विशिष्ट कथा को लेकर भी चले वहाँ भी वे सफल नहीं हुए। वस्तुतः हमें हिंदी रीति-काव्य को कालिदास के समय से चले आते हुए सामंती काव्य की परिणिति समझनी चाहिए और प्रत्येक काव्य-

धारा की परिणिति की भाँति उसमें अनुकरण और अनेक ह्रास-मूलक प्रवृत्तियों की ही प्रधानता मिलेगी। अनेक ग्रंथ प्राचीन ग्रंथों के छायानुवाद अथवा भावानुवाद हैं और उनमें अपना कुछ भी नहीं था अथवा जो कुछ है, वह महत्त्वपूर्ण नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन हिन्दी काव्य में जहाँ उपनिषदों के रहस्यज्ञान, ब्रह्मवाद और नैतिक आदर्शों की परिणिति है, जहाँ उसमें धम्मपद के नीतिपरक सम्यक् जीवन के आदर्श का विकास है, जहाँ गीता और भागवत के जीवनरत और भक्त के सर्वोत्तम उद्‌गार हैं, जहाँ भक्ति-योग, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार के संबंध में सुन्दर विवेचना है, वहाँ यह काव्य उपनिषदों के समय से सतत विकसित और वर्द्धमान भारतीय सांस्कृतिक धारा की सब से सुन्दर परिणिति है। रामानंद, गोरखनाथ, कबीर तुलसी, सूर, दादू और मीरां जैसे साधकों ने पूर्व की सारी साधना-धाराओं और परंपराओं को आत्मसात कर लिया है और उनका बल पाकर मध्ययुग की आध्यात्मिक साधनाएं एक बार फिर नई दीप्ति से भासमान हो उठी हैं। शृंगारकाव्य की धारा को न उच्च श्रेणी के आश्रयदाता मिले, न प्रतिभावान कवि। वह अनुकरण तक ही सीमित रहे। मुग़लकालीन विलासिता की छाप से दूषित, युग की ह्रसमूलक प्रवृत्तियों से जड़ित हिन्दी का शृंगारकाव्य यदि आज हमें किसी प्रकार की प्रेरणा नहीं देता तो फिर आश्चर्य की बात ही क्या हैं?

परन्तु परवर्ती काव्य के लिये किसी भी पूर्ववर्ती परंपरा को एकदम अस्वीकार कर देना कठिन बात है। शृंगार काव्य चाहे बुरा हो या भला, इसमें संदेह नहीं कि लगभग ३०० वर्षों की इस साहित्य-परंपरा से प्रभावित न होना कठिन था। आधुनिक कवि ने उसके विरोध से आरंभ किया। 'पल्लव' की भूमिका में पंत ने और 'परिमल' की भूमिका में निराला ने रीतिकालीन परंपरा के विरुद्ध आवाज़ उठाई, परन्तु उनकी रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि नारी के संबंध में उनकी भावना उतनी ही बलवती थी, फिर चाहे वह स्थूल के बदले सूक्ष्म और 'ज्योति की तन्वी' भले ही हो और उनकी कला में रीतिकालीन कवियों का कौशल भी पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है। रीति काव्य हमारा लौकिक काव्य है। इस काव्य में कवि परलोक के सपने से नीचे उतर कर इसी पृथ्वी के धरातल पर विचरण करने में ही संतोष समझता था। आधुनिक काव्य भी पृथ्वी की ओर देखता है। वह अध्यात्म और धर्म के पचड़े में नहीं पड़ना चाहता। इस प्रकार वह एक तरह से रीतिकाव्य की भूमि पर ही प्रतिष्ठित है—या यों कहना चाहिये, उसी का युगानुसार नवीन प्रसार है। यह आवश्यक है कि हम विभिन्न काव्य-धाराओं में निश्चित परंपराओं का विकास देखें और उन्हें एकदम विच्छिन्न और स्वतंत्र आंदोलनों के रूप में ग्रहण नहीं करें। इस प्रकार जहाँ हम अपनी काव्यधाराओं में संग्रहीत भावनाओं और विचारधाराओं में पूर्वापर संबंध की स्थापना कर सकेंगे,

वहाँ पूर्ववर्ती संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य एवं सम-सामयिक देशी भाषाओं के साहित्य से भी उनका सम्बन्ध जोड़ सकेंगे।

प्राचीन काव्य-साहित्य में चार मूल भावनाओं की प्रधानता मिलती है—भक्ति, वैराग्य, शृंगार, और वीर भावना। बहुधा किसी एक प्रकार के साहित्य में ये भावनाएँ शुद्ध रूप में नहीं मिलेंगीं। भक्तिकाव्य में भक्ति और शृंगार का मिश्रण भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इसी प्रकार संत-साहित्य में जहाँ वैराग्य-भावना है, वहाँ निर्गुण के प्रति भक्ति भी है। हिंदी का प्राचीन वीरकाव्य शृंगार की भावना पर आश्रित है। इस प्रकार हिंदी के पुराने साहित्य में हमें उपरोक्त भावनाएँ कभी शुद्ध और कभी मिश्रित रूप में मिलेंगी। हिंदू राष्ट्रों की पराजय इतनी शीघ्रता से हुई कि जातीय वीरकाव्य के निर्माण के लिए समय ही नहीं मिला। मध्ययुग के अंत में हमें सूदन, भूषण और गुरु गोविंदसिंह के रूप में जातीय वीरता का गान करने वाले कुछ कवि अवश्य मिल जाते हैं, परंतु उनकी संक्या बहुत कम है। राष्ट्रीय वीरभावना का तो एकदम अभाव है क्योंकि मुसलमानों के आने के बहुत पहले ही हिंदू राष्ट्र-भावना से हाथ धो बैठे थे। मुग़लों के समय में कुछ काल तक सारा उत्तर-दक्षिण भारत एकछत्र सम्राटों के शासन में रहा, परंतु राष्ट्रीय भावना का पुनरुद्धार नहीं हुआ। पराजित हिंदू तीर्थयात्राओं और संकल्प मंत्रों में अवश्य

भारत को एक राष्ट्र मानते रहे। नये साहित्य में ये चारों भावनाएँ हैं परंतु इनका रूप बदल गया है। आजकल भक्ति और वैराग्य को कविता का विषय अधिक नहीं बनाया जाता और इन्हें काव्य का विषय बनाकर जो कुछ लिखा भी जाता है उसका साहित्यिक रूप और साहित्यिक महत्व बहुत कम होता है। शृंगार और वीर भावनाएँ कभी प्रकट और कभी अप्रकट रूप में एक बड़ी मात्रा में मिलेंगी परंतु आलंबन के रूप और भाव-प्रकाशन की शैली में महान् अंतर है।

अंतर कहाँ है, यह देखना भी अनुचित नहीं है। प्राचीन-काव्य-साहित्य में नायिका के रूपवर्णन, प्रेम और विरह और केलि-विलास के स्थूल चित्रण मिलेंगे। जो कुछ मिलेगा उसमें रीतिशास्त्र को अनुभूति के ऊपर रखा गया होगा। आधुनिक प्रेमकाव्य में न नखशिखवर्णन को स्थान मिला है, न केलिविलास को। प्रेमी-प्रेमिकाओं के भावनाजगत और उनके मनोभावों के सूक्ष्म वैज्ञानिक चित्रण की ओर ही कवियों की दृष्टि अधिक है। आज दूती, अभिसार, विपरीत रति, सुरतारंभ और सुरतांत का वहिष्कार हो गया है। कवि की दृष्टि हाव-भाव से हटकर प्रेमी की तन्मयता, आत्म-बलिदान की भावना और समर्पण के उत्साह पर ही अधिक जाती है। वीर-भावनामूलक उत्साह का रूप भी बदल गया है। उसमें भी कष्टसहन और आत्मोत्सर्ग की भावनाओं को ही प्रधानता मिली है। प्राचीन वीरकाव्य युद्ध के यथार्थ चित्रण पर

आश्रित है परंतु नये कवि को ऐसे वीरनायक चित्रित करना नहीं होता जो युद्ध-व्यसायी हैं या शस्त्र उठाकर आत्म-रक्षा के लिए उतरते हैं। आज के वीरकाव्य का रूप राष्ट्रीय है। उसके मूल में आत्मबलिदान की भावना है। पिछले अहिंसात्मक जनांदोलनों ने खड्ग, रक्तपात और प्रतिहिंसा को काव्य के क्षेत्र से बाहर निकाल दिया है। इसलिए वीरकाव्य के लिए उस प्रकार के अनुप्रास-प्रधान काव्य की आवश्यकता नहीं रही जो भूषण और सूदन ने हिंदी को दिया है।

अनेक नई भावनाओं के भी दर्शन हुए हैं। नये काव्य में देश के प्रति भक्ति और प्रेम, जातीय और राष्ट्रीय वीरों की गुण-गाथा का गान, अपनी पतित दशा पर शोक, नारी-स्वतंत्रता के गीत, व्यक्ति की आशा और निराशा, प्रकृति के प्रति आकर्षण और प्रेम, रहस्यमयी सत्ता की अनुभूति, प्रतिदिन के दैनिक जीवन का विश्लेषण, राष्ट्रीय और जातीय समस्यायें प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं। नवीन परिस्थितियों ने काव्य के लिए नये विषय दिये हैं। पूर्वमध्ययुग में हमारे काव्य-साहित्य को भक्ति की धार्मिक भावना ने बाँध रखा था, उत्तर मध्ययुग में उसे संस्कृत आचार्यों के रीतिशास्त्रों के विधि-विधानों ने जकड़ लिया था। अब पहली बार वह व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र के अंतस्तल को छूने लगा है और अंतराष्ट्रीय भावनाएँ भी कभी-कभी उसे स्पंदित कर दिया करती हैं।

क्षेत्र की व्यापकता और विविधता के साथ नये काव्य में रसदृष्टि में भी परिवर्तन मिलता है। नया काव्य नवरसों को ही जीवन में नहीं ढूँढ़ता। जीवन में नवरसों का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु इनके परे भी बहुत कुछ है। नया काव्य उसे ही खोज रहा है। प्राचीन और नवीन काव्य में जो एक अंतर अत्यंत स्पष्ट है वह यह है कि प्राचीन काव्य रसधर्मी अधिक है। उसमें बौद्धिक तत्त्व अधिक नहीं हैं। नवीन साहित्य बुद्धि पर आश्रित है परन्तु हृदय को साथ लेकर आगे बढ़ता है। वह हृदय और मस्तिष्क में संतुलन स्थापित करने की चेष्टा कर रहा है यद्यपि वह अभी हृदय की अपेक्षा मन के अधिक निकट है। जो हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि नये काव्य का आलंबन भौतिक ही अधिक है और इसीसे वह बौद्धिक तत्त्व को स्थान देने में समर्थ हुआ है। उसके मूल्यांकन के लिए हमें नये सिद्धांत गढ़ना पड़ेंगे जिनमें हृदय और बुद्धि के तत्त्वों का सामंजस्य हो। प्राचीन काव्य की कई धाराएँ अब भी उसके भीतर चल रही हैं परन्तु हृदयधर्म की अपेक्षा बुद्धिधर्म की अधिक प्राधानता के कारण उनका रूप ही बदल गया है। उदाहरण-स्वरूप, वैष्णव-काव्यधारा की राम-कृष्णपरंपरा आज भी चल रही है, परन्तु आज के रामकृष्ण-काव्य में भक्ति गौण है, चरित्र-चित्रण, नये मूल्यों के अनुसार कथानक का नवीन संगठन और इसी प्रकार की बुद्धिमूलक बातें अधिक हैं।

ऊपर जो लिखा गया है, उससे हिन्दी कविता की एक संक्षिप्त रूपरेखा तैयार हो जाती है। यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी प्राचीन कविता मुख्यतः आध्यात्मिक थी। सन्तकाव्य और भक्तिकाव्य प्राचीन हिन्दी कविता के सबसे पुष्ट अंग हैं और निश्चय रूप से इनकी प्रेरणा आध्यात्मिक है। लौकिक काव्य के रूप में रीतिकाव्य हमारे सामने आता है, परन्तु उसमें जीवन का सीधा संपर्क स्थापित नहीं हो सका है। जीवन को शास्त्रनिधि और प्राचीन काव्यों के भीतर से देखने की एक परंपरा चल पड़ी है। आधुनिक काव्य न तो अध्यात्मवादी है, न शास्त्र-धर्मी। वह अपने समय के लोकजीवन और व्यक्ति के सुख-दुःख को पूर्णतः पकड़ कर चलना चाहता है। इसी से देशभक्ति, समाजनीति, व्यक्तिवाद और सामयिकता के स्वर आधुनिक काव्य की विशेषता हैं। धीरे-धीरे उसका अपना अलग व्यक्तित्व संगठित हो गया है। उसने प्राचीन काव्य से अनेक उपकरण इकट्ठे किये हैं, परन्तु उसने प्रेरणा, प्राण और शैली के लिए पश्चिम को देखा है। वह जीवन से न पलायन करता है, न उसे अध्यात्माभिमुख कर देना चाहता है। वह उसे पूर्णतः स्वीकार करना और हो सके तो बदलना चाहता है। उसके अपने युग के अनुसार उसके अपने प्रतीक हैं, अपने छंद हैं, अपनी मूर्तिमत्ता है।

भविष्य में क्या होगा, निःसंदिग्ध रूप में यह कहना कठिन है। परन्तु आधुनिक हिन्दी कविता की गतिविधि देखते हुए

यही कहना पड़ता है कि हम अभी उसके बालकाल में ही हैं। १६०० ई० से १६२५ ई० तक का समय भाषा-संस्कार का समय है। वास्तव में द्विवेदीयुग में काव्य कही जानेवाली चीज़ अधिक नहीं है, जो है वह अधिकतः इतिवृत्तात्मक और गद्यात्मक है। केवल मैथिलीशरण गुप्त का काव्य ही काव्य की कोटि में आता है। पंत, निराला और प्रसाद के काव्य में भाषा-संस्कार और छंदों का अन्वेषण भी पर्याप्त मात्रा में है। अब भापा-शैली और छंदों के क्षेत्र में भी काफ़ी प्रयोग हो चुके हैं। नये कवि को इस दिशाओं में अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। परन्तु अभी कोई ऐसा कवि सामने नहीं आया है जिसकी वाणी जनता का कंठहार हो जाये। शीघ्र ही ऐसा कवि आयेगा, ऐसी आशा है। भाषा, छंद और शैली के क्षेत्र में जो तैयारी हो चुकी है, वह इसी की सूचक है, परंतु वह कवि जब आयेगा तभी हम खड़ी बोली की वास्तविक सामर्थ्य को जान सकेंगे। सूरदास और तुलसीदास से ही हम ब्रजभाषा और अवधी की सामर्थ्य को जान सके। लगभग १५०-२०० वर्ष पहले इन भाषाओं में कविता का आरंभ हो चुका था। नामदेव, कबीर, नानक और जायसी की भाषा में चाहे सूर-तुलसी की सुषमा नहीं हो, परन्तु वे न होते तो इन महाकवियों के लिए इतना सुन्दर काव्य उपस्थित करना असंभव ही हो जाता। नए काव्य के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। अभी खड़ी बोली का कविता को ५० वर्ष ही तो हुए हैं। कौन कहता है कि अगले ५० वर्षों में खड़ी

बोली अपने सूर-तुलसी हमें नहीं दे सकेगी ? पिछले २०-२५ वर्षों में उसने हमें जो दिया है, वह कम नहीं है। नई प्रवृत्तियाँ अनेक दिशाओं में काव्य को आगे बढ़ा रही हैं। इसमें सतर्कता की आवश्यकता है, परन्तु चिन्ता की कोई बात नहीं है। देश की स्वतंत्रता के बाद खड़ी बोली का काव्य अन्य प्रांतीय भाषाओं और संसार के सम्मुख आया है। बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। ये आशाएँ व्यर्थ नहीं जायेंगी। नये काव्य के माध्यम से ही हम अपनी संस्कृति और अपने साहित्य का सब से सुन्दर उपहार पश्चिम को भेंट करेंगे। अभी इस नये काव्य को आयु के सत्तर वर्ष से अधिक नहीं मिले हैं। परन्तु इन सत्तर वर्षों में वह भारतेन्दु युग के कवियों की तुकबंदी से लेकर पंत, प्रसाद और महादेवी के अपार वैभव तक पहुँच गया है। अभी भी उसका किशोर-कंठ भली भाँति फूटा नहीं है। फिर भी उसमें इतना कुछ हो गया है कि संसार के आधुनिक काव्य-साहित्य में उसे गौरवपूर्ण स्थान मिल सकता है। यह क्या गर्व की बात नहीं है ?